आर्यों का आदि निवास : मध्य हिमालय

भजनसिंह 'सिंह'

रचना प्रकाशन

५, खुसरोबाग रोड, इलाहाबाद–१

प्रथम संस्करण १९६८

प्रकाशक

जीत मल्होत्रा
रचना प्रकाशन
इलाहाबाद

आवरण

शिव गोविन्द पाण्डेय

मुद्रक

सुपरफ़ाइन प्रिंटर्स,
इलाहाबाद-३

मूल्य :
सोलह रुपये

पुस्तक के सम्बन्ध में

मानव के मूल वंश और उसके आदि निवास पर अनेक विद्वान् फुटकर लेखों तथा पुस्तकाकार रूप में अपने विचारों को अध्येताओं के समक्ष प्रस्तुत कर चुके हैं। आज भी यह क्रम जारी है। फलस्वरूप इस विषय पर अनेक भाषाओं में विभिन्न पुस्तकें प्रकाश में आ चुकी हैं। कुछ विद्वानों ने अपनी पूर्व स्थापनाओं की अपरिपक्वता का अनुभव कर बाद में स्वयं ही उनका निराकरण कर दिया है। कुछ विद्वानों के अभिमतों का अन्य विद्वानों ने सयुक्तियुक्त खण्डन कर अपना नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। पुरातात्विक उत्खननों और अनुसन्धान कार्यों के द्वारा जो नयी प्रमाण-सामग्री प्रकाश में आ रही है उसको आधार बना कर इस विषय पर आज भी विद्वानों के, पूर्वापेक्षया सर्वथा नये-नये विचार देखने को मिल रहे हैं। इस प्रकार मानव के मूल वंश और उसके आदि निवास का यह विषय आज भी विद्वानों की विचारणा का केन्द्र बना हुआ है।

इस विषय की पुस्तकों का अध्ययन करने पर विशेष ध्यान देने योग्य यह बात देखने को मिलती है कि प्रत्येक देश तथा क्षेत्र के विद्वानों ने बहुधा अपने देश तथा क्षेत्र को वरीयता देने की दिशा में अपने सारे प्रयत्नों को केन्द्रित किया है। पक्षपात और मोह की इस भावना ने स्वीकृत सर्वमान्य तथ्यों को दबा दिया है, जिससे विषय की जटिलता बढ़ती ही जा रही है और पाठकों तथा अध्येताओं को एक निष्कर्ष पर पहुँचने में कठिनाई का अनुभव हो रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक '**आर्यों का आदि निवास : मध्य हिमालय**' यद्यपि उक्त अपवाद से अछूती नहीं है; फिर भी उसके सम्बन्ध में बल देकर यह कहा जा सकता है कि कोई भी विद्वान् उसकी यथार्थता को सहसा अस्वीकार नहीं कर सकता है। अब तक अनेक विद्वान् यह स्वीकार कर चुके हैं कि मध्य हिमालय आर्यों का आदि निवास या आदि देश रहा है। किन्तु वेदों, वैदिक साहित्य तथा पुराणों और महाकाव्यों आदि के उल्लेखों के अनुसार भौगोलिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से सुविस्तृत मध्य हिमालय का कौन-सा भू-खण्ड मानव-सृष्टि का आदि स्रोत रहा है, इसका सयुक्तियुक्त उत्तर अभी तक नहीं मिल पाया है। प्रस्तुत पुस्तक में इस शंका का सविस्तार समाधान किया गया है।

इस पुस्तक में अधिकृत विद्वानों की युक्तियों तथा मतों का अनुशीलन करके निष्पक्ष रूप से मौलिक प्रमाण-स्रोतों के आधार पर अपने मत की स्थापना की गयी है। पुस्तक में प्रत्येक बात को सुलझा कर स्पष्ट रूप में रखने का प्रयत्न

किया गया है। पुस्तक की सर्वश्रेष्ठ विशेषता यह है कि प्रत्येक मन्तव्य की स्थापना के लिए मूल ग्रन्थों की प्रमाण सामग्री को आधार बनाया गया है। धर्म और अध्यात्म की मूल प्रेरणा के साथ-साथ इतिहास, भूगोल, पुरातत्व और परम्परागत मान्यताओं के भौतिक आधारों को प्रमाण रूप में सम्मिलित किया गया है। इस दृष्टि से पुस्तक की सर्वांगीणता उल्लेखनीय है।

इस पुस्तक के लेखक श्रद्धेय श्री 'सिंह' जी एक अध्ययनशील व्यक्ति हैं। यद्यपि अपने क्षेत्र के लोकप्रिय कवि के रूप में वे पिछले तीन दशकों से सुपरिचित हैं, तथापि भ्रमण प्रिय और जिज्ञासु होने के कारण इतिहास-भूगोल भी उनके प्रिय विषय रहे हैं। पुराण-ग्रन्थ उनकी प्रेरणा के मुख्य स्रोत हैं। कविरूप में उनकी अनेक कृतियाँ अब तक प्रकाश में आ चुकी हैं; किन्तु इतिहास पर उनकी यह प्रथम पुस्तक है। अपने क्षेत्रीय जन-जीवन के परम्परागत मौखिक रूप में सुरक्षित एवं अलिखित इतिहास के वे स्वयं ही एक जीवित इतिहास हैं। इस दृष्टि से उनकी यह पुस्तक सामान्यतया समस्त हिन्दी-जगत् के लिए और विशेष रूप से उत्तराखण्ड के आध्यात्मिक, धार्मिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक जीवन की उपलब्धियों की जानकारी प्रस्तुत करने की दृष्टि से अपूर्व एवं उल्लेखनीय है।

पुस्तक का सामान्य उद्देश्य प्रत्येक पाठक एवं अध्येता को विषय की प्रामाणिक जानकारी देना है। किन्तु विशेष रूप से वह विश्वविद्यालयों के स्नातक तथा स्नातकोत्तर छात्रों के लिए लिखी गयी है। केन्द्रीय सरकार तथा प्रादेशिक सरकारें और स्वयं विश्वविद्यालय, विश्वविद्यालयीय स्तर की मौलिक पाठ्य पुस्तकों के निर्माण की दिशा में सचेष्ट हैं। इस दृष्टि से भी यह पुस्तकछात्रों एवं सामान्य अध्येताओं के लिए लाभदायी तथा उपयोगी सिद्ध होगी। विश्वास है कि हिन्दी में इस विषय की पुस्तकों के अभाव को पूरा करने में भी यह पुस्तक सहायक सिद्ध होगी।

—वाचस्पति गैरोला

भूमिका

मेरे मित्र श्री भजनसिंह 'सिंह' ने **'आर्यों का आदि निवास : मध्य हिमालय'** पुस्तक लिखी है। मुझे उसे पढ़ने का अवसर मिला है। इतिहास का यह विषय जहाँ एक ओर बहुत-कुछ अस्पष्ट है, वहाँ दूसरी ओर वह अत्यधिक विवादस्पद भी रहा है। यह बड़े खेद और आश्चर्य की बात है कि हम भारतवासी अपने आप को जिन आर्यों का वंशज मानते हैं, अभी तक उनके बारे में यह निर्णय भी नहीं कर पाये हैं कि उनका मूल स्थान कहाँ था। जहाँ एक ओर कुछ इतिहासकारों ने उत्तरी ध्रुव तथा मध्य एशिया को आर्यों का आदि देश घोषित किया है, वहाँ मैक्समूलर आदि कतिपय सुप्रसिद्ध यूरोपियन प्राच्यविद्या-विशारदों ने इस आशय के विचार अंकित किये हैं कि ईरानी और फारसी लोग उत्तर भारत से ही पश्चिमोत्तर प्रदेशों की ओर अग्रसर हुए थे। इसके अतिरिक्त कुछ इतिहास-लेखक हमारे देश में ही पंजाब एवं कुछ लेखक मध्य एशिया को आर्यों का आदि देश मानते हैं।

मेरे मित्र श्री 'सिंह' जी ने इन अनेक मतों का विवेचन करके अनेक विद्वानों एवं इतिहासकारों के उद्धरणों के द्वारा इस पुस्तक में बड़े परिश्रम के साथ जो तथ्य प्रस्तुत किये हैं, वे गंभीर विचार के योग्य हैं। अपने दृष्टिकोण के प्रतिपादन के लिए उन्होंने अनेक भारतीय एवं विदेशी प्राच्यविद्या-विशारदों के कथन प्रस्तुत किये हैं। इसके साथ ही अनेक पुरातत्वविदों एवं भूगर्भवेत्ताओं तथा नृवंशशास्त्रियों के उद्धरणों को भी अपने मत के प्रतिपादन में उन्होंने प्रस्तुत किया है। अतः मैं निःसंकोच अपनी यह सम्मति अंकित कर सकता हूँ कि श्री 'सिंह' जी ने इस विवादास्पद स्थिति पर जो नया प्रकाश डाला है, उस पर अवश्य ही इतिहास के जिज्ञासुओं एवं विद्वानों को गंभीरता के साथ विचार करना चाहिए।

मुझे विश्वास है कि इतिहासकारों तथा विद्वानों के अतिरिक्त बदरी-केदार क्षेत्र के यात्रियों एवं उत्तराखण्ड के पर्यटकों के लिए भी यह पुस्तक खूब उपयोगी सिद्ध होगी। साथ ही इस विषय के छात्रों एवं शोधकर्ताओं के लिए वह नयी प्रेरणा का स्रोत बनेगी। मैं ऐसी सुन्दर पुस्तक की रचना करने के लिए अपने साथी श्री 'सिंह' जी को हार्दिक बधाई देता हूँ और उनकी उत्तरोत्तर सफलता के लिए अपनी शुभकामनाएं अंकित करता हूँ।

१७ अप्रैल, १९६८

उपमंत्री
परिवहन तथा नौवहन मंत्रालय, भारत
(भूतपूर्व शिक्षा उपमंत्री, भारत)

विषय-सूची

●

———

प्राक्कथन

सृष्टि में सर्व प्रथम आज से लगभग दस लाख वर्ष पूर्व, प्रथम बार समुद्र-गर्भ से जिस निर्गुण निराकार ब्रह्म का साकार रूप में आविर्भाव हुआ उसी का नाम वेदों और पुराणों में हिमवन्त है। हिमालय की प्राचीनता मानव द्वारा कल्पित इतिहास की तिथियों से बाहर की वस्तु है। हिमालय की कहानी मनुष्य जाति के आविर्भाव और उसके क्रमिक विकास की कहानी है। भूगर्भ-शास्त्रियों का कथन है कि आज से लगभग दस लाख वर्ष पूर्व मानव और हिमालय एक साथ ही अस्तित्व में आये। उसी के समशीतोष्ण भू-भाग में सबसे प्रथम वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। या औषधीः पूर्वा जाताः (ऋ० १०,९७,१)। इसीलिए विश्व के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में आर्य ऋषियों ने **'यस्य मे हेमवन्तो महित्वा आहुः हिमेनाग्नि हिमेववाससो, हिम्वानान् हविष्मान गिरिर्यस्ते पर्वता हिमवन्तारण्यते पृथिवी स्योनमस्तु'** कह कर हिमालय का स्तवन किया है। हिमालय की प्राचीनता के सम्बन्ध में इसीलिए केदारखंड में शिव जी कहते हैं :

पुरातनोऽयथाहं वै तथा स्थानमिदं किल।
यदा सृष्टि क्रियामात्रं मया वै ब्रह्ममूर्तिना॥
स्थितं तत्रैव सततं परब्रह्म जिगीषया।
तदादिकमिदं स्थानं देवानामपि दुर्ल्लभम्॥

जैसे मैं सबसे प्राचीन हूँ उसी प्रकार यह केदारखंड भी सबसे प्राचीन है। जब मैं ब्रह्ममूर्ति धारण कर सृष्टि—रचना में प्रवृत हुआ, तब मैंने इसी स्थान में सर्व प्रथम सृष्टि-रचना की।

मध्य हिमालय मानव जाति का उत्पत्तिस्थल और आर्य संस्कृति का आदि

स्रोत है। आर्य साहित्य में इसके आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक महत्व से ओत:प्रोत है।*

वेदों और पुराणों में, रामायण और महाभारत में, हिमवन्त की समस्त गौरवगाथा स्पष्टत: मध्य हिमालय के उस भू-भाग पर केन्द्रित है, जो अलकनन्दा और गंगा का उद्‌गमस्थल है और जिसका वर्तमान नाम गढ़वाल है।

प्राचीन आर्य मनीषियों द्वारा पूजित वह देवतात्मा नगाधिराज आर्यावर्त्त के उत्तर में मानदंड की भाँति कश्मीर से असम तक चला गया है, परन्तु आर्य साहित्य में जिस हिमवन्त का आर्य ऋषियों द्वारा बार-बार स्तवन किया गया है, हिमवन्त की अन्तरात्मा जिस पावन प्रदेश में प्रतिष्ठित है, वह मध्य हिमालय में, हरिद्वार से ऊपर शिवालिक पर्वतमाला से लेकर मानसरोवर तक का भू-भाग है, जहाँ स्वर्गलोक से देवनदी गंगा की धारा पृथ्वी पर उतरी है।

हरिद्वार से ऊपर इस गिरिप्रदेश में ऋग्वैदिक आर्यों की सप्तसिन्धु सरस्वती, अलकनन्दा, धवली, नदागिनी, पिंडर, मंदाकिनी और नयार सात देवनदियाँ

*** महाभारत, वन पर्व**

ऋग्वेद २।३३।१०, ७।४६।१, १०।१२१।४, १०।१४।१२; **बृहदारण्यक उपनिषद्** ६।१।३; **अथर्ववेद** ६।२४।१, १२।१।११; **केनोपनिषद्** ३।१२; **महाभारत आदि पर्व** १०।१८, ७०।२१, ११४।२४, ११८।४८; **सभापर्व** २७।२९; **वनपर्व** ५०८।३।११, १४०।२४, १४१।११, १४२।६, १४५।१३ १५८।१८; **उद्योगपर्व** १११।५; **द्रोणपर्व** ८०।२३, १२१।४२; **शल्य०** ४५।१४; **शांति०** ५९।११८, १६६।३२, ३२७।२, ३४२।१२२; **आश्रम** ३७।३३; **महा०** २।१; **आदिपुराण पर्व**, ३२; **मत्स्य पु० अ०** १५६; **महा शिवपुराण (पार्वतीखंड) शिवपुराण, रुद्रसंहिता** १९।१, १९।१३; **वायु अ०** ३०, ४७।१११; **ब्रह्मपुराण अ०** ३४–३९, ७१–७५, २०४।५,६; **नारदीय अ०** १०, ३९–४३, ६७; **ब्रह्मवैवर्त अ०** १०, १०४–१२०, ३८–४६, ११४–११८ **स्कन्ध माहेश्वर-खंड और वैष्णवखंड लिंग० अ०** ४८, ५०, ९९—१०६; **वामन अ०** १७–२१; **कूर्म अ०** ३७; **हरिवंश, भविष्य अ०** ७३–८५; **देवीपुराण केदार महात्म्य, मार्कंडेय अ०** ५१–५७; **वराह अ०** २१–१५, १४१–१४६; **अग्नि अ०** १०८–११०; **पद्म सृष्टिखंड अ०** ४०; **स्वर्गखंड** १–६ **अ०** १६; **उतरखंड अ०** २–३, २१–२२, **अ०** ८२।

वाल्मीकि रामायण, बालकांड ५५।१२, १३, **उत्तर०** १३।११, १६।८ ८७।१२; **मेघदूत, पूर्वमेघ** ६०-६२; **कुमारसम्भव, अभिज्ञानशाकुन्तल, रघुवंश, विक्रमोर्वशीय**।

तथा ऋषिगंगा, रुद्रगंगा, कंचनगंगा, विष्णुगंगा, पातालगंगा, आकाशगंगा, वाराही-गंगा, मधुगंगा, क्षीरगंगा, गणेशगंगा, गरुड़गंगा आदि अनेक नदियाँ भी यत्र-तत्र अलकनन्दा में सन्धि करती हैं। अतः हरिद्वार से ऊपर मानसरोवर तक अलक-नन्दा के इस तटवर्ती उपत्यका को ऋग्वेद में सप्तसिन्धु देश कहते थे। तब तक समुद्र गर्भ में विलीन आर्यावर्त्त का कोई अस्तित्व नहीं था। ऋग्वेद में अल्मोड़े की सरयू और गोमती का भी उल्लेख है। इससे यद्यपि यह भी प्रमाणित होता है कि हरिद्वार से दक्षिण और पूर्व में तराई समुद्र से ऊपर, कुमाऊँ के पर्वतीय क्षेत्र में भी आर्यवस्तियाँ थीं; परन्तु यह निर्विवाद है कि गंगाद्वार हरिद्वार से लेकर मानसरोवर तक, अलकनन्दा और मन्दाकिनी की उपत्यका ही आर्य जाति की मुख्य क्रीड़ास्थली रही है। कनखल और हरिद्वार के आस-पास में प्रथम आर्यनरेश दक्ष प्रजापति, मनु और मनुपुत्रों, राजा बेणु आदि के प्राचीन अवशेषों से इस क्षेत्र की ऐतिहासिक प्राचीनता प्रमाणित है। हिमालय की तलहटी में, जहाँ आज सघन वनों से अच्छादित है, प्राचीन सभ्यताओं के अवशेष हैं—कनिंघम।

सप्तसिन्धु के इस क्षेत्र में हरिद्वार से नीचे, विन्ध्याचल पर्वत तक एवं दक्षिण-पूर्व में जिला नैनीताल के नीचे तराई भावर का समस्त समतल प्रदेश समुद्र-गर्भ में था। इसके उत्तर में मानसरोवर के उस पार, भोट प्रदेश में भी प्राचीन काल में समुद्र का अस्तित्व था, क्योंकि आज से ८०, ९० वर्ष पूर्व गढ़वाल अपने उत्तर में स्थित भोट देश के नमक पर निर्भर रहता था। भोट से भोटिया लोग अपनी भेड़ों के ऊपर नमक लाद-लाद कर इस प्रदेश में नमक का व्यापार करते थे। केदारखंड के रचयिता को सप्तसिन्धु के दक्षिण में हरिद्वार से नीचे तथा उत्तर एवं पूर्व में स्थित इन समुद्रों का ज्ञान था। केदारखंड में लिखा है कि हरिद्वार क्षेत्र में गंगा के पश्चिम तट पर कुशावर्त तीर्थ के नीचे, 'सप्तसामुद्रिक' नामक पवित्र तीर्थ है। प्राचीन काल में इस स्थान पर सात समुद्रों ने आकर शिव जी की आराधना की थी। केदारखंड में दो बार इस 'सप्तसामु-द्रिक' तीर्थ के उल्लेख से यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल में हरिद्वार के इस तीर्थस्थल तक समुद्र था :

गंगायाः पश्चिमे कूले कुशावर्तादधः शरे।
सप्तसामुद्रिकं नाम तीर्थं परम पावनम्॥
पुरा तत्र समुद्रैश्चाराधितो भगवान् शिवः।
समुद्रेश्वरो महादेव सर्वकामफलप्रदः॥
११५।२।३।४

सप्तसामुद्रिकं नाम तीर्थं विष्णुसलोदकम्॥
१२१।१८

सप्तसिन्धु और विन्ध्य पर्वत के बीच तराई का यह समुद्र-तल उस युग में अनेक भौतिक उथल-पुथलों का केन्द्र था। उसके प्रलय-जल से, आकस्मिक बाढ़ों से, छः मन्वन्तरों के रूप में छः बार सप्तसिन्धु की अधिकांश आर्य बस्तियाँ जलमग्न हो चुकी थीं। सातवीं बार जब सप्तसिन्धु के इस दक्षिण गिरिप्रदेश में वैवस्वत मनु का राज्य था, पुनः यह समुद्र किसी अन्तःभौतिक विप्लव से, दक्षिण से उत्तर गिरि प्रदेश की ओर प्रलय रूप धारण कर उमड़ पड़ा। उसके कारण लगभग चार हजार फुट तक अलकनन्दा उपत्यका जलमग्न हो गई। आर्य शरणार्थी सप्तम मनु के नेतृत्व में सप्तसिन्धु की उत्तरी सीमा पर सरस्वती नदी के उन्नत तटवर्ती प्रदेश में जा बसे। इस जलप्लावन में सप्तसिन्धु का यह पावन प्रदेश जो समुद्र-गर्भ से ऊपर रह गया था और जिसने अशरण-शरण बन कर आर्यों को शरण दी, आर्यों का यज्ञदेश एवं देव–निर्मित देश 'ब्रह्मावर्त्त' कहलाया (तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते)। आर्य मनीषियों को यह देश इतना अधिक प्रिय था कि उन्होंने इसको 'योनि देव कृतं' (ऋ० ३,३३,४) कहा है। महाभारत और पुराणों में भी इसको स्वर्गभूमि कहा गया है (गंगाद्वारोत्तरं विप्र स्वर्गभूमिस्मृताःबुधैः)। यह स्वर्गभूमि हरिद्वार से लेकर मानसरोवर तक उत्तरगिरि, अन्तरगिरि और दक्षिणगिरि के नाम से तीन भागों में विभाजित थी। इसलिए इसको 'त्रिविष्टप' भी कहते थे। एक भाग का अधिपति विष्णु, एक का ब्रह्मा और एक का अधिपति इन्द्र था। महाभारत (आदि १६६।२२,४) में लिखा है कि जिस पावन प्रदेश में गंगा का नाम अलकनन्दा है, वही स्वर्गभूमि है। गंगा त्रिविष्टप में बहती थी, इसलिए त्रिविष्टप को स्वर्ग और अलकनन्दा को 'त्रिपथगा' कहा गया है। ऋग्वेद के नदीसूक्त में अलकनन्दा को ही तीनों लोकों में बहनेवाली 'सिन्धु' कहा गया है।

सरस्वती नदी का यह तटवर्ती क्षेत्र ऋग्वेद काल में आर्य ऋषियों और ब्रह्मवेत्ताओं का प्रमुख अध्ययन केन्द्र रहा है। ऋग्वेद मं० ६ के सूक्त ३५, ३६ के ऋषि नर का निवास यहीं था। बदरीनाथ के इसी नर-नारायण आश्रम में ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'पुरुषसूक्त' द्वारा ऋग्वैदिक ऋषि नारायण ने आज से हजारों वर्ष पूर्व संसार को प्रथम बार ईश्वर की एकता का सन्देश दिया था। ऋग्वैदिक ऋषि नर-नारायण द्वारा प्रतिष्ठित इस नारायण-आश्रम का ऋग्वैदिक काल से महाभारत काल तक वेद-वेदान्त के प्रचार-प्रसार में उल्लेखनीय योगदान रहा है। नर-नारायण आर्य साहित्य में ईश्वर-अवतार के रूप में स्मरण किये जाते हैं। इसी क्षेत्र में वैवस्वत मनु की पुत्री इला से चन्द्रवंश की उत्पत्ति हुई। अलकनन्दा और मंदाकिनी का यह तटवर्ती क्षेत्र ऋषि नारायण की आत्मजा उर्वशी और चन्द्रवंशीय राजा पुरूरवा का क्रीड़ा-क्षेत्र भी रहा है। इस नर-नारायण आश्रम

में बैठकर कई वैदिक विद्वानों एवं ऋषि-महर्षियों के साथ कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने वेदों का संकलन तथा ब्रह्मसूत्र और जयभारत काव्य की रचना की थी। भगवान् कृष्ण ने सायंगृठमुनि के रूप में यहाँ रह कर कई बरसों तक तपस्या की। केदार-बदरीकाश्रम इस गन्धमादन पर्वत प्रदेश को पार्वती के पिता की राजधानी, वैदिक रुद्र का कैलासधाम, कुमार कार्तिकेय एवं पांचों 'पाँडवों' की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है। इसीलिए विष्णुपुराण में लिखा है :

यद्‌बदर्याश्रमं पुण्यं गन्धमादन पर्वते।
नरनारायणस्थाने तत्पवित्रं महीतले ॥

वैदिक ऋषियों की उसी आध्यात्मिक परम्परा से प्रेरित आचार्य शंकर ने दो बार बदरी-केदार की यात्रा की और यहीं समाधिस्थ हुए।

पुराणों में इलावृत्त, मेरु, सुमेरु, कैलास, गन्धमादन, तपोभूमि, उत्तरकुरु, केदारखंड, बदरीकाश्रम और उत्तराखंड के नाम से यह प्रदेश प्रसिद्ध था। स्कन्ध पुराणानुसार युग-परिवर्तन होते ही इसके नामों में भी परिवर्तन होता रहा है। सत्ययुग और त्रेता में अद्वितीय आध्यात्मिक महत्व के कारण इसका नाम मुक्तिप्रद और योगसिद्ध, द्वापर में विशाला और कलियुग में बदरीकाश्रम हुआ। द्वापर में यहाँ देवता, ऋषि और तीर्थों की व्यापकता होने से यह क्षेत्र विशाल हो गया था, इसलिए इस बदरी क्षेत्र को विशालपुरी भी कहने लगे।

ऋषि वाक्यों के अनुसार कलियुग में भी इस क्षेत्र का एक निश्चित सर्व सम्मत नाम नहीं रह सका है। आज तक इसके कई नवीन नामकरण हो चुके हैं। गढ़वाल नरेशों के राज्यशासन में लगभग १५०० ई० के पश्चात् इसका नाम 'गढ़वार' 'गढ़ों का देश' हुआ। गढ़वाल नरेशों के शासनकाल में इसका नाम 'गढ़वार' और 'गढ़राज' ही रहा। गढ़वाल नरेश फतेहशाह के राजकवि रतन (क्षेमराज) ने 'फतेहप्रकाश' में लगभग सात स्थानों पर इसको 'गढ़वार' नाम से ही सम्बोधित किया है। गढ़वाल राज्य की प्रशंसा में, रतन कवि ने लिखा है :

लोक ध्रुवलोकहू तें ऊपर रहैगो भारो
भानु ते प्रभानि को निधान आन आवेगो।
सरितौ सरस सुरसरि तें सही करैगो
हरि हर तें अधिक अधिपति मानैगो ॥
ऊरध परारध तें गनती गनैगो गुनि
वेद तें प्रमान सो प्रमान कछु जानैगो।
सुजस तें भल्यो मुख मूखन भनेगो बाढ़ि
गढ़वार राज पर राज जो बखानैंगो ॥

गुन गढ़वार नरेश के, अदभुत अधिक अपार।
जिनहूँ पर पुनरक्त सब अगनित गिरा प्रकार।।

स्वर्गीय मोलाराम ने भी अपने 'गढ़राज वंश के इतिहास' में इसको गढ़राज ही लिखा है। वाल्टन गढ़वाल गजैटियर्स में लिखता है :

गढ़वाल नाम का अर्थ गढ़ों का देश है। गढ़वाल परम्परानुसार बावनी, ५२ सामन्तों द्वारा शासित था, प्रत्येक सामन्त का अपना स्वतंत्र गढ़ था।

इस प्रकार जो समस्त पर्वत-प्रदेश गढ़वाल-नरेशों के राज्य-काल में 'गढ़वार', अंग्रेजों के शासनकाल में 'गढ़वाल' के नाम से विख्यात रहा, वह भारत की स्वाधीनता के एक युग (बारह वर्ष) के पश्चात् पुनः चार भागों में विभाजित होकर नवीन नामों से चमोली, पौड़ी, टिहरी और उत्तरकाशी कहलाने लगा है।

गढ़वाल 'हिमालयन गजैटियर्स' के अनुसार एक समय अलग-अलग, छोटे-छोटे बावन राजाओं में बँटा हुआ होने के कारण 'बावनी' नाम से ही पुकारा जाता था। श्रीनगर-नरेशों के राज्यकाल में लगभग १५वीं शताब्दी से इस प्रदेश का नाम गढ़वार या गढ़राज प्रमाणित है। हरिद्वार से मानसरोवर तक तथा बधाण से लेकर तमसा-तट तक गंगा-यमुना का यह उद्गमस्थल प्राचीन काल से अविच्छिन्न रूप से गढ़वाल-राज्य की सीमान्तर्गत रहा है। मुगल बादशाहों द्वारा उनके आक्रमण-प्रत्याक्रमणों से भी इसकी यह अविच्छिन्नता भंग नहीं हुई। सन् १८१६ में अंग्रेजों ने इसके शिवालिक पर्वत प्रदेश को काट कर उसका पृथक् जिला देहरादून बना दिया और ऋषिकेश का क्षेत्र भी उसमें मिला दिया, तथा हरिद्वार और कनखल का चंडी परगना, सहारनपुर में सम्मिलित कर दिया। गढ़वाल केवल ५२ गोंढ का ही नहीं वरन् गढ़ों का देश रहा है। प्रत्येक पट्टी में जिस अनुपात से यहाँ प्राचीन दुर्गों के भग्नावशेष सुरक्षित हैं, उसके अनुसार यहाँ लगभग एक सौ से कम भग्नावशेष नहीं है, जिनका प्राचीन इतिहास अविदित है। वस्तुतः इनमें से अधिकांश ऋग्वेद में वर्णित इन्द्र के नेतृत्व में आर्य-नरेशों द्वारा तोड़े गये, शम्बरासुर के विशाल प्रस्तरखंडों से निर्मित एक सौ दुर्गों के भग्नावशेष हैं और परम्परानुसार उनसे सम्बन्धित प्रचलित लोकगाथाओं के आधार पर इस प्रदेश का नाम गढ़वाल पड़ा। महा पंडित राहुल ने भी 'कुमाऊँ' पृष्ठ २६, ३१, में शम्बर के इन दुर्गों का पांचाल (वर्तमान रुहेलखंड के उत्तर) गढ़वाल और कुमाऊँ के पहाड़ों में होना स्वीकार किया है। इन्होंने ऋग्वैदिक पांचालराज दिवोदास-सुदास द्वारा शम्बरादि असुरों के साथ हिमालय के इस पर्वत-प्रदेश में युद्ध लड़े जाने का उल्लेख किया है।

इस पर्वत-प्रदेश का गढ़वाल नाम ऐसा नवीन नाम है जिसका प्राचीन

भारतीय साहित्य में कहीं अस्तित्व ही नहीं है । इसलिये प्रायः सभी इतिहासकारों ने अपने भौगोलिक एवं ऐतिहासिक अन्वेषणों में भारतीय संस्कृति के इस आदि स्रोत की सर्वथा उपेक्षा की । व्यास और कालिदास ने अपने समस्त काव्य-ग्रन्थों में हिमालय की प्राकृतिक श्री से सम्पन्न जिन-जिन प्राचीन तीर्थस्थलों का वर्णन किया है वह मध्य हिमालय का यही भू-भाग है, जो गंगा और अलकनन्दा का उद्गमस्थल है । वे एक भी कश्मीर में नहीं, वरन् स्पष्टतः गढ़वाल की भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत हैं, परन्तु व्यास, विशेषकर कालिदास के सभी मीमांसकों ने उन्हें निस्संकोच कश्मीर तथा भारत के अन्य भू-भागों में स्थापित करने का प्रयास किया है ।

भूषण और मतिराम श्रीनगर में गढ़वाल-नरेश फतेहशाह के आश्रित भी रहे हैं, परन्तु मिश्रबन्धुओं ने गढ़वाल के श्रीनगर को कश्मीर का श्रीनगर लिखा है । उन्होंने मतिराम ग्रन्थावली में भी बुन्देलखंड की कल्पना करके श्रीनगर गढ़वाल-नरेश फतेहशाह को फतेहशाह बुन्देला लिखा है । गढ़वाल नरेश फतेहशाह और गढ़वाल के श्रीनगर के सम्बन्ध में सरोजकर शिव सिंह सेंगर और गोविन्द गिल्ला भाई ने जो भूल की मिश्रबन्धु भी उस भूल से नहीं बच सके । गढ़वाल-नरेश फतेहशाह की प्रशंसा में भूषण और मतिराम के अतिरिक्त एक और रतन (क्षेमराज) नाम कविरत्न ने 'फतेहप्रकाश' नामक जो सुन्दर काव्यग्रन्थ लिखा है, उस पर भी उक्त सज्जनों ने बुन्देलखंड ही में किसी फतेहशाह बुन्देला और श्रीनगर की निराधार कल्पना करके गढ़वाल की भौगोलिक एवं ऐतिहासिक स्थिति के सम्बन्ध में अपना अज्ञान प्रदर्शित किया है । प्रसिद्ध हिन्दी शब्दकोश 'शब्दार्थ पारिजात' में गढ़वाल को 'उत्तर भारत का एक नगर' लिखा है ।

गढ़वाल को वेदों ने, पुराणों ने उसके सुन्दर सरोवरों, प्राकृतिक पुष्पोद्यानों, तीर्थस्थलों तथा अगणित नदी-निर्झरों के कारण 'स्वर्गभूमि' स्वीकार किया है । वह आर्य-संस्कृति का आदि स्रोत है । आज भी आर्यजगत में उसकी आध्यात्मिक अद्वितीयता सुरक्षित है,परन्तु भारतवर्ष के इतिहास की भाँति उसका सिलसिलेवार लिखित इतिहास प्राप्त नहीं है । उसके क्रमवद्ध इतिहास लिखने वालों के पास भी आज प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है । हिन्दू-शास्त्रों द्वारा गढ़वाल का सर्वोपरि आध्यात्मिक महत्व सर्वत्र स्वीकृत है, परन्तु गढ़वाल में कुछ रहे-सहे तीर्थस्थलों, गंगा आदि देवनदियों के अतिरिक्त उसके अधिकांश प्राचीन स्मारक सुरक्षित नहीं हैं, और न तो प्राचीन लिपिवद्ध इतिहास-ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं । स्कन्धपुराणान्तर्गत केदारखंड में इस क्षेत्र के तीर्थ-स्थलों का क्रमबद्ध ऐतिहासिक एवं आध्यात्मिक महत्व

प्रतिपादित है, परन्तु जिस प्रकार वेदों और पुराणों के मौखिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रचलित रहने के कारण, लोगों ने अपने-अपने समय की नयी-नयी घटनाओं और नये-नये नामों पर प्राचीनता की मोहर लगाने के लिये, उन्हें उनमें सम्मिलित कर उनकी ऐतिहासिक स्थिति को विवादास्पद कर दिया है, उससे केदारखंड भी अछूता नहीं है। फिर भी वेदों और पुराणों द्वारा प्रतिपादित जिस प्राचीनता का केदारखंड में उल्लेख है, उसकी सत्यता निर्विवाद है। उसको भी प्रक्षिप्त सिद्ध करके, उसकी ऐतिहासिक सत्यता की अस्वीकृति से सम्पूर्ण प्राचीन हिन्दू वाङ्मय की प्राचीनता विवादास्पद हो जाती है।

गढ़वाल मध्य हिमालय के सबसे अधिक हिमशिखरों से आच्छादित है। समुद्र गर्भ से जब लाखों बर्ष पूर्व हिमालय का प्रथम आविर्भाव हुआ होगा उस युग में इसका रूप इतना ऊँचा-नीचा, ऊबड़-खाबड़ नहीं रहा होगा। यह पर्वतीय प्रदेश प्रखर प्रवाहिनी नदियों का देश है। सदियों से भू-कम्प, प्रति वर्ष बरसाती बाढ़ों, नदी-नालों से कट-कट कर इसके मूल ऋग्वैदिक रूप और वर्तमान रूप में एवं उसके प्राचीन ऐतिहासिक स्मारकों की वास्तविक भौगोलिक स्थिति में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ता चला गया है।

सन् १८८२ में एटकिन्सन आदि कुछ अंग्रेज विद्वानों ने प्रायः प्रचलित किम्वदन्तियों, प्राचीन कहावतों, लोक-गाथाओं, शिलालेखों, ताम्रपत्रों तथा अन्य ऐतिहासिक अनुमानों के आधार पर प्रथम बार इसके इतिहास की अस्पष्टता को थोड़ा-बहुत दूर करने का प्रयत्न किया है। एटकिन्सन साहब ने, केप्टेन हार्डविक, सेटलमेंट आफिसर बक्येट, विलियम्स तथा अल्मोड़े के पंडित रुद्रदत्त पंत द्वारा लिखी हुई पुस्तिकों से भी इस सम्बन्ध में सहायता ली है। एच० जी वाल्टन ने सन् १९२१ में प्रकाशित गढ़वाल गजेटियर्स में गढ़वाल का जो इतिहास दिया है, वह पूर्णतः एटकिन्सन के इतिहास के ही आधार पर है।

एटकिन्सन से पूर्व श्रीनगर के प्रसिद्ध चित्रकार मोलाराम द्वारा सन् १८८० ईसवी में लिखा हुआ गढ़राज वंश का छन्दोबद्ध इतिहास भी उल्लेखनीय है जिसमें लगभग ८वीं शताब्दी के बाद गढ़वाल-नरेशों का संक्षिप्त ऐतिहासिक वृत्त वर्णित है। ८वीं शताब्दी से पूर्व गढ़वाल की ऐतिहासिक स्थिति का उसमें भी उल्लेख नहीं है।

वाल्टन से पूर्व सन् १९१७ में डॉ० पातीराम ने अंग्रेजी में अपना प्राचीन और अर्वाचीन। (Garhwal Ancient & Modern) गढ़वाल प्रकाशित किया। इस पुस्तक के द्वारा डाक्टर साहब ने ८वीं शताब्दी से पूर्व गढ़वाल के अन्धकारमय अतीत पर भी यथासाध्य ऐतिहासिक प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। परन्तु वह भी अत्यन्त अस्पष्ट और अपर्याप्त है। उनके पश्चात् टिहरी

दरबार तथा अन्य स्थानों में उपलब्ध इतिहास और पुरातत्व सामग्री के आधार पर श्री हरिकृष्ण रतूड़ी ने सन् १९२८ में देहरादून में 'गढ़वाल का इतिहास' प्रकाशित किया है। गढ़वाल के इतिहास को हिन्दी में प्रकाशित करने का यह सर्व प्रथम प्रयास था। श्री हरिकृष्ण रतूड़ी हिन्दी की कई पुस्तकों के रचयिता और टिहरी-राज्य के प्रसिद्ध कानूनी-ग्रन्थ 'नरेन्द्र ला' के सम्पादक रहे हैं। उनके कथनानुसार उनको टिहरी-दरबार में भी गढ़वाल-राज्य की पूर्ण अथवा अपूर्ण सिलसिलेवार कोई ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं हुई है। रतूड़ी जी के इतिहास से पूर्व एटकिन्सन साहब ने हिमालयन गजेटियर्स द्वारा गढ़वाल के इतिहास पर जो थोड़ा-बहुत खोजपूर्ण प्रकाश डालने का प्रत्यन किया है उसका अपने इतिहास में रतूड़ी जी ने बहुत कम प्रयोग किया है। श्री रतूड़ी जी से पूर्व एटकिन्सन साहब की ऐतिहासिक खोजों के आधार पर सन् १९२१ में वाल्टन का गढ़वाल गजेटियर्स भी प्रकाशित हो चुका था। यद्यपि अपने इतिहास की भूमिका में रतूड़ी जी द्वारा अंकित तिथि १९२० है परन्तु गढ़वाली प्रेस देहरादून द्वारा उनका इतिहास प्रथम वार सन् १९२८ में प्रकाशित हुआ है। उन्होंने अपने इतिहास में जहाँ फ्रेजर हार्डविक, वर्नियर और विलियम्स के ऐतिहासिक कथनों के स्थान-स्थान पर उद्धरण दिये हैं, वहाँ एटकिन्सन साहब द्वारा प्रकाशित खोजपूर्ण सामग्री से अधिक सहायता नहीं ली। केवल पृष्ठ ३६१ में एक स्थान पर नाग, हूण, खसों के सम्बन्ध में उनका कथन उद्धृत किया है।

रतूड़ी जी ने डॉ० पातीराम के इतिहास के सम्बन्ध में भी अपनी सम्मति दी है, परन्तु उनकी कई महत्वपूर्ण खोजों को भी वे अपने इतिहास में सम्मिलित नहीं कर सके। मालूम होता है कि उन्होंने इन पुस्तकों का केवल नाम सुना है, परन्तु पुस्तकें उन्हें उपलब्ध नहीं हो सकीं। रतूड़ी जी का इतिहास भी अन्य प्रकाशित इतिहासों की भाँति अस्पष्ठ और अपूर्ण है। वे अपने इतिहास में श्रीनगर के अंतिम नरेशों के विश्वस्त ऐतिहासिक तथ्यों को भी पूर्णतः प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। उनकी बनायी हुई ऐतिहासिक तिथियाँ और गढ़वाल-नरेशों का काल-निर्णय भी प्रायः अशुद्ध हैं। एटकिन्सन द्वारा दी गयी तिथियाँ अधिक विश्वसनीय और प्रमाणिक है।

रतूड़ी जी के पश्चात् महापंडित राहुल जी ने 'हिमालय-परिचय' (१) में गढ़वाल का कुछ विस्तारपूर्वक परिचय देने का प्रयत्न किया है। इसके लिये उन्होंने अपने पूर्ववर्ती समस्त हिन्दी और अंग्रेजी इतिहास-ग्रन्थों से भी सहायता ली है, परन्तु अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों की भाँति वे भी नवीं शताब्दी से पूर्व गढ़वाल के अंधकारमय युग के ऐतिहासिक तथ्यों पर उल्लेखनीय प्रकाश प्रस्तुत

करने में असमर्थ रहे हैं। जलप्लावन के समय जब वैवस्वत मनु सकुटुम्ब अलकनन्दा और सरस्वती नदी के इस तटवर्ती प्रदेश में निवास करते थे, उस समय उनकी पुत्री इला और चन्द्रमा के पुत्र बुध के संयोग से चन्द्रवंश के प्रथम पुरुष पुरूरवा का जन्म हुआ। बदरीनाथ में नर-नारायण आश्रम के ऋषि नारायण की पुत्री उर्वशी और राजा पुरूरवा की प्रणय लीलाओं का पुराणों में विस्तारपूर्वक जो वर्णन है उससे इस क्षेत्र की भौगोलिक सत्यता स्पष्ट है। अलकनन्दा के तटवर्ती क्षेत्र, चान्दपुर (चन्द्रपुर) परगने और चान्दपुर गढ़ में चन्द्रवंशी राजाओं की ऐतिहासिक स्मृति सुरक्षित है। नौवीं शताब्दी से पूर्व गढ़वाल की राजनीतिक स्थिति उल्लेखनीय न रही हो, यह असम्भव है। अत्यन्त समृद्धिशाली कत्यूर राजवंश के राजकीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों की नामावली आधुनिक युग की सर्वोत्तम शासन-सत्ता के लिये भी अनुकरणीय है। अभी तक प्रायः समस्त इतिहासकारों द्वारा वह उपेक्षित है। उक्त नामावली से कत्यूरी-शासन की असाधारणता प्रमाणित हो जाती है। हाल ही में श्री शिव प्रसाद डबराल ने 'उत्तराखंड यात्रा दर्शन' लिखकर अनेक भारतीय-अभारतीय विद्वानों की सम्मतियों के उद्धरणों द्वारा प्राचीन और अर्वाचीन गढ़वाल के आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक महत्व का प्रतिपादन किया है, परन्तु उसमें भी प्राचीन गढ़वाल के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक इतिहास का क्रमबद्ध वर्णन नहीं आ पाया है।

गढ़वाल में ऐतिहासिक सामग्री का जो सर्वथा अभाव है, उसके प्रमुख कारण प्राचीन भारतीयों में क्रमबद्ध इतिहास लिखने की परिपाटी का सर्वथा अभाव और गढ़वाल में निरन्तर होने वाले राजनीतिक एवं भौतिक विप्लव हैं। भूगर्भशास्त्रियों के कथनानुसार हिमालय दक्षिण के पर्वतों की भाँति सुदृढ़ नहीं है। उसमें भूचालों का भय निश्चित है। हिमालय की अपरिपक्व अवस्था में भौतिक विप्लवों का यह भय और भी अधिक रहा होगा। ऋग्वैदिक काल में पर्वत-प्रदेशों में ऐसे भूकम्पों द्वारा बार-बार पृथ्वी के प्रकम्पित होने का उल्लेख हैं (ऋग्वेद, २।१२।२,२।१७।५)।

अर्थात् इन्द्र वह है, जिसने प्रकम्पित पृथ्वी को स्थिर किया, जिसने विचलित पर्वतों को शान्त किया, जिसने व्यापक अंतरिक्ष का विस्तार किया और जिसने आकाश को अचल किया। उसने इधर-उधर हिलने-डोलने वाले प्राचीन पर्वतों को अपनी शक्ति से स्थिर किया। मेघों से जल को नीचे गिराया, विश्वधरित्री पृथ्वी को अचल किया। पृथ्वी और आकाश का स्तम्भन किया। डॉ० सम्पूर्णानन्द '**आर्यों के आदि देश**' पृष्ठ ४५ में लिखते हैं कि—'प्रत्यक्ष ही इन मंत्रों में उस काल की स्मृति हैं जब कि हिमालय आदि पर्वत, भूगर्भ से

ऊपर उठ रहे थे, भूकम्प बराबर आते थे और ज्वालामुखी विस्फोट होता था।'

ओकले साहब ने 'होली हिमालय' के पृ० १४२ में, हिमालय के इस क्षेत्र में बार-बार होने वाले इन भूकम्पों द्वारा प्राचीन स्मारकों की अपार क्षति का उल्लेख किया है। वे कहते हैं—'गढ़वाल के प्राचीन स्मारक समय-समय पर आने वाले इन भयंकर भूकम्पों से बारम्बार विनष्ट होते रहते हैं।'

इन्हीं आकस्मिक भौतिक विप्लवों के फलस्वरूप प्राचीन गढ़वाल में अत्यधिक जन-धन की अप्रत्याशित क्षति और अन्य अनेक सामाजिक अव्यवस्थाओं के कारण समय-समय पर गढ़वाल की प्राचीन प्रमाणिक ऐतिहासिक सामग्री और ऐतिहासिक स्मारक, तत्कालीन जन-समुदाय के साथ नष्ट होते रहे हैं। पुराने भूकम्पों का हमारे पास लिखित प्रमाण नहीं है। परन्तु सन् १८०३ में भादौ की अनन्त चौदस की आधी रात को जब सब लोग सोये हुये थे, गढ़वाल में एक ऐसा आकस्मिक भूचाल आया, जिससे इतिहासकारों के कथनानुसार गढ़वाल की अस्सी प्रतिशत जनता अपनी सदियों से संचित बहुमूल्य सम्पति सहित सर्वत्र टूटे हुये पर्वतों और भग्न भवनों में दब कर नष्ट हो गयी। यह अप्रत्याशित भूचाल सात दिन और सात रात तक लगातार होता रहा। पं० बदरीदत्त पांड़े ने अपने 'कुमाऊँ के इतिहास' पृष्ठ ३९५ पर तथा श्री हरिकृष्ण रतूड़ी ने 'गढ़वाल के इतिहास' पृष्ठ ४१८ में इसकी असाधारण भयंकरता का उल्लेख किया है।

इस दैवी प्रकोप से गढ़वाल की समस्त जनता में हाहाकार मच गया। बीस प्रतिशत लोग जो जीवित बचे, अव्यवस्थित, आहत, अर्द्ध मृत, अस्थिर और सर्वथा आश्रयहीन होकर इधर-उधर असहाय भटकने लगे। पर्वतों में दरारें पड़ गयीं, गाँवों के जलस्रोत सूख गये। गढ़वाल के प्रसिद्ध चित्रकार मोलाराम भी, जो १८०३ में जीवित थे, अपने 'गढ़राज वंश के इतिहास' में लिखते हैं :

साठ साल भूकम्पहि भयो, शहर बजार महल सब ढयो ॥
भार पाप को पड़्यो महाई, परजा पीड़न ब्रह्म हत्याई ॥
मरे हजारों गढ़ के माही, खबर गई कांतिपुर[1] ताँई ॥

अँग्रेज पर्यटक रैपर ने, सन् १८०८ में, इस भयंकर भूचाल से प्रभावित गढ़वाल का प्रत्यक्ष दर्शन करने के बाद लिखा है :—"श्रीनगर का शहर प्रायः सम्पूर्ण नष्ट हो गया है। पाँच में से एक घर में कोई रहता है, नहीं तो सारे घर खंडहर हो गये थे। राजा का महल भी रहने लायक नहीं रह गया था। भूकम्प के झटके कई महीनों तक आते रहे। कहा जाता हैं कि कितने ही जलस्रोत सूख गये और दूसरी जगह कितने ही नये चश्में निकल आये। इस

१—नेपाल का नगर

भयानक भूकम्प से पर्वत टूट कर कितने ही समूचे गाँव दब गये। उसके पश्चात् बीस या पन्द्रह सैकड़े से अधिक लोग नहीं बचे होंगे। जो बचे, वे भी घर-बार विहीन हो गये। अन्न का सर्वथा अभाव था; जहाँ देखो वहाँ हाहाकार मचा हुआ था।"

इस भूचाल से कुछ ही वर्ष पूर्व सम्वत् १७५१-५२ के भयंकर अन्न काल में जो आज भी गढ़वाल के इतिहास में 'इक्कावनी-बावनी' के नाम से अविस्मरणीय है, जनता पीड़ित थी, परन्तु इस ऐतिहासिक भूचाल ने उनको कहीं का भी नहीं रखा। फस्ल नष्ट हो गयी थी;' खेत खंड-खंड हो गये थे; मकान गिर गये थे; बीस प्रतिशत जीवित जनता अर्द्ध मृत और असहाय होकर निराधार घूम रही थी।

गढ़वाल की इस करुणाजनक स्थिति की कुछ देशद्रोहियों से सूचना पाकर ११ गते आषाढ़, सन् १८०४ में, गोरखों ने अल्मोड़े से गढ़वाल पर पुनः आक्रमण कर दिया। अल्मोड़े पर सन् १७९० में गोरखों का राज्य-शासन स्थापित हो चुका था और कुमाऊँ के चाणक्य श्री हर्षदेव जोशी के परामर्श से वे सन् १७९१ में गढ़वाल में लूँगरगढ़ी को हस्तगत करने का, कई बार असफल प्रयत्न कर चुके थे।

गढ़वाल की केवल बीस प्रतिशत जनता का, जिसमें आधे से अधिक बालक, वृद्ध, रोगी तथा आहत भी रहे होंगे, अपनी असंगठित स्थिति में शक्तिशाली गोरखों की रणकुशल सेना का मुकाबला करना असम्भव था। गोरखों ने गढ़वालियों की इस दयनीय दशा से लाभ उठा कर, जिस अमानवीय वीरता का परिचय दिया, वह गढ़वाल में 'गोर्ख्याणी' के नाम से प्रसिद्ध है।

श्रीनगर में गढ़वा-नरेश तीनों भाई परस्पर गृह-युद्धों में फंसकर जव अपनी-अपनी स्वतंत्र सैनिक शक्ति और स्वतंत्र राजनीतिक दल स्थापित कर एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यंत्र रचने में तल्लीन थे, गोरखों की एक सेना ने कैनूर से और दूसरी ने दक्षिण गढ़वाल की ओर से श्रीनगर पर आक्रमण कर दिया। श्रीनगर में केवल एक हजार पैदल सैनिक रहते थे। शेष सेना का अस्सी प्रतिशत भाग जो उन दिनों श्रीनगर से दूर गढ़वाल की पट्टियों और सीमान्त क्षेत्रों में शांति और रक्षा-व्यवस्था के लिये नियुक्त रहता था, भूचाल से दबकर नष्ट हो गया। अत्यन्त सीमित शक्ति और अव्यवस्थित युद्ध-साधनों के होते हुये भी, उन बीस प्रतिशत जीवित अर्द्धमृत गढ़वालियों ने, गोरखों का जिस वीरता से मुकाबला किया, वह स्वयं गोरखों के लिये अत्यन्त आश्चर्यजनक और कल्पनातीत था। कुमाउँनियों ने सन् १७९० में साधारण प्रतिराध के पश्चात् उनके सम्मुख घुटने टेक दिये थे। मुट्ठी भर गढ़वालियों का अपनी ऐसी करुणाजनक स्थिति से भी

यह असीम साहस उन्हें असह्य हो उठा। वे अधिक उत्तेजित होकर पूरे पराक्रम के साथ गढ़वालियों के विरुद्ध लड़ने लगे। कई दिनों तक, कई स्थानों पर युद्ध करने के पश्चात् अन्त में ११ गते श्रावण, सम्बत् १८६१ को गोरखा सेना ने श्रीनगर पर अधिकार कर लिया।

प्रद्युम्नशाह, पराक्रमशाह और प्रीतमशाह सेना सहित श्रीनगर से निकल कर अनेक स्थानों में लड़ते रहे और अन्त में बाड़हाट होते हुए देहरादून पहुँचे, जहाँ अखण्ड-गढ़वाल के अंतिम नरेश प्रद्युम्नशाह खुड़बुड़ा गांव (देहरादून) में २२ गते माघ, शुक्ला द्वितीया को वीरतापूर्वक युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुये। गढ़वाली पराजित हो गये। बचे हुये लोग गोरखों के अत्याचार से भयभीत होकर आत्मरक्षार्थ जहाँ सींग समाये, भाग खड़े हुये। जून सन् १८१६ तक, जब तक गोरखों का शासन रहा, गढ़वाल के सम्माननीय लोग अपनी चिर-संचित पैतृक-सम्पति एवं ऐतिहासिक सामग्री को यथास्थान छोड़कर, मिट्टी में दबा कर बचे हुये बीबी-बच्चों को लेकर, इधर-उधर बीहड़ वनों में, गुफाओं और कन्दराओं में प्राण बचाते फिरे। गोरखों ने उनके मकान गिरा दिये। छोटे बच्चों को ओखली में कूट कर बध किया। किसानों की खड़ी फसलें जला दीं और अनाथ बीबी-बच्चों को दास बनाकर बेच दिया।

गोरखा-शासन की समाप्ति के बाद कई बरसों तक गांवों से भागे हुये लोगों की सन्तान, सुदूर क्षेत्रों से अपने पूर्वजों के बताये हुये परिचय-चिन्हों के अनुसार, उनकी उस गड़ी हुई धन-सम्पत्ति को खोजने के निमित, उक्त गांवों में आती रही। निरन्तर के भौतिक परिवर्तनों तथा वर्षा-पानी के कारण ठोस धन-सम्पत्ति के अतिरिक्त उस गड़ी हुई सम्पति का बरसों तक सुरक्षित रहना असम्भव था। अपर्याप्त परिचय तथा चिन्हित स्थानों का ठीक स्मरण न रहने से भी कई लोग असफल होकर लौट जाते थे। भूचालों से दबा हुआ तथा गोर्ख्याणी के कारण वह गड़ा हुआ धन, आज भी खेत खोदते समय, लोगों को कहीं-कहीं अकस्मात प्राप्त हो जाता है।

देश की ऐसी अव्यस्थित स्थिति में भौतिक विप्लवों और राजनीतिक अशान्तियों के कारण, गढ़वाल-नरेश द्वारा, जो श्रीनगर से भाग कर परिवार सहित देहरादून आदि स्थानों में छिप कर प्राण बचाते रहे, अपने राजकोष में गढ़वाल की प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री को सुरक्षित रखकर घूमना भी सर्वथा असम्भव था। यही कारण है कि टिहरी दरबार में गढ़वाल की उल्लेखनीय ऐतिहासिक सामग्री का सर्वथा अभाव है।

श्री हरिकृष्ण रतूड़ी टिहरी दरबार में वजीर थे। दरबार के पुराने कागजातों के सम्बन्ध में उनकी सम्मति विशेष विश्वसनीय हो सकती है। वे

गढ़वाल-इतिहास की भूमिका पृष्ठ ३५ में लिखते हैं—कि इसमें सन्देह नहीं कि इस देश के ऐतिहासिक लेख-पत्र इत्यादि अवश्यमेव कुछ-न-कुछ श्रीनगर दरबार में रहे होंगे और कदाचित् उन लोगों के घरों में भी रहे होंगे, जो लोग उस काल में राज-दरबार के प्रतिष्ठित लोगों में थे, परन्तु कालचक्र की गति से जब कि इस देश पर सन् १८०३ में गोरखों का आक्रमण हुआ, तब वे नष्ट हो गये। गढ़वाल और कुमाऊँ में ही क्या बल्कि इस सारे हिमालय प्रदेश में सिवाय जातीय गीतों, पहाड़ों, प्राचीन ताम्रपत्रों और शिलालेखों के कोई ऐतिहासिक सामग्री नहीं मिलती है।

डॉ० पातीराम के (पृ० १६६) कथनानुसार भी समस्त ऐतिहासिक, मूल्यवान् कागज-पत्र तथा गढ़वाली नरेशों के पारिवारिक इतिहास से सम्बन्धित अन्य अभिलेख जो भूतपूर्व नरेशों द्वारा श्रीनगर में छोड़े गये थे, वे सब गोरखों ने नष्ट कर दिये। उनमें जो मूल्यवान् सामग्री थी, वे उसको उठा कर नेपाल ले गये।

आज हम गढ़वाल से बाहर इतिहास-लेखकों की कृतियों के आधार पर अपने प्राचीन इतिहास का अनुमान लगाने को बाध्य हैं। छठीं शताब्दी में चीनी यात्री हुयेन्-त्साँग ने हरिद्वार से ३० मील उत्तर की ओर, एक विस्तृत राज्य का, जिसका घेरा ४०० मील के लगभग था और जिसकी राजधानी का नाम ब्रह्मपुरी था, उल्लेख किया है। आज उसका कहीं भी ऐतिहासिक अस्तित्व प्रकट नहीं होता। यदि वह स्थान लछमनभूला के निकट बीहड़ बन के बीच में—वर्तमान ब्रह्मपुरी ही है तो वहाँ प्राचीन बस्ती के आज कोई उल्लेखनीय चिन्ह नहीं पाये जाते। इस नगर का विस्तार हुयेन्-त्साँग के कथनानुसार लगभग दो मील था। वह नगर कब और कैसे नष्ट हो गया, यह पूर्णतः अविदित है। मेरे विचार से आकस्मिक भूचाल ही इस विनाश के मुख्य कारण हैं। इस प्रदेश में अधिकांश सीधी, खड़ी, विशाल पर्वत-श्रेणियाँ हैं जिनके तट पर लोगों की बस्तियाँ बसी हैं। समय-समय पर अकल्पित भूकम्पों के धक्कों से वे पर्वत-खण्ड टूट-टूट कर असावधान मानव-बस्तियों को नष्ट कर देते रहे हैं। फलस्वरूप गढ़वाल की प्राचीन कलाकृतियाँ, उसके ऐतिहासिक स्मारक एवं अन्य समस्त सांस्कृतिक सम्पत्ति क्रमशः समाप्त होती गई हैं। राहुल जी ने जिन मन्दिरों और मूर्तियों को रुहेलों द्वारा तोड़े जाने का उल्लेख किया है वे इन्हीं भूकम्पों के धक्कों से गिरे हुये मकानों और मन्दिरों से ही खंडित हुई हैं, क्योंकि गढ़वाल में दक्षिणी सीमान्त क्षेत्रों के अतिरिक्त भीतरी क्षेत्र में रुहेलों का आक्रमण अविदित है।

कुमाऊँ की भूमि गढ़वाल की अपेक्षा समतल है। वहाँ के पर्वत सीधे खड़े

नहीं हैं। इसलिये वहाँ भूचालों का विशेष व्यापक और विध्वंसकारी प्रभाव नहीं पड़ा है और वहां के जन-जीवन का क्रमबद्ध इतिहास आज भी लिखित रूप में सुलभ है। श्री बदरीदत्त पाण्डे जी ने 'कुमाऊँ के इतिहास' पर विस्तारपूर्व प्रकाश डाला है। उन्होंने कुमाऊँ के प्राचीन, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रमाणपूर्वक प्रकट किया है। उनके इस इतिहास से तत्कालीन गढ़वाल की राजनीतिक स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। फिर भी कुमाऊँ गजेटियर में श्री ई० टी० एटकिन्सन ने १६ सितम्बर, १८८० को नैनीताल शहर में भी भूकम्प के धक्कों के कारण एक ऐसे भीषण पर्वत-पात का उल्लेख किया है, जिसमें हताहतों की संख्या १५१ थी। श्री एटकिन्सन लिखते हैं :

सारा पर्वत-पार्श्व अर्ध तरल अवस्था में था, उसे गति देने के लिये बहुत कम शक्ति की जरूरत थी। वह चालक शक्ति भूकम्प का एक धक्का था जो कि इन पहाड़ों में साधारण-सी बात है। नगर में बहुतों नें थर्राहट की आवाज उसी तरह सुनी जैसे कि भारी परिमाण में मिट्टी के गिरने से सुनायी देती है। भूपात की ओर जिन लोगों को देखने का अवसर मिला, उन्होंने वहाँ से धूल का एक विशाल बादल साफ उठते हुये देखा। साफ़ दिखाई दिया कि होटल के पीछे के पहाड़ का एक बड़ा भाग बड़े तीव्र वेग और भीषणता के साथ नीचे की ओर खिसका और वह होटल को पूरी तरह से दबाते, अरदली रूम, दूकान और असेम्बली रूम को सत्यानाश करता, नीचे चला गया। यह सारी दुर्घटना कुछ ही सेकेन्डों में हुई। इसलिये भूपात के रास्ते में पड़े किसी के लिये बच निकलना मुश्किल था (श्री राहुल : **कुमाऊँ**, २८२)।

गढ़वाल और कुमाऊँ के नरेशों में भी पारस्परिक राजनीतिक संघर्ष रहे हैं। एटकिन्सन ने सन् १७०७ में कुमाऊँ-नरेश जगतचन्द द्वारा फतेहशाह के राज्य-काल में, श्रीनगर की लूटपाट का उल्लेख किया है। उन्होंने सन् १७८५ में प्रद्युम्नचन्द के राज्यकाल में भी कुमाऊनियों द्वारा, गढ़वाल के गांवों में आग लगाने, देवलगढ़ का मन्दिर लूटने, श्रीनगर का राजमहल जलाने तथा यहाँ से लाखों की सम्पत्ति लूट ले जाने का वर्णन किया है। यह कांड इतिहास में 'ज्योश्याणा कांड' के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि रतूड़ी जी ने अपने इतिहास में इस घटना का कोई उल्लेख नहीं किया है, तो भी मोलाराम, एटकिन्सन और पाण्ठे जी द्वारा प्रतिपादित इस घटना की सत्यता से इनकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इन लूट-पाटों, आक्रमण-प्रत्याक्रमणों से गढ़वाल के सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जन-जीवन पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से विध्वंसात्मक प्रभाव पड़ना निश्चित था।

सन् १८९४ में, २५ अगस्त की आधी रात को गौनाताल के टूट जाने से अलकनन्दा की भयंकर बाढ़ ने गढ़वाल का प्राचीन नगर जो गत कई शताब्दियों से समस्त पर्वत प्रान्तों का प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र था, और जो वर्तमान नगर से कई गुने अधिक भव्य और समृद्धिशाली था, बह गया। अव्यवस्थित नगर-निवासी केवल रुपये-पैसों की ही रक्षा कर सके। उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण सांस्कृतिक धरोहरें, अपनी कागजी सबूतें तथा अन्य साहित्य-सामग्री अपने मकानों में ही रख छोड़ी थी, क्योंकि सरकार द्वारा मकानों की क्षति न होने का आश्वासन दे दिया गया था। परन्तु दुर्भाग्यवश वह तूफान जो शांतिपूर्वक आगे बढ़ गया था, कीर्तिनगर के पास पुल से कुछ पेड़-पौधे लग जाने के कारण पुनः भयंकर वेग से वापस लौट पड़ा और उसने खोज-खोज कर श्रीनगर को सदा के लिये पूर्णतया श्री-विहीन कर दिया। मकान धूलि-धूसरित हो गये, सर्वत्र बालू ही बालू भर गया। परिचित स्थान मकान-मालिकों के लिये सर्वथा अपरिचित हो गये। उनके नीचे नगर-निवासियों की प्राचीन सांस्कृतिक सम्पति और बहुमूल्य कला-कृतियाँ प्राचीन स्मारकों सहित दब कर और बह कर नष्ट हो गयी। अलकनन्दा की यह प्रलयंकारी तांडव-लीला आज भी 'विरहीकांड' कह कर स्मरण की जाती है। तत्कालीन जिलाधीश पौ साहब द्वारा सन् १८९६ में पुराने श्रीनगर से एक मील ऊपर वर्तमान श्रीनगर की स्थापना की गयी। श्रीनगर का पुराना और भव्य राजमहल इतना विशाल था कि उसके कटे हुये शिला-खण्डों से दोनों ओर नये श्रीनगर की आधार-शिला, चिकित्सालय तथा अधिकांश मन्दिरों का निर्माण हुआ है। प्राचीन श्रीनगर कितना भव्य एवं अद्वितीय था, अपने प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ 'फ़तेहप्रकाश' में रतन कवि ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है :

> **सदन सदन सोहै सुतन मदन थिर**
> **दामिन कदम्बिनी में थिति हेम तरु की।**
> **सुकवि रतन सुरपति में सावई जामे**
> **साहिब सरूप सुकुमार सुरतरु की।**
> **करत कुबेर कांति कमनीय कायन के**
> **रुचिराज मारग में आपने सहरु की।**
> **एक एक मुख के अलेखे देखियत विधि**
> **अदभुत सातों दीप शोभा सीनगरु की।**

इन सब प्राकृतिक और अप्राकृतिक परिवर्तनों के कारण गढ़वाल के प्राचीन इतिहास की अस्पष्टता निर्विवाद है। वाल्टन 'गढ़वाल गजेटियर्स' (पृष्ठ १११) में गढ़वाल की इतिहास-सामग्री को अत्यन्त अपर्याप्त, अनिश्चित और अप्रामाणिक

बतलाता है। जे० इवट भी अपनी पुस्तक 'गढ़वाली' में लिखता हैं कि "गढ़वाल का अपना लिखा हुआ इतिहास नहीं है। इतिहास के सम्बन्ध में, उसकी परम्परानुसार जो मान्यतायें स्थापित हैं, वे अत्यन्त अपर्याप्त और असन्तोषजनक हैं।" यद्यपि इस प्रकार निरन्तर आकस्मिक भौतिक विप्लवों से विनष्ट प्राचीन स्मारकों, सांस्कृतिक विरासतों के अभाव से गढ़वाल के प्राचीन इतिहास की स्थिति उत्तरोत्तर अस्पष्ट और अप्रामाणिक होती गयी तो भी उसके पास महाभारत और पुराणों में आध्यात्मिक प्राचीनता की जो कुछ विरासत सुरक्षित है, उससे प्राचीन और अर्वाचीन आर्यावर्त्त के इतिहास में उसका अद्वितीय आध्यात्मिक प्रभाव प्रमाणित है तथा यह सब प्राचीन ऋषि-महर्षियों की निराधार कवि-कल्पना मात्र है, इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

प्राचीन गढ़वाल की ऐसी अव्यवस्थित स्थिति में उसके इतिहास की दयनीय अस्पष्टता निश्चित है। मैंने भी अपनी सीमित क्षमता के बावजूद गत कुछ वर्षों से उसके अन्धकारमय युग में इतिहास के उन अस्पष्ट साक्ष्यों को टटोलते हुये, जो कुछ सामग्री संगृहीत की है, उसमें कितना तथ्य है, वह विचारार्थ, विचारशील पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। विद्वान् बन्धुओं से निवेदन है कि वे इसको अद्योपान्त पढ़ने के बाद अपना अभिमत स्थिर करें। प्राचीन इतिहास की दयनीय दशा में केवल युक्ति, तर्क, प्रमाण एवं अनुमान पर आधारित तथ्यों को ही सब यथा उचित सत्य मानने को विवश हैं। अपनी सीमित शक्ति और साधनों के अतिरिक्त विषय की गम्भीरता एवं इतिहास की अस्पष्टता के कारण अपने मत की पुष्टि में कतिपय विद्वानों के यथासम्भव आवश्यक युक्ति, तर्क और प्रमाण प्रस्तुत करने के बावजूद पुस्तक को जैसी मैं चाहता था नहीं लिख सका। इसमें इतिहास का सिलसिलेवार क्रमबद्ध वर्णन नहीं है, फिर भी अपने निष्कर्षों के प्रति मेरा दुस्साहस भले ही हो, हठ और दुराग्रह नहीं है। अभी तक विषय विवादास्पद एवं अनिर्णीत है। पुस्तक में प्रस्तुत मत भी एक मत हैं। जो अन्य अनेक अन्वेषकों एवं प्रसिद्ध इतिहासकारों के अस्पष्ट मतों का कुछ विशेष भौगोलिक तथ्यों के साथ विस्तारपूर्वक प्रतिपादन है।

लेखक ने विषयवस्तु के प्रतिपादन में पक्षपात के आरोप से बचने तथा प्रस्तुत विषय को अधिक स्पष्ट एवं प्रमाणित करने के लिए भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के मतों के कुछ विस्तारपूर्वक उद्धरण देने की धृष्टता की है। विभिन्न विषयों की पुष्टि में, कई स्थलों पर इच्छा न होते हुए भी पुनरावृत्तियाँ भी हो गयी हैं, जिनके लिये लेखक श्रद्धेय विद्वानों एवं अपने पाठकों के समक्ष क्षमा प्रार्थी है। मैंने प्रस्तावित तथ्यों की पुष्टि में श्री रामगोविन्द त्रिवेदी जी के 'हिन्दी-ऋग्वेद' तथा जिन अन्य अनेक विद्वानों के ग्रन्थों-लेखों से सहायता ली

है, मैं उन सबका हृदय से अत्यन्त आभारी हूँ। वस्तुतः प्रस्तुत पुस्तक में मेरा अपना कुछ नहीं है। यह अनेक विद्वानों के कथनों का संग्रहमात्र है। इन चिर उपेक्षित भौगोलिक तथ्यों के प्रतिपादन के लिए विद्वान् मनीषियों की सम्मतियाँ, मुझ नगण्य व्यक्ति से कहीं अधिक मूल्यवान् होने के कारण, मैं नम्रतापूर्वक उनका बार-बार उद्धरण देने का लोभ संवरण नहीं कर सका हूँ।

'गढ़वाल के प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास के कुछ अस्पष्ट पृष्ठ' नामक मेरे अप्रकाशित निबन्ध-संग्रह का प्राचीन इतिहास से सम्बन्धित यह अंश पाठकों के सम्मुख है। पुस्तक को अपनी सीमित परिस्थितयों के कारण, जैसी मैं चाहता था, नहीं लिख सका; फिर भी गत पन्द्रह-बीस बरसों का मेरा यह अथक प्रयास इस 'उत्तराखंड' के तीर्थ-यात्रियों, पर्यटकों और इतिहास के जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। आज जब हिमवन्त का सीमान्त साम्यवादी सेना से आतंकित है, आर्य जाति में गंगा-यमुना के इस उद्‌गम स्थल की, आर्य संस्कृति के इस आदि स्रोत मध्य हिमालय के प्राचीन गौरव के व्यापक प्रचार-प्रसार की सार्वजनिक उपयोगिता असंदिग्ध सिद्ध है।

पुस्तक बरसों से लिखी हुई पड़ी थी और शायद इसी प्रकार अप्रकाशित रह कर नष्ट हो जाती। यह प्रियवर श्री वाचस्पति गैरोला का स्नेहसिक्त प्रोत्साहन एवं प्रयास है, जो यह पुस्तक प्रकाशित होकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो रही है। इसकी त्रुटियाँ मेरी है और उत्तमता जो कुछ है, उसका सारा श्रेय प्रियवर गैरोला को है।

श्रद्धेय श्री भक्त दर्शन जी ने अपनी अत्यधिक कार्यव्यस्तता के बावजूद भी इस पुस्तक को पढ़कर इसके सम्बन्ध में अपनी मूल्यवान् सम्मति देकर अन्य अनेक असहाय लेखकों की भाँति मुझे भी स्वभावतः अनुगृहीत किया है। उसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

—भजन सिंह

● ●

केदारखंड–महात्म्य

ईश्वर उवाचः

तमसातटतः पूर्वमर्वाग्बौद्धाचलं शुभम् ।
केदारमंडलं ख्यातं भूम्यास्तद्धि न्नकं स्थलम् ।।
पंचाशद्योजनायाम् त्रिशंद्योजन विस्तृतम् ।
इदं वै स्वर्गगमनं न पृथ्वीं तामहो विभो ।।
यस्य तीर्थस्य सेवायाः शुद्धा जाता महौजसः ।
इति तत्परमं स्थानं देवानामपि दुर्ल्लभम् ।। केदारखंड ४०, २६
पुरातनो यथाहं वै तथा स्थानमिदं किल ।
यदा सृष्टिक्रियायांच मया वै ब्रह्ममूर्तिना ।।५।।
स्थितमत्रैव सततं परब्रह्म जिगीषया ।
तदादिकमिदं स्थानं देवानामपि दुर्ल्लभम् ।।६।।
मृतो यत्र महादेवि शिव एव न संशयः ।
धन्यास्ते पुरुषा लोके पुण्यात्मानो महेश्वरि ।।९।।
ये वदंत्यपि केदारं गमिष्याम इति क्वचित् ।
देवेशि पितरस्तेषां त्रिशतं कुलसयुताः ।।१०।।
गच्छंति शिवलोके तु सत्यं सत्यं न संशयः ।
यथा सतीनां त्वं चैव देवानां च यथा हरिः ।।११।।
सरसां सागरो यदवत्सरितां जान्हवी यथा ।
पर्वतानां यथाहं वै योगीनां याज्ञवल्क्यकम् ।।१२।।
भक्तानां च यथा देवि नारदो भक्त ईरितः ।
शिलानां च यथा शालिग्रामशिला तु वैष्णवी ।।१३।।
अरण्यानां यथा प्रोक्तं बदर्य्यारिण्य संज्ञितम् ।
धेनूनां च यथा कामधेनुर्वै परिकीर्तिता ।।१४।।
मनुष्याणां यथा विप्रो विप्राणां ज्ञानदो यथा ।
स्त्रीणां पतिव्रता यद्वत्प्रियाणां पुत्र एव च ।।१५।।
पदार्थानां यथा स्वर्णं मुनीनां च यथा शुकः ।
सर्वज्ञानां यथा व्यासो देशानामयमेव च ।।१६।।

नराणां च यथा राजा सुराणां वासवस्तथा ।
वसूनां धनदो यद्वत्पुरीणां मामकी यथा ।।१७।।
रंभा चाप्सरसां यद्वग्गंधर्वाणां च तुंबुरुः ।
क्षेत्राणां च यथा प्रोक्तं क्षेत्रं केदार संज्ञितम ।।केदार० ४१,१८

भगवान् कहते हैं :

गंगाद्वार से प्रारम्भ होकर श्वेतान्तपर्यन्त, तमसा नदी के तट से पूर्व एवं बौद्धाचल (बाधाण) से पश्चिम, केदारमंडल के नाम से प्रसिद्ध, समस्त पृथ्वी से भिन्न यह स्थल है । यह पचास योजन चौड़ा और बीस योजन लम्बा महातीर्थ, पृथ्वी में स्वर्ग की स्थापना करने वाला है । इस तीर्थ के सेवन से अनेक महापुरुषों को शुद्धि प्राप्त हुई । यह परमोत्तम स्थान देवताओं के लिये भी दुर्लभ है ।

जैसे मैं सबसे प्राचीन हूँ, उसी प्रकार यह केदार क्षेत्र भी प्राचीन है । जबकि मैं ब्रह्ममूर्ति धारण कर सृष्टि-रचना में प्रवृत्त हुआ, तब मैंने इसी स्थान में सर्व प्रथम सृष्टि-रचना की । हे महादेवी ! यहाँ प्राण त्याग कर जीव निःसन्देह शिवरूप हो जाता है । हे माहेश्वरी ! उन पुण्यात्मा पुरुषों को धन्य है, जो कहते हैं कि हम कभी केदारक्षेत्र को जायेंगे और हे देवेश्वरी ! इस बात में कोई सन्देह नहीं कि उनके पितर तीन सौ कुलों सहित शिव-लोक प्राप्त करते हैं । जैसे पतिव्रताओं में तुम, सब देवताओं में विष्णु, सरों में सागर, नदियों में गंगाजी, पर्वतों में कैलास, योगियों मे याज्ञवल्क्य, भक्तों में नारद, शिलाओं में शालिग्राम, अरण्यों में बदरीवन, धेनुओं में कामधेनु, मनुष्यों में ब्राह्मण, ब्राह्मणों में ज्ञानदाता, स्त्रियों में पतिव्रता, प्रियों में पुत्र, पदार्थों में स्वर्ण, मुनियों में शुकदेव, सर्वज्ञों में व्यास, देशों में भारतवर्ष, मनुष्यों में राजा, देवताओं में इन्द्र, वसुओं में कुवेर, पुरियों में काशी, अप्सराओं में रम्भा और गन्धर्वों में तुम्बुरू सर्वश्रेष्ठ है । उसी प्रकार सब क्षेत्रों में केदारक्षेत्र सर्वोत्तम है ।

● ●

आर्यों के आदिस्थान के सम्बन्ध में विभिन्न मत

भारतवर्ष का इतिहास जो विद्यालयों में पढ़ाया जाता है, उससे पाठकों पर यही प्रभाव पड़ता है कि भारतवासी विदेशियों की संतान हैं; भारतवर्ष का प्राचीन काल में अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। भारतवर्ष में जो-कुछ गौरवपूर्ण है, वह विदेशी आगन्तुकों की देन तथा जो-कुछ गर्हित, लज्जाजनक और तुच्छ है, वह यहाँ की मौलिक उपज है। राज्य, व्यापार एवं धर्म-विस्तार के उद्देश्य से लिखे गये, इन विदेशी इतिहासकारों के उक्त अभिमतों पर आधारित इतिहास के पठन-पाठन से जब प्रति दिन हमारा अपने देश से, अपने आर्य-ऋषियों की सांस्कृतिक धरती से सम्बन्ध-विच्छेद होता जाता है, तो हम अपने को अत्यन्त निरुद्देश, निराश्रित एवं नगण्य समझने लगते हैं और तब हममें क्रमशः अपने दैनिक जीवन, रहन-सहन, आचार-व्यवहार के लिये पूर्णतः विदेशियों की कृपा-दृष्टि पर ही निर्भर रहने की हीन भावना उत्पन्न हो जाती है।

आर्यों के आदि देश के सम्बन्ध में भी अधिकतर इतिहासकारों का यही दृष्टिकोण रहा है। इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक वस्तुस्थिति को उन्होंने काफी तोड़-मरोड़ कर अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है; फिर भी कुछ इतिहास-कारों के अनुसंधान, अध्ययन और मनन की गंभीरता स्तुत्य है; परन्तु अपूर्ण मानव से, संसार के समस्त देशों-प्रदेशों की प्राचीन और अर्वाचीन भौगोलिक एवं सामाजिक स्थिति के सम्पूर्ण ज्ञान की आशा असम्भव है। विशेषकर जब सब इतिहासकार हिमालय के इस अलंध्य-पर्वत-प्रदेश से प्रायः अपरिचित ही रहे हैं, उनसे उसके सम्बन्ध में तथ्यपूर्ण सामग्री की सम्भावना नहीं हो सकती है। यही कारण है कि इस प्रदेश की भौगोलिक एवं सामाजिक अवस्था, वैदिक आर्यों की वस्तु-स्थिति से कहाँ तक मेल खाती है, इसका गवेषणापूर्ण उल्लेख वर्तमान इतिहासकारों के इतिहासों में अप्राप्य है।

सन् १८७६ के लगभग सर विलियम जौन्स, संस्कृत साहित्य के अध्ययन-मनन के पश्चात्, मातृ (अंग्रेजी-**मदर**, फारसी-**मादर**) पितृ (अं०-**फादर** फा० **पिदर**) आदि कुछ संस्कृत-शब्दों के मौलिक तत्त्वों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन भाषा-शब्दों के बोलने वालों के पूर्वज सजातीय थे और मूलतः एक ही स्थान पर रहते थे। भाषा-शब्दों के इस वैज्ञानिक विश्लेषण से भारतीय एवं विदेशी भाषाविदों द्वारा अनेक मतों का आविर्भाव हुआ। अपनी राजनीतिक

आकांक्षाओं से पीड़ित कुछ पाश्चात्य इतिहासकारों का मत है कि यूरोप में यूराल पर्वत से उत्तरी जर्मनी होते हुये अंधमहासागर तक फैला हुआ मैदान आर्यों का आदि-देश था। कुछ इतिहासकार मध्य एशिया में, कास्पियन सागर के आस-पास आर्य जाति का मूल स्थान मानते हैं। प्रायः अधिकांश यूरोपियन इतिहासकार इस मत के समर्थक हैं। लोकमान्य तिलक ने **'अवर आर्कटिक होम इन दि वेदाज'** में बताया कि आर्य उत्तरी ध्रुव में रहते थे, वहाँ से भयंकर हिमपात के कारण वे इस भू-भाग को छोड़कर अन्यत्र चले गये। श्रीनारायण पावगी ने **'फ्राम दि क्रैडल टु दी कौलीनीज'** में आर्यों का सप्तसिन्धु से उत्तरी ध्रुव में जाने का उल्लेख किया है। महर्षि दयानंद सुमेरु-कैलाश के निकट, त्रिविष्टप (तिब्बत) को आर्यों की जन्मभूमि मानते हैं उनके कथनानुसार त्रिविष्टप में मनुष्य की आदि सृष्टि हुई और आर्य लोग, सृष्टि के आदि में कुछ काल पश्चात् तिब्बत से सीधे इसी देश में आकर बसे थे। प्रोफेसर बेनफे इससे सहमत हैं। वे लिखते हैं कि आर्य कुछ समय तिब्बत में रहे। वे गढ़वाल और कुमाऊँ की उपत्यकाओं से होकर भारत में आये। हर्नले और प्रो० बेबर ने भी इसका समर्थन किया है। एटकिन्सन साहब ने भी **'हिमालयन गजेटियर्स'** (पृष्ठ २८५) में ऋग्वैदिक गढ़वाल का महत्व स्वीकार किया है। वे लिखते हैं कि वैदिक विद्यार्थियों को वेदों में आर्यों के ऐसे संस्मरण प्राप्त हुये हैं जो पूर्णतः गढ़वाल पर लागू होते हैं। अल्बेरूनी भी हिमालय को आर्यों का आदि स्थान मानता है। उसके कथनानुसार, वे वहाँ से प्रतिकूल जल-वायु के कारण आर्यावर्त्त में आकर और वहाँ अनेक जाति-उपजातियों में बँटकर पीछे अनेक भू-भागों में बिखर गये। श्री भगवद्दत्त **'वैदिक वाङ्मय का इतिहास'** (पृष्ठ १३६) में विश्व की भिन्न-भिन्न आधुनिक जातियों को आर्यों के मूलस्थान हिमालय से निकली हुई मानते हैं। उनके कथनानुसार आर्य हिमालय से सीधे आकर भारतवर्ष में बसे। मध्य एशियावाद के समर्थक मैक्समूलर साहब भी (**इंडिया : ह्वाट इट कैन टीच अस**) अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आर्यावर्त्त का प्राचीन देश ही, गोरी जाति का उत्पत्ति-स्थान है। भारतभूमि ही मानव जाति की माता और विश्व की समस्त परम्पराओं का उद्गम स्थल है। उत्तर भारत से ही आर्यों का अभियान फारस की ओर गया।

भूगर्भशास्त्री मिडलीकट ने **'मैन्युअल ऑफ इंडियन ज्योलोजी'** (पृ० २४, २५ में) कुमाऊँ के उत्तर में सिलूरियन फौसिल पर्याप्त मात्रा में प्राप्त किये हैं। कई इतिहासकारों का कथन है कि पृथ्वी के शीतल एवं जीवन के पोषण योग्य हो जाने के पश्चात् सर्व प्रथम मध्य हिमाचल के इस समशीतोष्ण शिवालिक पर्वत क्षेत्र में प्रवाहित सरस्वती का तटवर्ती क्षेत्र, जिसका ऋग्वेद में सबसे अधिक स्तवन है, मानव-जीवन का उत्पत्ति स्थल है।

श्री अविनाशचन्द्र दास '**ऋग्वैदिक इंडिया**' में भूगर्भ-शास्त्र के अनुसंधानों के आधार पर सप्तसिन्धु (पंजाब) को आर्यों का आदि स्थान प्रमाणित करते हैं। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने भी '**आर्यों का आदि देश**' में सप्तसिन्धु पंजाब को ही आर्य जाति का मूल-स्थान सिद्ध किया है। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार अपने '**इतिहास-प्रवेश**' में लिखते हैं कि "भारतीय आर्यों की अपनी अनुश्रुति अर्थात् परम्परागत आख्यानों में उनके उत्तर-पश्चिम से आने की बात कहीं नहीं है। इसके विपरीत उसमें ऐसी चर्चा है कि वे सरस्वती से कांठे से भारत के अन्य भागों की तरह उत्तर-पश्चिम की ओर फैले। साथ ही कैलाश-मानसरोवर-प्रदेश और मध्य हिमालय के स्थानों की चर्चा भारतीय आर्यों की प्राचीन अनुश्रुतियों में है, परन्तु उत्तर भारत में बसने के बाद, उन प्रदेशों की ओर फैलने का कोई उल्लेख नहीं है। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों की एक शाखा पूर्वी-मध्य-एशिया अर्थात् तारीम कांठे से नये चरागाहों की खोज करती हुई, पश्चिमी तिब्बत की ओर बढ़ी और उसके दक्षिण छोर पर पहुँचने के बाद, लगभग ३००० ई० पूर्व हिमालय के नीचे, उत्तर गंगा-यमुना-सरस्वती कांठों से आयी। अलकनंदा (दून) गढ़वाल हिमालय के भीतर कश्मीर तक फैल गयी।"

आर्यों के आदि देश के सम्बन्ध में उपर्युक्त मतों का निष्कर्ष यह है :

(१) यूरोप का उत्तरी मैदान।

(२) मध्य-एशिया।

(३) उत्तरी ध्रुव।

(४) सप्तसिन्धु (पंजाब)।

(५) सरस्वती के कांठे अर्थात् मध्य-हिमालय में बदरीकाश्रम के निकट सरस्वती नदी का तटवर्ती क्षेत्र, जिसका प्राचीन नाम ब्रह्मावर्त्त, हिमवन्त, कैलास, सुमेरु, स्वर्ग, गन्धमादन, केदारखण्ड, उत्तराखण्ड एवं वर्त्तमान नाम गढ़वाल है।

आर्यों के आदि देश के सम्बन्ध में, आर्य-भाषा, आर्य-सभ्यता एवं आर्य संस्कृति की सबसे बड़ी निधि **ऋग्वेद** है। यह आर्यों का ही नहीं विश्व का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। उसकी यह प्राचीनता सर्वमान्य है। जिस देश में आर्य जाति का यह प्राचीन धर्मग्रन्थ, अविच्छिन्न रूप से प्रचलित रहा हो, वही विश्व का प्राचीन देश, आर्यों का आदि देश है। उसके कुछ मंत्रों की रचना आज से हजारों वर्ष पूर्व प्रमाणित हो चुकी है, परन्तु कुछ पश्चात्य इतिहास-लेखक आज से प्रायः उन्हें ३५०० से ४००० वर्ष पूर्व का नहीं मानते। वे अपनी धर्म-पुस्तक '**बाइबल**' के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति को आज से केवल ८५०० वर्ष पूर्व मानते हैं। अतः वे उससे पूर्व संसार में किसी भी सभ्यता और किसी भी सांस्कृतिक विकास की कल्पना नहीं करते; किन्तु वास्तविकता यह है कि ऋग्वेद

आज भी—हजारों वर्षों से आर्यावर्त्त में आर्यजाति द्वारा सबसे अधिक पूज्य एवं प्रतिष्ठित है। भाषाशास्त्रियों के कथनानुसार उसके भाषा-शब्द व्याकरण और धातुओं की दृष्टि से ईरानी, यूनानी, लातीनी, ट्यूरनी, केन्ट और स्लाव भाषाओं से मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि उनके भाषा-शब्दों के बोलने वालों के पूर्वज किसी समय ऋग्वेद के मूलस्थान में रहते थे और वहाँ से चलकर अलग-अलग देशों में फैल गये।*

कुछ पाश्चात्य भाषाविदों का यह कथन है कि यूरोप की लिथुआनिया भाषा सबसे प्राचीन है। उसमें प्राचीन भाषा का रूप विद्यमान है। इसके उत्तर में होफर आदि विद्वानों ने लिखा है कि आर्यों की भाषा का अत्यन्त प्राचीन रूप **'ऋग्वेद'** और **'अवेस्ता'** में सुरक्षित है। इसके समर्थन में इसाक टेलर ने अपने **'ओरिजन ऑफ आर्यन'** में लिखा है कि आर्य-जाति का आदि देश वह है जहाँ संस्कृत और जेन्द बोली जाती थी। लिथुआनिआई साहित्य अठारहवीं शताब्दी से शुरू होता है, जब कि संस्कृत-साहित्य लगभग हजारों वर्ष प्राचीन है। आजीवन वैदिक संस्कृत का अध्ययन करने वाले विद्वान मैक्समूलर **'इंडिया : व्हाट इट कैन टीच अस'** में लिखते हैं—'यदि आदि मानव से हमारा आशय उन लोगों से है जो आर्य-जाति से प्रथम हुये हैं और जो अपने अस्तित्व का चिन्ह अपने पीछे साहित्य में छोड़ गये हैं तो मेरा विश्वास है कि वैदिक कवि ही आदि मानव है; वैदिक भाषा ही आदि भाषा है; वैदिक धर्म ही आदि धर्म है और जो बात हमें अपनी जाति के इतिहास में शायद ही प्राप्त हो, उसकी अपेक्षा अधिक आदिम वे ही हैं।'

ग्रियर्सन ने अपनी रिपोर्ट **'ऑन दि लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया'** में लिखा है कि 'भारतीय मानव स्कन्ध से उत्पन्न भारत-तूरानी अपने को वास्तविक अर्थ में साधिकार आर्य कह सकते हैं किन्तु हम अंग्रेजों को अपने को आर्य कहने का अधिकार नहीं है।'

'अवेस्ता' के भाषान्तरकार स्पीजल साहब **'अवेस्ता का अनुवाद'**, द्वितीय भाग में लिखते हैं कि उस वैदिक संस्कृति से, जैसी वह वेदों में लिपिवद्ध की गयी है, अन्य कोई भाषा अधिक प्राचीन एवं पुराने रूपों वाली आदिम भाषा नहीं है। इस मत के समर्थन में कर्जन **'रायल एशिआटिक सोसाइटी जर्नल ऑफ ग्रेट ब्रिटेन'** में लिखते हैं—प्राचीन फारसवालों ने अपनी भाषा आर्य जाति से प्राप्त की है। वे स्वयं भी उन्हीं लोगों की औलाद थे। ये लोग अपने वन्धु-बान्धवों से अलग होकर पश्चिम प्रदेशों में जा बसे थे, अथवा धार्मिक मत-भेदों से उत्पन्न गृहयुद्धों के कारण अपने आदि देश से निकाल दिये गये थे।

***हिन्दू सभ्यता—राधाकुमुद मुकर्जी, पृष्ठ ७०।**

भाषाविज्ञान और नृवंश-विद्या दोनों के आधार पर कर्जन साहब पुनः लिखते हैं कि—आर्यावर्त्त हमारी जन्म भूमि है, वह हमारा आदि देश है। उसके अतिरिक्त हमारा अन्य कोई उत्पत्ति-स्थान नहीं है। भारतवर्ष के प्राचीन आर्य, हिन्दू किसी अन्य देश से आर्यावर्त्त में आये हैं, यह कल्पना निराधार है। इसके विरुद्ध ऐतिहासिक तथ्य इस प्रमाण की पुष्टि करते हैं कि प्राचीन जाति का अभ्युदय, सभ्यता तथा कला-कौशल में उनकी उन्नति उन्हीं के देश की उपज है। इन सब बातों की उत्पत्ति के लिये दीर्घकालीन अवधि अपेक्षित है।

मेगस्थनीज लिखता है कि—समस्त भारत एक विशाल देश है और उसमें विभिन्न जाति के लोग निवास करते हैं। उसमें एक भी व्यक्ति मूलतः विदेशी वंश से उत्पन्न नहीं है, वरन् समस्त भारत के आदि निवासियों की सन्तान हैं।

फ्राँसीसी विद्वान् क्रूजर की घोषणा है कि यदि संसार में कोई देश मानव जाति का जन्म स्थान या मानव की आदि-सभ्यता का क्रीड़ास्थल होने का सम्मान प्राप्त कर सकता है, और जिनके द्वारा विद्या का वरदान, जो मानव जाति का पुनर्जीवन है, प्राचीन काल के संसार के समस्त धर्मों तक पहुँचाया गया है, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह देश भारतवर्ष ही है।

नृ-वंश-शास्त्रियों के अन्वेषणों के आधार पर योरोप के वर्तमान निवासी स्लाव, केल्ट, सेक्सन आदि संस्कृत के सजातीय भाषा-भाषी लोग एशिया के तूरानी वंश से सम्बन्धित 'को मैग्नार्ड' (आयत कपाल वाले मनुष्यों) की संतान हैं। आज से लगभग २५००० वर्ष पूर्व जलप्लावन के अन्त में आर्यों-द्वारा पराजित असुरोपासक आर्यों का दल जो पश्चिमोत्तार एशिया की ओर गया, उसने बर्वर तूरानियों से, सांस्कृतिक सम्बन्धों द्वारा, असुर राज्य की स्थापना के बाद, आधुनिक यूरोपियन आर्यों को जन्म दिया। यह मत अधिकांश ग्राह्य, युक्तिसंगत और अधिक विद्वानों द्वारा मान्य है। अमेरिकन भूगर्भशास्त्री डॉ० डान के कथनानुसार दक्षिण-पश्चिम एशिया में ही कहीं सर्व प्रथम मानव जीवन का आविर्भाव हुआ है। विद्वानों का मत है कि स्तनधारी प्राणी एशिया से ही यूरोप आया है। आदि काल में यूरोप के जलवायु मानव-उत्पत्ति के सर्वथा अनुपयुक्त था।

इतिहासकारों का मध्य एशियावाद भी दोषपूर्ण प्रमाणित हो चुका है। पुरातत्ववेत्ताओं के कथनानुसार अंतिम भौगोलिक युग तक अर्थात् १२,००० से १००० ई० वर्ष पूर्व, समस्त मध्य एशिया भूमध्य सागर के अनेक दलदलों के कारण मनुष्य-निवास के सर्वथा अयोग्य था। अनेक विद्वानों का मत है कि पामीर का प्लेटो भो आर्यों के बसने योग्य कदापि नहीं है।

ऋग्वैदिक गृह-नक्षत्रों की परिस्थितियों पर आधारित लोकमान्य तिलक की

मान्यताएँ भी कई वैदिक विद्वानों एवं गणितज्ञों द्वारा अमान्य हो चुकी हैं। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने भी '**आर्यों का आदि देश**' में लोकमान्य के अनुमानों का युक्तियुक्त खंडन किया है। डाक्टर साहब ध्रुव देश की पुष्टि में लोकमान्य द्वारा उद्धृत (ऋ० ७।७६।२) 'अभूत् केतुरुपसः पुरस्तात्प्रतीच्यागादधिहर्म्येभ्यः' मंत्र के प्रतीची शब्द से ही प्रमाणित किया है कि ऋग्वैदिक आर्यों का उषा का केतु प्रतीची (पूर्व) दिशा में दिखायी देता है। यह बात ध्रुव देश में नहीं होती। वहाँ तो उषा का केतु दक्षिण में दिखायी देता है। श्री नारायण पावगी ने अपनी पुस्तक '**दि आर्यवर्तिक होम ऐंड दि आर्यन क्रैडल इन दि सप्तसिन्धुज**' में अनेक भारतीय एवं विदेशी भाषाशास्त्रियों, पुरातत्वान्वेषियों एवं भूगर्भवेत्ताओं के निष्कर्षों का सप्रमाण खंडन करके, सप्तसिन्धु को ही आर्य-जाति का मूल स्थान प्रतिपादित किया है। उनका मत है कि आर्य सरस्वती नदी के देश से उत्तरी ध्रुव देशों को गये और वहाँ दीर्घकाल तक निवास करने के बाद महा हिम युग के आरम्भ होने पर, जब जलप्लावन ने वहाँ की भूमि को आप्लावित कर दिया, तो वे हिमालय के मार्ग से अपने आदि देश आर्यावर्त्त को लौट गये, क्योंकि '**शतपथ ब्राह्मण**' में वर्णित अपने पूर्व परिचित उत्तरगिरि का एकमात्र अंतिम सर्वोच्च शरणस्थल उन्हें स्मरण था।

आर्यावर्त्त शब्द से जहाँ किसी अन्य क्षेत्र से आने का बोध होता है वहाँ वैदिक वाङ्मय में आर्य जाति का किसी अन्य देश से यहाँ आने का प्रमाण नहीं मिलता। वस्तुतः आर्य आर्यावर्त्त में मिले हुए, उत्तरी गिरि प्रदेश (ब्रह्मावर्त्त) से, तराई के समुद्र सूख जाने के बाद आर्यावर्त्त में आये थे। अतः उनका किसी अन्य देश से यहाँ आने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रो० टी० मुरो अपनी '**संस्कृत भाषा**' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि भारतवर्ष पर इन्डो-आर्यन आक्रमण अप्रामाणिक है। ऋग्वेद के मूल पाठ में कहीं कोई ऐसी स्मृति का संकेत तक नहीं है कि वे कहीं बाहर से यहाँ आये हैं।

प्रायः सब वैदिक विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि वैदिक वाङ्मय में आर्य जाति का किसी अन्य देश से आने का प्रमाण नहीं मिलता। ऋग्वेद के प्रसिद्ध '**नदी-सूक्त**' में भी आर्यावर्त्त से बाहर किसी अन्य देश की नदियों का नाम नहीं है। '**नदी-सूक्त**' में वर्णित नदियाँ जिस प्रदेश में बहती हैं, वही सप्तसिन्धु देश आर्यों का आदि-देश है। ईसवी से ५००० वर्ष पूर्व सिन्धु घाटी सभ्यता की लिखावटों में वेदों के नामों के उल्लेख से वैदिक सभ्यता की प्राचीनता स्पष्ट है। सिन्धु घाटी के मोहनजोदड़ो, हड़प्पा के अवशेषों में प्राप्त लिपि को चित्रलिपि बतलाते हुये, विश्वविख्यात प्राचीन लिपिविद और बेबीलोनियन इतिहास के आचार्य डॉ० लैंग्डन और डॉ० सी० यफ० गौड़ ने '**साइन लिस्ट**

ऑफ अर्ली इंडसस्क्रिप्ट' में लिखा है कि वे किसी आर्य-भाषा के नाम हैं। भारत में आर्य-जाति उससे कहीं अधिक प्राचीन है, जितना अब तक इतिहास में बतलाया गया। भारतीय आर्य, आर्य जाति के सबसे अधिक प्राचीन प्रतिनिधि हैं। सिन्धु घाटी में प्राप्त उन अवशेषों से यह स्पष्ट हो गया कि— ई० पू० १७०० के लगभग, एशिया माइनर में अनातोलिया से होकर आर्यों का अभियान भारत में पहुँचा, गलत है।

डाक्टर सम्पूर्णानन्द **'आर्यों का आदि देश'** में लिखते हैं कि विद्वानों का बहुमत भी यही है कि आर्य नाम उन्हीं लोगों के लिये उपयुक्त है, जो भारत के वैदिक काल के आर्यों तथा प्राचीन पारसियों (ईरानियों) के पूर्वज थे। जो आर्य उपजाति थी उसकी दो ही निश्चित शाखाएँ हुईं। एक वह जिसका सम्बन्ध भारत से हुआ, दूसरी वह जिसका सम्बन्ध ईरान से हुआ। पहिले की भाषा संस्कृत, दूसरे की जैन्द या पहलवी थी। पहिले का धर्म-ग्रन्थ वेद, दूसरे का अवेस्ता है। किसी समय यह दोनों एक थे। इसके तो शत-शत प्रमाण हैं।

श्री रामदास गौड़ **'हिन्दुत्व'** में लिखते हैं—कि इन मंत्रो से केवल यह विदित होता है कि जिनके सम्बन्ध में यह कथन है, वे पहले कहीं और जगह रहते थे। ओक्स, आवर्त, अयन आदि स्थान के सूचक हैं। सम्भव है कि ओक्स किसी स्थान का रुद्ध नाम ही हो। सायणादि ने आर्यावर्त्त से बाहर किसी स्थान का नाम नहीं बताया है। दूसरे मंत्र में शुनःशेष के पूर्व स्थान का निर्देश करते हुये दूसरा नाम जह्नायाम भी कहा है। यदि जन्हावी या जान्हवी अर्थात् गंगानदी निर्दिष्ट है तो जन्हुदेश का (जोनपुर-रंवाई-टिहरी गढ़वाल) पहाड़ से सम्बन्ध हो सकता है। ऋग्वेद (१।१६।१९) में भी महर्षि जन्हु और उनकी सन्तति का उल्लेख हुआ है।

जान्हवी नदी उत्तरकाशी, टिहरी गढ़वाल के क्षेत्र में, भैरोंघाटी में भागीरथी गंगा से मिलती है। शुनःशेप की जन्म भूमि यही देश है।

गौड़ जी आगे लिखते हैं :

'अवर आर्कटिक होम इन दि वेदाज' में श्री तिलक महाराज ने सुमेरु-वर्णन से यह निष्कर्ष निकाला है कि आर्यों का प्रचीन निवास कहीं ध्रुवीय प्रदेश में था। उसके सम्वन्ध में श्री पावगी आदि अनेक विद्वानों की यह धारणा है कि आर्य-जाति यहाँ से प्रालेयु-प्रलय में उस प्रदेश में गयी और फिर साधारण समय आने पर लौटी। 'आवर्त्त' शब्द जाकर लौट आने की स्पष्ट सूचना देता है। दूसरे विद्वानों का यह मत है कि किसी सुदूर प्राचीन युग में आर्यावर्त्त में अयन गति के कारण वह अवस्था थी जो श्री तिलक महाराज ने ध्रुव प्रदेश की समझी थी। इसके सिवाय किसी भी मंत्र से यह सिद्ध नहीं होता है कि आर्य

जाति ध्रुवीय प्रदेश से ही आकर आर्यावर्त्त में बसी । ऋतु की विविध दशाओं का वर्णन भिन्न-भिन्न कालों का एक ही देश के सम्बन्ध में अथवा भिन्न देशों का एक ही काल के संबंध में, अथवा भिन्न-भिन्न कालों का विविध देशों के सम्बन्ध में हो सकता है । इन तीनों सम्भावनाओं की संगति होने से यह एक-एक देशीय निश्चय आर्य-जाति बाहर से ही आयी समीचीन नहीं समझा जा सकता है ।

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के कथनानुसार आर्यों का मूल उद्गम (१) ऐल (२) सौद्युम्न और (३) मानव, इन तीन वंशों से आरम्भ होता है । ऐलों का मूल निवास कहीं मध्य हिमालय का प्रदेश या उत्तरी देश था । आर्यों का उत्तर पश्चिम से या भारत को, बाहर से, अथवा पश्चिम से पूर्व की ओर आने का तनिक भी कहीं उल्लेख नहीं है । इसके विपरीत ऐलों के इस देश से बाहर जाने और उत्तर-पश्चिम की ओर से सिन्धु पार के देशों में फैल जाने का वर्णन आता है । ऋग्वेद में (१०।७५] गंगा से लेकर नदियों की सूची पूर्व से उत्तर पश्चिम की ओर बढ़ती हुई दी गयी है, जो कि ऐलों के उत्तर-पश्चिम के बाहर उनके विस्तार को प्रमाणित करती है । ऋग्वेदीय दाशराज युद्ध में उत्तर पांचाल के ऐल राजा सुदास का जिसके विरुद्ध यह युद्ध लड़ा गया, पश्चिम की ओर पंजाब में घुस कर दिग्विजय करने का वर्णन है । वह इस मत के भी अनुकूल है कि ऋग्वेद का अधिकांश भाग गंगा-यमुना की अन्तर्वेदी के ऊपरी भाग में गया ।—(हिन्दू-सभ्यता, पृ० १५२) ।

आर्य मध्य-एशिया अथवा किसी अन्य देश से भारतवर्ष में आये हैं, यह तर्क हास्यास्पद है । जिन आर्यों ने सप्तसिन्धु से बाहर के निवासियों को अत्यन्त घृणापूर्वक म्लेच्छ घोषित किया है, कहा है कि वे स्वयं म्लेच्छ-देशों से आये हैं, यह घोषणा युक्तिसंगत नहीं है । लार्ड एलफिन्स्टन आज से एक सौ वर्ष पूर्व अपने '**भारत के इतिहास**' प्रथम भाग, पृ० ९५ में लिखते हैं :

यह कथन कि हिन्दुओं की उत्पत्ति विदेशों से है तथ्यहीन है; क्योंकि न तो स्मृति-ग्रन्थों में, और मेरा विश्वास है कि न वेदों में और न किसी अन्य ग्रन्थ में, जो स्मृति-ग्रन्थों एवं वेद-वाङ्मय की अपेक्षा अधिक प्राचीन हों, उनके मूलस्थान के सम्बन्ध में भारतवर्ष से बाहर अन्य किसी देश की ओर कोई संकेत है । हिमालय की पर्वतमाला के अतिरिक्त जिसको उन्होंने देवताओं का निवास-स्थान बताया है, और अधिक आगे पुराणों की कोई कथा नहीं पहुँचती ।

आर्यावर्त्त के सम्बन्ध में अनेक प्रतिकूल मतों के बावजूद, अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी निष्पक्ष सम्मति देकर उसकी प्राचीनता भी स्वीकार की है ।

आर्यावर्त्त के आर्य-रक्त से यूरोपियन जातियाँ कितनी प्रभावित हैं उसके समर्थन में एक फ्रांसिसी विद्वान् एम० लुई जैकोलियट **'बाइबिल इन इंडिया'** में लिखते हैं :

भारत विश्व का आदि देश है, वह सबकी जननी है। भारत आपको मनुष्य जाति की जननी और हमारी समस्त परम्पराओं का जन्मस्थान विदित होगा। उस प्राचीन देश के विषय में, जो गोरे लोगों का जन्म-स्थान है। हमको वास्तविक तथ्यों का परिचय मिलने लग गया। इस सार्वभौमिक जननी ने अपनी संतति को पश्चिम के अंतिम छोर तक भेजकर हमारी उत्पति से सम्बन्धित अकाट्य प्रमाणों द्वारा, हम लोगों को अपनी भाषा, अपना नीति-शास्त्र, आचरण साहित्य और धर्म प्रदान किया है। अपनी उष्ण-जन्म-भूमि से दूर, फारस, अरब, मिश्र की यात्रा करते हुये, शीतप्रधान और मेघावृत उतरी देशों की ओर भी अपना मार्ग प्रशस्त करते हुये, वे लोग भले ही अपना मूल स्थान भूल गये हों, हिमाच्छादित प्रदेशों के हिम से, उनका शरीर-चर्म, सफेद या भूरा ही क्यों न हो गया हो, परन्तु जैसे वास्तविक तथ्यों को प्रमाणित करने के लिये साक्षी की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार भाषा-विज्ञान मानता है कि भाषा-शब्दों के प्राचीन रूपों का उत्पति-स्थान पूर्व ही है। हम भारत के शब्द-शास्त्रियों के समक्ष उनके परिश्रम के लिये आभारी हैं; क्योंकि हमारे वर्तमान भाषा-शब्दों के मूल और उनकी धातुओं का पता वहाँ मिलता है। मिश्री, हिब्रू, ग्रीक और रोमन कानूनों पर मनु का प्रभाव स्पष्ट है।

'इंडिया इन ग्रीस' (पृ० २६) में श्री पोकाक कहते हैं :—मानव-जाति का वह शक्तिशाली अभियान, जिसने पंजाब की अनुल्लंघनीय दीवारों को पार किया, विश्व की नैतिकता की वृद्धि में अपने लोककल्याणकारी उद्देश्य की पूर्ति के लिये यूरोप और एशिया की ओर अपने निश्चित राजपथों से होकर बढ़ता गया; पश्चिमोत्तर में सिन्धु को पार कर जो उत्पीड़ित मानव समुदाय आया वह विज्ञान और कला के बीजों को भी साथ लेता गया। ब्राह्मण और बौद्धधर्म से आज भी एशिया का वृहत्तर भाग प्रभावित है। ब्राह्मणधर्म और बौद्धधर्म के दीर्घकालीन संघर्षों से पराजित बौद्धधर्म अपने उत्पीड़कों से दूर बैक्ट्रिया, फारस माइनर, यूनान, फैनिशिया और ग्रेट-ब्रिटेन को चला गया और अपने प्राचीन ऋषि-पूर्वजों की श्रद्धा, आश्चर्यजनक व्यवसायकुशलता एवं ज्योतिष और तंत्र-मंत्र-विद्याओं की असाधारण क्षमता भी साथ लेता गया।

'नेशन्स ऑफ ऐंटिक्वेटी' के लेखक कुक टेलर **'दि स्टुडेन्ट मैन्युअल ऑफ ऐनशियेन्ट हिस्ट्री'** में लिखते हैं :

ऐसा अनुमान किया जाता है कि मिश्री सभ्यता को हिन्दुओं से प्रेरणा

मिली होगी, क्योंकि इन दोनों जातियों द्वारा स्थापित संस्थाओं में असंदिग्ध रूप से अनेक समानताएँ हैं। सिन्धु नदी से लेकर अफ्रिका के अंतिम छोर तक, जहाँ आर्य लोग नील नदी तथा मिश्री सीमा के दक्षिणी छोर तक पहुँच चुके थे, उनके द्वारा छोटे-छोटे उपनिवेशों की स्थापना के पुष्ट प्रमाण मिलते हैं। वर्ण व्यवस्था इस जाति में और हिन्दुओं में एक-सी है। श्री थोर्टन भी भारत के इतिहास में स्वीकार करते हैं कि—नील नदी की घाटी में पिरामिडों के निर्माण में अल्प काल ही हुआ था, आधुनिक सभ्यता की जन्म-भूमि यूनान और इटली जब अर्धसभ्यों का ही निवास-स्थान था, तब भारत समृद्धिशाली और गौरवपूर्ण हो चुका था।

१९०७ में जर्मन-विद्वान् ह्यविंकेल्पर को तुर्की के वोगजकोई गाँव में मिट्टी की पट्टियों पर खुदे हुये मितन्नी राजवंश के कुछ संधिपत्र प्राप्त हुये हैं जो ईसवी पूर्व १४वीं शताब्दी के हैं। उनमें मित्तर, वरुण, इन्दर एवं नासत्य आदि ऋग्वैदिक देवताओं का आवाहन किया गया है। इन पट्टियों में फिलस्तीन के राजाओं का नाम सुबन्ध, ऋतोत्तम, मातृवान तथा मितन्नी के राजा का नाम दशरथ लिखा है। मिश्र के साथ इस राजवंश के वैवाहिक संबन्धों के कारण उस युग में मिश्र के इतिहास में भी दशरथ आदि उक्त राजाओं का ऐतिहासिक अस्तित्व प्रमाणित है। इससे स्पष्ट है कि आज से साढ़े तीन हजार वर्ष पूर्व सुदूर एशिया माइनर तक के अनेक देश ईरान, मेसोपोटामिया, अरब, फिलिस्तीन, मिश्र और टर्की भारतीय संस्कृति से प्रभावित थे।

अमेरिका में आर्य-उपनिवेशों के समर्थन में श्री कोलमन '**हिन्दू मैथोलाजी**' (पृ० ३५०) में लिखते हैं :—जर्मन के प्रसिद्ध यात्री और वैज्ञानिक बैरन हम्बोल्ड हिन्दू सभ्यता के अवशेषों के अस्तित्व का उल्लेख जो अमेरिका में आज भी विद्यमान है, करते हैं। मैक्सिको के निवासी ऐसे देवता का पूजन करते थे, जिसका धड़ मनुष्य का और सिर हाथी का था। बैरन हैम्बोल्ट के कथनानुसार स्पष्टतः वह हिन्दुओं का 'गणेश' है। '**मैनुअल ऑव हिस्टोरिकल डेवलपमेंट ऑव आर्ट**' में डॉ० जर्फी, अमेरिका के प्राचीन-भवन-समूहों में कई आश्चर्य-जनक मन्दिरों, दुर्गों, पुलों और नहरों का उल्लेख करते हैं, जो आर्यों द्वारा निर्मित है। '**एशियाटिक रिसर्चेज**' प्रथम भाग (पृष्ठ ४२६) में सर विलियम जान्स भी लिखते हैं कि—राम को सीता का पति और सूर्यवंशी बताया गया है। यह बात अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि पेरू-प्रदेश के लोग अपनी उत्पति 'रामसित्व' से बताकर गर्व अनुभव करते हैं और राम-सीता के नाम से उत्सव मनाते हैं। इससे हमारा अनुमान है कि दक्षिण अमेरिका को आर्य-जाति ने ही बसाया था,

जो सुदूर एशिया से चलकर यहाँ, राम का जीवन-इतिहास तथा रीति-रस्म अपने साथ लेती आयी थी।

इस प्रकार इस संसार में ऐसी कोई जाति नहीं है, जो धर्म एवं सभ्यता की प्राचीनता के सम्बन्ध में हिन्दुओं की बराबरी कर सके

मौर्टन साहब अपने '**भारत के इतिहास**' में लिखते हैं :

जब नील नदी के क्षेत्र मिश्र में पिरामिडों को बने हुए थोड़ा ही समय व्यतीत हुआ था, और यूनान और इटली में जो आधुनिक सभ्यता के आगार माने जाते हैं, अर्द्धसभ्य लोग रहते थे, उस समय भारतवर्ष सर्व सम्पन्न और सभ्यता के पूर्ण शिखर पर आसीन हो चुका था।

श्रीमती विसेंट '**ऑन इंडिया ऐन्ड इट्स मिशन**' में लिखती हैं—यूनान या रोम से भारत अधिक प्राचीन है। यह भारत उस समय भी प्राचीन था जब मिश्र का जन्म हुआ था। यह भारत उस समय भी प्राचीन था, जब चाल्डिया की उत्पत्ति हुई थी। इस भारत का इतिहास जब सहस्रों शताब्दियों तक पहुँच चुका था, तब फारस ने कार्य क्षेत्र में पदार्पण किया था।

अमेरिकन भूगर्भशास्त्री डॉ० डान '**डानाज मैन्युअल ऑफ ज्यालोजी**' (पृ० ५८५) में दक्षिण-पश्चिम एशिया में ही सर्व प्रथम मानव-जीवन का आविर्भाव बतलाते हैं। अन्य वैज्ञानिकों का भी अनुमान है कि पृथ्वी पर एशिया या जम्बूद्वीप सबसे प्राचीन महाद्वीप है, जिस पर जीवन की सृष्टि का आरम्भ हुआ है (हिन्दी विश्व-भारती, पृ० १५८)। अधिकतर विद्वानों का मत है कि मनुष्य सबसे पहले एशिया में ही उत्पन्न हुआ है। सर वाल्टर रेले '**हिस्ट्री ऑव दि वर्ल्ड**' में लिखते हैं कि जल-प्रलय के अनन्तर भारतवर्ष में ही मनुष्य और वृक्ष लताओं की उत्पत्ति हुई, क्योंकि पुरातत्त्वविदों के कथनानुसार मानवों से पूर्व वनस्पति की उत्पत्ति निश्चित है और हलके तापक्रम वाले देश में, उसकी सर्व-प्रथम सृष्टि सम्भव है। मेडलीकट और ब्लम्फर्ड ने **मैन्युअल ऑव ज्योलोजी ऑफ इंडिया**' में लिखा है कि भारत-भूमि में ही प्राचीन काल में समशीतोष्ण तापक्रम के चिन्ह मिलते हैं। अतः यहाँ सर्व प्रथम जीवन-शक्ति के आरम्भ की पुष्टि होती है। टाड साहब '**टॉड्स राजस्थान**' में लिखते हैं कि आर्यावर्त्त के अतिरिक्त अन्य किसी देश में सृष्टि के आरम्भ का अनुमान नहीं किया जाता। आदि सृष्टि यहीं हुई, इसमें सन्देह नहीं।

इस प्रकार विभिन्न इतिहासकार विद्वानों के मतों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि आदि मानव का मूल स्थान आर्यावर्त्त था और वहीं से उसने विश्व के अन्य छोरों में फैल कर अपनी सभ्यता और संस्कृति का विकास किया।

● ●

सप्तसिन्धु मानव का मूल स्थान

इस प्रकार भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों के बावजूद, अनेक भारतीय और विदेशी इतिहासकार आर्यावर्त्त को ही विश्व की समस्त आर्य-जाति का मूल स्थान प्रतिपादित करते हैं। परन्तु आर्यावर्त्त में आर्यों का आदि देश, सप्तसिन्धु किस भाग में था, यह विवादास्पद है। अनेक इतिहासकारों ने पाँच नदियों के देश पंजाब में, एक नदी का नाम, ऋग्वेद में वर्णित 'सिन्धु' होने के कारण, अनेक प्रतिकूल तथ्यों के बावजूद पंजाब को ही सप्तसिन्धु घोषित किया है। श्री अविनाशचन्द्र दास, श्री नारायण पावगी और डॉ० सम्पूर्णानन्द ने भी विविध समाधानों द्वारा, पंजाब का ही प्रतिपादन किया है। किन्तु ऋग्वैदिक सप्तसिन्धु के साथ पंजाब की कहाँ तक, सामाजिक, धार्मिक एवं भौगोलिक वास्तविकता है, पंजाब के अतिरिक्त आर्यावर्त्त के किसी अन्य भू-भाग में ऋग्वैदिक आर्यों एवं उनके सप्तसिन्धु की तथ्यपूर्ण भौगोलिक वास्तविकता प्रमाणित हो सकती है या नहीं, इस पर अभी तक, कोई तर्कसंगत निष्कर्ष एवं तथ्यपूर्ण खोज नहीं की गयी है।

कुछ इतिहासकार मध्य-हिमालय, तिब्बत, कैलास-मानसरोवर के क्षेत्र को भी आर्यों का मूलस्थान मानते हैं। किन्तु इस अलंघ्य पर्वत-प्रदेश की भौगोलिक एवं ऐतिहासिक स्थिति से पूर्ण परिचित न होने के कारण, उनकी स्थापनाएँ अपरिचित एवं अस्पष्ट ही रह कर लोक-सम्मत नहीं हो सकी हैं। स्वा० दयानंद, प्रो० बेनफे, प्रो० बेवर, श्री अटकिन्सन, अल्बेरूनी, श्री भगवद्दत्त, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार और श्री रामदास गौड़ के उपर्युक्त कथनों से जो ध्वनि निकलती है, उसके अनुसार आर्यों का आदि-देश पंजाब नहीं वरन् मध्य हिमालय में, गंगा-सरस्वती के आसपास, कैलास-मानसरोवर का क्षेत्र है। भौगोलिक तथ्यों के अनुसार उसी का प्राचीन नाम हिमवन्त, स्वर्ग, ब्रह्मावर्त्त कुरु, कैलास एवं केदारखंड तथा वर्तमान नाम गढ़वाल है। इसी को अनेक महत्वपूर्ण नदियों का उद्गम एवं संधिस्थल होने के कारण सप्तसिन्धु भी कहा गया है।

वेदों के प्रकांड पंडित स्वा० दयानन्द, श्री अटकिन्सन, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार आदि विद्वानों ने, मध्य-हिमालय में कैलास तक पहुँच कर उक्त क्षेत्र का स्वयं निरीक्षण भी किया है। अतः वहाँ की आँखों देखी वस्तुस्थिति और

ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक तथ्यों के आधार पर, उनका अनुमान अधिक बुद्धिगम्य और वास्तविकता के निकट है।

हाल ही में श्री हरिराम धस्माना जी ने, जो ऋग्वेद के प्रकाण्ड पंडित हैं। अनेक ऋग्वैदिक उद्धरणों द्वारा, आर्यों के आदि देश के सम्बन्ध में एक नया रहस्योद्घाटन किया है। उनके कथनानुसार गढ़वाल की अलकनन्दा ही ऋग्वैदिक सिन्धु है, जिसमें सप्तसिन्धु (गढ़वाल की सप्त सरिताएँ: सरस्वती, धौली, मंदागिनी, पिंडर, मंदाकिनी, नयार) संधि करती है, तथा ऋग्वेद में वर्णित अन्य ९० एवं ९९ नदियाँ एवं नदी-नाले भी मिलते हैं। उनके निष्कर्ष भी अधिक तर्कसंगत और विचारणीय हैं।

केप्टेन सूरजसिंह ने भी (अमृतबाजार पत्रिका, मई १९५८ के दो-तीन अंकों में) अनेक भौगोलिक एवं ऐतिहासिक वास्तविकताओं के आधार पर, कई भू-गर्भ-विशेषज्ञों, पुरातत्त्वान्वेषियों एवं इतिहासकारों के तर्कसंगत प्रमाण प्रस्तुत करके गढ़वाल को ही आर्यों का मूलस्थान प्रमाणित किया है।

अमेरिकन विद्वान् डेविस ने अपने '**हार्मोनिया**' नामक ग्रन्थ (पृ० ३१८) में विश्व में हिमालय को सर्वोच्च पर्वत-शिखर बतला कर उसको ही आदि सृष्टि का उत्पत्तिस्थान घोषित किया है। सृष्टि के आरम्भ में भौगोलिक विप्लवों के कारण जब समुद्र-गर्भ से तरल पदार्थों के बाहर निकलने से सृष्टि का आविर्भाव हुआ तो संसार का सर्वोच्च शैल-शिखर हिमालय ही सर्व प्रथम प्रकट हुआ होगा और उसी पर सर्व प्रथम वनस्पति, चर और अचर की उत्पत्ति भी निश्चित है।

यों तो आर्यावर्त्त के उत्तर में फैला हुआ हिमालय पर्वत हिम का आलय है, परन्तु मध्य हिमालय का गढ़वाल-क्षेत्र जितने ऊँचे और जितने अधिक हिम-शिखरों से आच्छादित है, उतना हिमालय का कोई अन्य पर्वतीय प्रदेश नहीं। हिमालय-पर्यटक सर जौन स्ट्रैची के कथनानुसार 'गढ़वाल के हिम-शिखरों में केवल दो ही हिमशिखर (कामेट और नंदादेवी) पच्चीस हजार से अधिक ऊँचे हैं, परन्तु गढ़वाल कुमाऊँ के हिमालय-पर्वतों की ऊँचाई का अनुपात सबसे अधिक है। बीस मील तक लगातार इसके कितने ही हिम-शिखर बाईस हजार से पच्चीस हज़ार फुट तक ऊँचे हैं।' अतः यह निर्विवाद है कि जब हिमालय समुद्र-गर्भ से बाहर प्रकाशित हुआ तो हिमालय क्षेत्रान्तर्गत गढ़वाल के सबसे ऊँचे और सबसे अधिक पर्वत-शिखर ही सर्व प्रथम दृष्टिगोचर हुए और उसके पश्चात् यहीं मनुष्य, वृक्ष और वनस्पति की उत्पत्ति हुई।

भू-वैज्ञानिकों के मतानुसार समशीतोष्ण जलवायु में ही सर्व प्रथम जीव-जन्तु और वनस्पति उत्पन्न हुई हैं। गढ़वाल में जहाँ १००० फुट से नीचे अलकनन्दा उपत्यका के अन्तर्गत लछमनभूला आदि कुछ स्थानों की जलवायु रेगिस्तान

की भाँति अत्यधिक ऊष्ण है, वहाँ ११-१२ हजार फुट ऊँचे कुछ पर्वत-प्रदेशों में ध्रुवकक्षीय जलवायु भी है, परन्तु इसके अधिकांश भू-भागों में समशीतोष्ण जलवायु पायी जाती है, जो वनस्पति और जीवजन्तु की उत्पत्ति के लिये सर्वथा उपयुक्त है। गढ़वाल के वन बाँज, बाँस और देवदारु के वृक्षों से भरे हुए हैं।

भू-गर्भशास्त्रियों का मत है कि आज से लगभग पच्चीस हजार वर्ष पूर्व गढ़वाल के दक्षिण और विन्ध्य-पर्वत माला के ऊपर तराई भावर में समुद्र लहरा रहा था। आज भी उसकी भौगोलिक स्थिति इसका स्पष्ट प्रमाण है। यह समुद्र अरबसागर से मिलकर, राजस्थान से उत्तर प्रदेश **तथा बिहार** से होता हुआ आसाम तक चला गया था। इसका अर्थ यह है कि उस समय भी तराई भावर से ऊपर समस्त पर्वत-प्रदेश समुद्र-गर्भ से ऊपर था।

'केदारखंड' (११५।२-४) में लिखा है कि हरिद्वार-क्षेत्र में गंगा के पश्चिम तट पर कुशावर्त के नीचे सप्त सामुद्रिक नामक पवित्र तीर्थ हैं। प्राचीन काल में इस स्थान पर सात समुद्रों ने मिलकर शिव की आराधना की थी। **'केदारखंड'** में दो स्थानों पर सप्त सामुद्रिक नामक तीर्थ के उल्लेख से यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल में यहाँ तक समुद्र था।

तराई भावर से ऊपर गढ़वाल के दक्षिण शिवालिक (सपादलक्ष) के पर्वत-गर्तों में जो सत्ताईस हजार किस्म के शिवे पिथेक्स और पेलिओ पिथेक्स नामक मनुष्यवत् बन्दरों के प्राचीन अस्थि-पिंजर प्राप्त हुये हैं, वे पुरातत्त्वान्वेषियों के निष्कर्षानुसार आदि-मानव से सम्बन्धित हैं। वे आदि मनुष्य की उत्पत्ति के आदि अवशेष हैं। इनमें विशालकाय जन्तुओं के शेषांशों की अधिकता है। इस क्षेत्र में प्राप्त ६४ प्रकार के स्तनधारी जन्तुओं में से २५ जन्तुओं का अब भौतिक अस्तित्व ही समाप्त हो गया है। ११ प्रकार के हाथियों में से अब केवल एक ही वर्ग का हाथी उपलब्ध है। जंगली भैंसों के छः वर्गों में से अब दुनियाँ में केवल दो ही किस्में मिलती हैं।

भू-गर्भशास्त्री लैम्पवर्थ लिखते हैं कि शिवालिक-गर्तों में तृतीय कालीन युग के तृतीय श्रेणी की चट्टानें हैं, जिनकी रचना नदियों से है हुई। हिमालय से आने वाली नदियों ने वहाँ से उन्हें यहाँ तक लाकर एकत्र किया है। शिवालिक के इन्ही पर्वत-गर्तों में भारत सरकार द्वारा नियुक्त श्री मेडलीकट, ब्लम्फर्ड और लैम्पवर्थ आदि भू-गर्भ विशेषज्ञों को विश्व में मानव-जीवन के सबसे प्राचीन अवशेष प्राप्त हुये हैं। उनके मतानुसार पंजाब के पूर्वी छोर कुमाऊँ के उत्तर में जीवन के अत्यन्त प्राचीन चिह्न पर्याप्त परिमाण में मिले हैं (**मैन्युअल ऑफ इन्डियन ज्योलोजी**, पृ० २५)।

भू-गर्भ-विशारदों का अनुमान है कि तिब्बत की ओर हिमालय पर्वत में ऐसे पत्थर मिलते हैं, जो पहले वनस्पति और जीव-जन्तु थे। लद्दाख और कश्मीर के बीच की जास्कर पर्वत श्रेणी में भी इस प्रकार के एक जीव नुम्मीलाइट का पता लगा है, जो किसी समय समुद्र में रहता था। इस विचारधारा के अनुसार हिन्दूकुश, अराकान की पहाड़ियाँ, नंगा पहाड़ी और हिमालय का एक बड़ा भाग, जिसमें शिवालिक पहाड़ियाँ भी हैं, बाद में बना। लेकिन इस विचारधारा के अनुसार भी हिमालय का एक भाग सबसे पुराना है, जिसके बारे में आज तक पता नहीं लग सका है कि वह किस युग में बना था। वह भाग है गंगा के स्रोत से लेकर गढ़वाल तक का इलाका, जहाँ के पत्थरों में इस बात का कोई पता नहीं लगता कि वहाँ पर कोई समुद्री जीव रहता था। गढ़वाल से लेकर दार्जिलिंग तक ऐसी पर्वत श्रेणी भी मिलती हैं, जो प्राचीन गोडवाना पर्वत श्रेणी से मेल खाती हैं।

अवर प्रवालादियुग जिन छः युगों में विभक्त किया गया है, उससे दूसरे प्राचीनतम युग को अवर प्रवालादियुग (ओर्डेवीशियन पीरियड) कहते हैं। भारत-वर्ष में इस युग के स्तर—केवल हिमालय के कुछ ही स्थानों में, कुमाऊँ, गढ़वाल और नेपाल में ही मिलते हैं (**हिन्दी विश्वकोश**, पृ० १६६)।

भारतवर्ष के नूतन युग (सीनोजोइक इरा) आज से बीस लाख वर्ष पूर्व भारत, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका का प्रथक्करण है। मध्यकल्प (मेसोजोइक इरा) छः करोड़ पचास लाख वर्ष पूर्व तक ये सारे देश एक-दूसरे से जुड़े हुये थे; परन्तु जिस समय हिमालय का उत्थान आरम्भ हुआ उसी समय भू-गतियों ने इन देशों को एक-दूसरे से पृथक् कर दिया, जिनकी अवधि भी भू-वैज्ञानिकों के मतानुसार साठ लाख वर्ष से अधिक है। उच्च शिवालिक तंत्र के टेट्राट और पिंजर नामक भाग अतिनूतन के अधिकांश भाग के समकालिक हैं। हरिद्वार के समीप प्रसिद्ध शिवालिक पर्वत-माला के ही आधार पर इस तंत्र का नाम शिवालिक तंत्र पड़ा है। अतिनूतन युग के शैल सिन्धु, विलोचिस्तान, पंजाब, कुमाऊँ तथा आसाम के हिमालय की पाद मालाओं में पाये जाते हैं।

इस युग के शैलों में पृष्टवंशियों, विशेषतः स्तनधारियों के जीवांश प्रचुरता से मिलते हैं। यही कारण है कि वे समस्त विश्व में प्रसिद्ध हो गये हैं। इस युग में बसने वाले जीव उन जंगलों में रहते थे, जो नव-निर्मित हिमालय की बाहरी ढालों में थे। उनकी खोपड़ियाँ और जबड़े नीचे बह कर आने वाली नदियों द्वारा बहा लाये गये और अन्ततोगत्वा अति शीघ्र संचित होने वाले अवसादों में समाधिस्थ हो गये (**हिन्दी विश्वकोश**, पृ० ६२)।

भू-गर्भ-शास्त्रियों के साक्ष्यों के आधार पर श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ* यह स्वीकार करते हैं कि पृथ्वी पर मध्य और उत्तरी हिमालय का निर्माण मनुष्य के जन्म से पहले हो चुका था। हिमालय के जन्म के समय पृथ्वी बड़े-बड़े भू-कम्प के कारण डगमगा गयी थी। मध्य हिमालय के उत्थान के समय उसकी दक्षिणी उपत्यका में एक गहरा गर्त बन गया था। वह गर्त या समुद्र एक लम्बे काल तक बना रहा। उसमें उस समय के जीव-जन्तुओं के अवशेष भी, जो हिमालय की नदियों द्वारा बहाकर लाये गये थे, दब गये। उसके बाद कालान्तर में वहीं आस-पास में फिर भूकम्प आया और शिवालिक पर्वत माला का उद्गम हुआ। उसके पास समुद्र का दूसरा गड्ढा बन गया और उसके भरने में उत्तरी भारत का मैदान बना। परन्तु रेउ जी जलप्लावन के समय जब कश्मीर के उत्तर में स्थित हिमालय के किसी शिखर पर मनु की नौका-बन्धन का उल्लेख करते हैं उस समय उनका भी ज्ञान-ध्यान मध्य हिमालय की वस्तुस्थिति के सर्वथा विपरीत सप्तसिन्धु की स्थापना के लिए अन्य इतिहासकारों की भाँति इधर-उधर न जाकर पंचनद (पंजाब) पर ही केन्द्रित रह जाता है और वे भी सप्तस्वषासु ज्येष्ठा सरस्वती की भी कहीं-कहीं कल्पना कर लेते हैं। ऋग्वेद (७।३६।६) के अनुसार सिन्धु में सात नदियाँ संधि करती हैं और उनमें सब में जेष्ठ, शीर्ष स्थान पर—सातवीं सरस्वती है। पाँच नदियों का देश पंजाब यदि आर्यों का सप्तसिन्धु भी है तो वहाँ सप्तसिन्धु में सरस्वती को भी संधि करनी चाहिए। परन्तु इस क्षेत्र में जिस सरस्वती की कल्पना की गयी है, उसका कहीं भी सिन्धु नदी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। वस्तुतः पंचनद (पंजाब) में सप्त सिन्धुओं और आर्यों की पुण्यतोया सरस्वती का भौगोलिक अस्तित्व कोरी कल्पनामात्र है।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय के अनुसार हिमालय की इसी पादमाला (तलहटी) में सर्व प्रथम मानव-सृष्टि हुई। निराकार निर्गुण का साकार रूप में सर्व प्रथम यहीं आविर्भाव हुआ। हरिद्वार से कलालघाटी होकर कण्वाश्रम तक समुद्र-तट पर स्वायंभुव (आदि मनु) से, जिसे '**बाइबल**' और '**कुरान**' में बाबा आदम कहा गया है, आर्यों की आदि सभ्यता का प्रारम्भ हुआ हैं।

डबराल जी '**उत्तराखण्ड का इतिहास**' (पृ० ५४-६०) में लिखते हैं—उत्तराखंड में प्राप्त ताम्रयुगीन और प्रस्तरकालीन अवशेष उसके इतिहास को प्रागैतिहासिक काल तक ले जाते हैं (पृ० १७)। भारत में पाषाण-काल का आरम्भ लगभग छः लाख वर्ष पूर्व हो चुका था। यह इतनी लम्बी अवधि है कि इसके विस्तार का अनुमान लगाना भी दुष्कर है....।

---

*ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० ७४, ७५।

उत्तराखंड के दक्षिणी भागों में हरिद्वार, ऋषिकेश, लछमनभूला तक का प्रदेश जो प्राचीनकाल में 'गंगाद्वार क्षेत्र' कहलाता था, अत्यन्त प्राचीनकाल से मानव की क्रीड़ा-भूमि रहा है। १९५१ ई० में यहाँ हरिद्वार से ८ मील पश्चिम की ओर बहादराबाद नामक स्थान पर गंगा जी की नहर की उपशाखा खोदते समय मजदूरों को ताम्रयुगीन बस्ती के अवशेष मिले थे।

इसी क्षेत्र में २३ फीट नीचे १९५३ ई० में डॉ० यज्ञदत्त शर्मा ने प्रस्तरयुगीन बस्ती का भी पता लगाया था। तेईस फीट नीचे दबी हुई गंगाद्वार संस्कृति आज से कम-से-कम चार सहस्र छः सौ वर्ष पूर्व की मानी जा सकती है।

बहादराबाद उस क्षेत्र के अन्तर्गत है, जहाँ गंगा जी पर्वत से मैदान में उतरती हैं। यहाँ गंगा जी का वेग तीव्र है और वह समय-समय पर अपने तटों पर एकत्र मिट्टी-परतों को बढ़ाती या बहाती रहती है। एक बरसाती नाला भी उस क्षेत्र से होकर बहता था, जिसके नीचे उपरोक्त उपकरण मिले हैं। निश्चय ही गंगाद्वार-संस्कृति का प्रसार उत्तराखंड के दक्षिणी भागों में और गंगा के मैदान के उत्तरी भागों में दूर तक रहा होगा। कनखल से लछमनभूला तक फैले गंगद्वार क्षेत्र में गंगा जी को पार करना अपेक्षाकृत सरल है। उस युग में जब मनुष्य सम्भवतः बाँस के बजड़े या खालों की मशक आदि से नदियाँ पार करता था, इस क्षेत्र की स्थिति महत्वपूर्ण थी। गंगा जी के सारे मैदान में कहीं उपकरण बनाने के लिए पाषाण उपलब्ध नहीं हैं, इसलिए उस युग में गंगा जी के मैदान की बस्तियों को अवश्य गंगाद्वार जैसे क्षेत्रों से, जहाँ उपकरण के लिए शिलाएँ उपलब्ध थीं, उपकरण मँगाने पड़े होंगे।

बहादराबाद में नहर खोदते समय मजदूरों को वहाँ ताम्बे की अनेक रोचक वस्तुएँ प्राप्त हुई थीं, जिनमें बेंट या बिना बेंट वाले भाले, कुल्हाड़ियाँ, तलवारें, भालों की कुन्देवाली नोक आदि मुख्य थी। यहाँ ताम्बे के कुछ कड़े और कुछ चित्रांकन भी मिले थे। गंगा जी के तट से होकर वालावली से लछमनभूले तक चलते समय कुछ स्थानों पर गंगातट से सटे, कई फीट ऊँचे टीले मिलते हैं, जिन्हें गंगा जी ने बीच से काट डाला है। ऐसे स्थानों पर अन्वेषणकर्त्ताओं को विभिन्न युगों के मृतिकापात्र, मुद्राएँ, उपकरण और अन्य महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हो सकती है।

हिमालय का वर्तमान स्वरूप उस हिमालय से सर्वथा भिन्न है, जो पहिली बार समुद्र-गर्भ से ऊपर निकला था। उसमें उस समय इतने ऊँचे-नीचे अलंघ्य गिरि-गह्वर, इतनी गहरी घाटियाँ एवं इतने नदी-नाले, जो कालान्तर में वर्षा-पानी से क्रमशः कट-कट कर बनते चले गये हैं, नहीं थे। समुद्र से बाहर निकलने के लाखों बरस तक हिमालय का यह क्षेत्र भूकम्पों एवं अनेक भौतिक विप्लवों का

केन्द्रस्थल रहा है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर इसके पर्वतों के हिलने-डुलने का उल्लेख है। वनस्पति, जीव और मानव-विकास के साथ समुद्र-तट पर, हिमालय की तलहटी में प्रथम आर्य-नरेश धर्म के प्रथम संस्थापक स्वायम्भुव, मनु का, जिन्हें आदि मनु (बाबा आदम) भी कहते हैं, आविर्भाव हुआ। उनकी कई पीढ़ियों के बाद—छः मन्वन्तरों के बीच, इस प्रकार के छः बड़े-बड़े भौतिक विप्लव हुये, जिनमें मालूम होता है निन्नानवे प्रतिशत जन और धन की क्षति होती रही है। प्रकृति की इस विनाशकारी लीला में यहाँ का सृष्टिक्रम अत्यन्त अस्त-व्यस्त और अस्पष्ट होता रहा है। आर्य-मनीषियों ने सृष्टि की कालगणना करते समय इस अनिश्चित युग को १७२८००० वर्ष का संधिकाल कहा है। परन्तु मालूम होता है कि इन भौतिक विप्लवों में सब कुछ नष्ट होते हुए भी सृष्टि की इन विनाशकारी लीलाओं को बतलाने के लिये सृष्टि-क्रम-सूचक कुछ विशिष्ट जन जीवित भी रहे हैं।

आर्यग्रंथों में दक्ष प्रजापति को ब्रह्मा की अमैथुनी सृष्टि से उत्पन्न कहा गया है। वे ब्रह्मा के दाहिने अँगूठे से और उनकी पत्नी बायें अँगूठे से उत्पन्न हुई थीं। इनकी कन्याओं से अनेक प्रकार के जीव-जन्तु तथा देवता-मनुष्य उत्पन्न हुए (महा०-शान्ति, १६६, १७)। इनकी पुत्री अदिति से आदित्य, दिति से दैत्य, दनु से दानव, कद्रु से नाग उत्पन्न हुए। इन्होंने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ किया और गंगाद्वार भी (जहाँ इनकी राजधानी थी) इनके आवाहन पर सरस्वती (अलकनन्दा जो उस युग में सरस्वती भी कहलाती थी) वहाँ आयी (महा०-शल्य पर्व, ३८)। कनखल में शिवजी द्वारा इनका यज्ञ विध्वंस हुआ। इनकी अन्तिम दस कन्याएँ मनु को ब्याही थीं। वैवस्वत मनु के राजा वेणु हुए, जिनकी राजधानी भी हरिद्वार में ही थी। कनिंघम के अनुसार (ए० ज्यो०, पृ० २६५ से २६७) आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व तक—गंगानहर के तट पर राजा वेन के दुर्ग के अवशेष सुरक्षित थे, जो ७५० फीट लम्बी और इतनी ही चौड़ी भूमि पर फैला हुआ था। इस क्षेत्र में अनेक ऊँचे टीलों के रूप में अनेक प्राचीन महत्वपूर्ण ऐतिहासिक अवशेष मिलते हैं। राजा वेन के बाद उनके पुत्र पृथु राजा हुए, जो आर्य साहित्य में, अपनी आदर्श शासन-पद्धति के कारण प्रथम आर्यनरेश कहलाते हैं। इस प्रकार गंगाद्वार का यह क्षेत्र आर्यजाति का पितृदेश होने के कारण आर्य साहित्य में उसका आज तक आध्यात्मिक महत्व स्पष्ट है।

सप्तम मन्वन्तर वैवस्वत मनु के शासनकाल में जो जल-प्रलय घटित हुआ, वह इन पूर्व घटित हुए प्रलयों से अधिक विनाशकारी नहीं था, फिर भी उससे उस समय हिमालय के अनेक पर्वत-शिखर, जिनकी ऊँचाई आज सात-आठ हजार फीट है, अधिकांश जलमग्न हो गये थे। जल-प्लावन के अवतरण पर विशेष भौतिक

विप्लव के कारण तराई भावर का समुद्र सूख गया। कालान्तर में तराई भावर के समुद्र की उस खाई को हिमालय से आने वाली नदियों ने अपनी मिट्टी से पाट कर उसको विन्ध्याचल से मिला दिया। आज वह गंगा का मैदान कहलाती है।

सप्तम जलप्लावन को प्रारम्भिक तराई भावर के समुद्र से ऊपर, हरिद्वार से लेकर मानसरोवर पर्यन्त, इस सारे पर्वत-प्रदेश को ऋग्वैदिक आर्य सप्तसिन्धुओं का देश, सप्तसिन्धु कहते थे। क्योंकि व्यासघाट से ऊपर उनकी परम पूज्य एवं सबसे बड़ी नदी अलकनन्दा में, जिसको सोना निकलने के कारण वे हिरण्यवती भी कहते थे—सातों देवनदियाँ—जिनके सन्धि स्थल पर आर्य-ऋषियों द्वारा पाँच तीर्थ, पाँच प्रयाग स्थापित हैं, सन्धि करती हैं। इसीलिये ऋग्वैदिक पंचजनों ने इसको सिन्धु और उस सारे पर्वत-प्रदेश को जहाँ सप्त सरिताएँ प्रवाहित होती हैं, सप्तसिन्धु कहा है। सप्तम मनु वैवस्वत के जीवन-काल में जलप्लावन के समय दक्षिण-गिरि-प्रदेश के जलमग्न होने पर जब मनु अपनी शेष प्रजा सहित उत्तर-गिरि प्रदेश में सरस्वती के तट पर जा बसे तो—प्रलय-जल से जो उन्नत भूमि भाग ऊपर रह गया था, उसका नाम 'ब्रह्मावर्त्त' पड़ा। दस-ग्यारह हजार फुट से अधिक ऊँचे इस शीतप्रधान प्रदेश ने आर्य-शरणार्थियों का प्रलय-जल से त्राण किया था, अतः उसके प्रति उनकी श्रद्धाभक्ति होनी स्वाभाविक थी। इसीलिये ऋग्वैदिक आर्यों ने इसको परम पूजनीय योनिदेवकृत् देश (ऋ० ३।३३।४) कहा है। मनु ने भी इसको यज्ञदेश एवं देव-निर्मित्त-देश (तं देवनिर्मितं देशं—मनु० २।१७) और इस क्षेत्र में बहने वाली गंगा, सरस्वती और मदांकिनी को स्वर्ग की देवनदी कहकर सम्मानित किया है।

मनु ने जिस देश को देवताओं का देश कहा है, उसी को वेद और पुराणों ने स्वर्ग भी कहा है। ऋग्वेद में लिखा है कि जहाँ मन्दाकिनी गंगा बहती है, सरस्वती नदी है, वही देश स्वर्ग है (ऋ० १।११२।८)। **'महाभारत'** में भी उसी देवनदी अलकनन्दा के देश को स्वर्ग 'त्रिविष्टप' कहा हैं। **'केदारखंड'** ने भी हरिद्वार से ऊपर मानसरोवर तक इसी पावन प्रदेश को स्वर्ग घोषित किया है। पुराणों में लिखा है कि ब्रह्मा जी द्वारा ब्रह्मावर्त्त में ही सर्व प्रथम सृष्टि-रचना हुई है।

इस प्रकार यह ब्रह्मावर्त्त देश जहाँ सरस्वती, गंगा आदि सप्तसिन्धु की समस्त सरिताएँ प्रवाहित होती थीं, आर्य जाति का परमपूज्य आदि देश है। आर्यावर्त्त के आर्य-जगत में उसका आज भी आध्यात्मिक महत्व पूर्ववत् सुरक्षित है। सप्तम जलप्लावन तक आर्यावर्त्त के अस्तित्व में आने से पूर्व आर्य इसी सप्तसिन्धु एवं ब्रह्मावर्त्त में रहते थे। जलप्लावन के अवतरण पर विशेष भौतिक विप्लव से तराई भावर के समुद्र सूख जाने के कारण, जब कुरुक्षेत्र, पांचाल आदि देश पृथ्वी-गर्भ से

ऊपर निकल आये, तो प्रलय-जल के उतरने पर आर्य ऋषि अगत्स्य के नेतृत्व में सप्तसिन्धु से आगे विन्ध्याचल तक बढ़ते चले गये। तब यह समस्त देश आर्यावर्त्त कहलाया। इससे पूर्व आर्यावर्त्त का कोई ऐतिहासिक अस्तित्व नहीं था।

पुराणों के अनुसार भी इसी क्षेत्र में ब्रह्मा के मानसपुत्रों में सबसे ज्येष्ठ, आर्य-नरेश दक्ष प्रजापति का, उनके पुत्र-पुत्रियों एवं पौत्र-दौहित्रों का, जो देव और दानव, सुर और असुर के नाम से विख्यात थे, राज्य-शासन था। तराई के समुद्र तट पर हरिद्वार से कण्वाश्रम तक का क्षेत्र उस समय आर्य सभ्यता का प्रमुख केन्द्र था।* कनखल में आर्य नरेश दक्ष की राजधानी थी। आर्यों के पूर्व पुरुष, ब्रह्मा के मानसजात पुत्र सप्तर्षि जो इस उत्तर गिरि प्रदेश में रहते थे, आर्य नरेश दक्ष के दामाद थे। उस युग में यह समस्त गिरि प्रदेश उत्तर गिरि, अन्तर्गिर और दक्षिणगिरि भी कहलाता था। इस प्रकार यह क्षेत्र दक्ष पुत्रियों दनु, दिति और कद्रु से उत्पन्न असुरोपासक आर्यों और अदिति आदि से उत्पन्न इन्द्र और विष्णु आदि बारह आदित्यों का उत्पत्ति स्थान है। कश्यप ऋषि से अदिति के गर्भ से उत्पन्न बारह आदित्यों में एक सूर्य (विवस्वान्) भी थे। विवस्वान् से मनु वैवस्वान् उत्पन्न हुए।

'वायु पुराण' (५०-५८) में लिखा है कि मेरु के दक्षिण और मानस के ऊपर यम वैवस्वत मनु अपने यमपुर में रहते थे। **'वैदिक-सम्पत्ति'** के लेखक पं० रघुनन्दन शर्मा पांचजन्य के राष्ट्रीय एकता-अंक, सं० २०१६, पृष्ठ ४८ में लिखते हैं कि यह निर्विवाद हो गया है कि आर्यों का, जिनको आदि कालीन मनुष्य जाति का पूर्वज भी कह सकते हैं, मूल स्थान हिमालय में (मेरु से दक्षिण और मानस के ऊपर) ही है। **'शतपथ'** (१।८।६) के अनुसार हिमालय में ही वैवस्वत मनु रहते थे और वहीं पर जलप्लावन हुआ था।

'महाभारत' में लिखा है :

> **हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः।**
> **अर्द्धयोजनविस्तार पंचयोजनमायतः॥**
> **परिमंडल यो मध्ये मेरुरुत्तमपर्वतः।**
> **ततः सर्वास्समुत्पन्ना वृतयो द्विजसतमः॥**
> **प्रभूति यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ।**

---

१ हिमालय की तलहटी तराई में जहाँ आज सघन वन हैं प्राचीन सभ्यता के अवशेष हैं। कनिंघमः आर्कियालौजिकल रिपोर्ट, भाग २, पृ० २८८। जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, ३६, भाग १, पृ० १५४।

अथर्ववेद के **पृथ्वीसूक्त** के निम्नलिखित मंत्रों से भी यही ध्वनि निकलती है :

अशंबाधं मध्यतो मानवानं यस्या उद्धतः पर्वतः समं वहु
नानावीर्या औषधीर्या विभूर्ति पृथिवीनः प्रथतांराध्यतान्
गिरयस्ते पर्वताः हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।

इसीलिए **केदारखंड** में भी भगवान् ने इस केदारखंड के सबसे प्राचीन होने की जो घोषणा की है, उसमें ऐतिहासिकों एवं भूगर्भशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित समस्त वास्तविक तथ्य निहित हैं :

पुरातनो यथाहं वै तथा स्थानमिदं किल ।
यदा सृष्टिक्रियायां च मया वे ब्रह्ममूर्तिना ।।
स्थितमत्रैव सततं परब्रह्म जिघीषया ।
तदादिकमिदं स्थानं देवनामपि दुर्ल्लभम् ।।

अर्थात् जैसे मैं सबसे प्राचीन हूँ उसी प्रकार यह केदार क्षेत्र भी प्राचीन है । जब मैं ब्रह्ममूर्ति को धारण कर सृष्टि-रचना में प्रवृत्त हुआ तब मैंने इसी स्थान में सर्व प्रथम सृष्टि रचना की । उसी दिन से यह स्थान विद्यमान है । इसकी प्राप्ति देवताओं को भी दुर्लभ है ।

●

सप्तसिन्धु की जलवायु और गढ़वाल

मध्य हिमालय में आर्यों का यह सप्तसिन्धु देश (गढ़वाल) हिमालय के सबसे अधिक हिम-शिखरों से आच्छादित है। इसलिए प्रायः सब इतिहासकार इसको शीतप्रधान प्रदेश ही समझते रहे हैं। परन्तु उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि संसार के इस आश्चर्यजनक पर्वत-प्रदेश में विश्व की सब प्रकार की जलवायु पायी जाती है। पर्वत, नदी, उपत्यकाओं में जहाँ 'सहारा' रेगिस्तान की सर्वाधिक ऊष्ण जलवायु है, तो चार-पाँच हजार फुट की ऊँचाई पर बसे हुए देशवासियों को यूरोप की समशीतोष्ण जलवायु का आनन्द प्राप्त होता है और १० हजार, ११ हजार से ऊँचे पर्वत पृष्ठों पर लोकमान्य तिलक द्वारा आनुमानित 'उत्तरी ध्रुव' की जलवायु वाला शीतप्रधान प्रदेश है। इस प्रकार जो लोग केवल गोरे रंग के लोगों का हिमालय में या कृष्ण वर्ण के लोगों का ऊष्ण या अल्पोष्ण देश में अनुमान लगाते हैं वे प्रायः गलती कर बैठते हैं। कई इतिहासकारों ने यहाँ के काले वर्ण के लोगों को निस्संकोच यहाँ की मूल-वंश-परम्परा से खारिज कर दिया है। हो सकता है कि काले वर्ण के मनुष्य शीतप्रधान प्रदेश में और गोरे वर्ण के ऊष्ण देशों में जीवित न रह सकते हों; परन्तु जिस देश में, कुछ ही दूरी पर प्रत्येक व्यक्ति के अनुकूल जलवायु उपलब्ध हो जाती है, उसी जलवायु के आधार पर काले और गोरे वर्ण की उत्पत्ति का अनुमान असंगत है।

आर्यावर्त्त के प्रत्येक भू-भाग में ऊष्ण जलवायु का अनुमान करके स्वदेशी और विदेशी इतिहासकारों ने आर्यों के आदि देश के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्त धारणाएँ स्थापित की हैं। किसी को शीतप्रधान प्रदेश की खोज में (जहाँ दस महीने की शीत और दो महीने की गर्मी पड़े) उत्तरी ध्रुव में और किसी को समशीतोष्ण जलवायु की खोज में आर्यावर्त्त से बाहर यूरोप आदि देशों में भटकना पड़ा है। यदि उन्हें मध्य हिमालय में इस ब्रह्मावर्त्त के पर्वत-प्रदेश (गढ़वाल) के कुछ क्षेत्रों में ध्रुवकक्षीय तथा कुछ क्षेत्रों में यूरोप के समकक्ष समशीतोष्ण जलवायु का ज्ञान होता तो उन्हें आर्यों के मूल स्थान के सम्बन्ध में इतनी कष्ट-कल्पना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि मध्य हिमालय के इस देश में ऋग्वेद और जेंदावस्ता में वर्णित जलवायु ही नहीं

हैं, वरन् आर्यों की परम पूज्य सरस्वती के साथ, सप्तसिन्धु की सप्त सरिताएँ भी विद्यमान हैं।

आर्यों का आदि देश शीतप्रधान प्रदेश था (ऋ० ३।७।१।)। इस तथ्य से सभी इतिहासकार एकमत हैं। वहाँ दस महीने की कड़ी सर्दी पड़ती थी। केवल दो महीने साधारण गर्मी रहती थी (ऋ० ५।३२।१)। यम वैवस्वत मनु उस शीतप्रधान प्रदेश के प्रथम नरेश थे। वर्ष की गणना पहले हिम शीत-काल (ऋ० ५।५४।१५) से होती थी। कालान्तर में पुनः दक्षिण के कुछ समतल भू-भागों की ओर बढ़ने के पश्चात् शरद ऋतु से भी होने लगी। शरद ऋतु के प्रति आर्य-जाति की विशेष निष्ठा थी। 'जीवेम शरदः शतम्' के आशीर्वाद द्वारा वे अपने स्नेही-सुहृदों को सौ शरद तक जीने की कामना करते थे। ऋग्वेद में वर्ष अर्थ में शरद शब्द का बीस से अधिक और हिम शब्द का दस से अधिक बार उल्लेख हुआ है। उसके बाद गर्मियों के दो-तीन महीनों में वसन्त ऋतु रहती थी। यह सबसे छोटी ऋतु थी। इस प्रकार सप्तसिन्धु में शरद, हेमन्त और वसन्त तीन ऋतुओं का भी उल्लेख मिलता है (ऋ० १।१६४।१४)। वहाँ वर्षा का भी आधिक्य था (ऋ०२,१२,२ ऋ०२।१७।५)। आर्य-ऋषियों को हिमालय अत्यन्त प्रिय था। वैदिक ऋचाओं में जिस सृष्टिकर्ता की महत्ता, हिमाच्छादित पर्वत बतलाते हैं (ऋ० १०।१२१।४) 'हिमेनाग्नि, हिमेववाससो, हिम्वानान् हविष्मान्' कहकर उन्होंने हिमालय के प्रति असीम श्रद्धा व्यक्त की है। अथर्व० (१२।१।११) में भी 'गिरिर्यस्ते पर्वता हिमवंतः पृथिवी' कह कर हिमालय की वन्दना की है। वर्ष भर में तीन ही ऋतु का दृश्य दिखायी देता है। एक में अन्नोपार्जन के लिये बीज बोया जाता है। एक में सभी सच्चे प्रेमी खूब चेष्टा करते हैं। ध्राजी के तलवार की घाट की तरह शीतल वायु-वेग के कारण, एक ऋतु का रूप नहीं देखा जा सकता; अर्थात् हेमन्त में मूल स्थान में नहीं रहा जाता।

आर्यों को अपने देश में बारहों महीने अग्नि प्रज्वलित रखनी पड़ती थी। इसीलिये आर्य सविता, उषा आदि अग्नि के प्रतीकों के विशेष भक्त थे। अग्निदेव देवताओं के भी देवता समझे जाते थे (ऋ०।१।३१।१)। उनकी प्रशंसा में ऋग्वेद-संहिता में अनेक सूक्त हैं। अग्नि पर तो सबसे अधिक सूक्तों की रचना हुई है। ऋग्वेद अग्निदेव की ही स्तुति से आरम्भ होता है। उसके प्रथम मंडल के प्रथम सम्पूर्ण सूक्त में अग्निदेव का आह्वान है। ऋग्वेद-संहिता में अग्निदेव के सम्बन्ध में ढाई हजार मंत्र हैं। उषा और सूर्यदेव का भी बार-बार वर्णन है। जाड़े के दिन रात में अग्नि और सूर्यताप के अतिरिक्त, उस युग में सर्वसाधारण

के पास शीत-निवारण के लिये अन्य साधन सुलभ नहीं थे। मेघाच्छादित दिवस भी शीतप्रधान प्रदेशों के लिये असह्य होता है। अधिक वर्षा और जाड़े के दिनों में सूर्य के बादलों से बाहर निकलने पर, घुमक्कड़ आर्यों ने ऋग्वेद के कई मंत्रों द्वारा प्रसन्नता प्रकट की है, जो स्वाभाविक है। मौसम के अनुसार कई घंटों और कई दिनों तक ऋग्वेद में सरस्वती नदी के तट पर अनिवार्य यज्ञ-यागों द्वारा अग्नि प्रज्वलित रखने की जो व्यवस्था थी, वह भी उनके शीत-प्रधान प्रदेश होने का सूचक है। ऋ० १।३१।१ और ३।२३।४ के अनुसार ऋषि अंगिरा द्वारा (त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषि) अग्नि प्राचीन काल में सरस्वती नदी के क्षेत्र में संघर्षण से उत्पन्न की गयी। कुरुक्षेत्र और प्रयाग की सरस्वती के ऊष्ण तट-प्रदेश में वैदिक-आर्यों द्वारा परम पूज्य (देवो देवानां) अग्नि को प्रमुखता प्रदान करना, सम्भव नहीं है।

पंजाब में हिमालय नहीं है। वहाँ वर्षा का भी अभाव रहता है। वह गर्म देश है। वहाँ इस प्रकार की कठिन शीत की कल्पना भी नहीं हो सकती। आर्यों की प्राचीन पुस्तक **'ऋग्वेद'** में वर्णित सप्तसिन्धु की जलवायु और उनकी अन्य भौगोलिक स्थिति में और वर्तमान पंजाब में आकाश-पाताल का अन्तर है। इस कारण श्री पावगी और श्री लोकमान्य को, वेदों में वर्णित जलवायु की खोज में उत्तरी ध्रुव के शीतप्रधान प्रदेशों की कल्पना करनी पड़ी है। श्री अविनाशचन्द्र दास और डाँ० सम्पूर्णानन्द जी ने जहाँ उत्तरी ध्रुव और मध्य एशियावाद का युक्ति-युक्त खण्डन किया है, वहाँ उन्होंने वैदिक परिस्थितियों के सर्वथा प्रतिकूल, पंजाब की सिन्धु नदी पर केन्द्रित होने के कारण, पंजाब को ही आर्य-जाति का मूल-निवास स्थान 'सप्तसिन्धु' बताकर, उक्त समस्या को विवादास्पद ही रहने दिया है। वे वर्तमान पंजाब और प्राचीन पंजाब (सप्तसिन्धु) के जलवायु आदि में हजारों बरसों के भौतिक परिवर्तनों के कारण अन्तर पड़ना बतलाकर, संतुष्ट हो जाते हैं। वहाँ की सिन्धु नदी के कारण वे सप्तसिन्धु की खोज में पंजाब को छोड़कर जरा भी आगे-पीछे जाने का प्रयत्न नहीं करते।

ऋग्वैदिक आर्यों के अनेक प्राचीन आध्यात्मिक स्मारकों से सम्पन्न हिमवन्त (गढ़वाल) के बदरी और केदार क्षेत्र में देवनदी सरस्वती, मन्दाकिनी और गंगा के विस्तृत पार्श्ववर्ती भागों में ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक तथ्य एवं जलवायु आज भी शत-प्रतिशत विद्यमान हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन **'हिमालय परिचय'** (१) पृष्ठ २६ में लिखते हैं :

हिमालय-श्रेणी की हिमानियों तथा हिम-शिखरों के इस ओर साइबेरिया की भाँति आठ मास धरती बर्फ़ से ढकी रहती है। १३००० फुट से

ऊपर यहीं ध्रुवकक्षीय जलवायु आ जाता है। यहाँ जाड़ा लम्बा और गर्मी का मौसम छोटा (ऋग्वेद में वर्णित दस महीने शीत और दो महीने गर्मी) होता है, जिसके कारण अभी बर्फ़ अच्छी तरह पिघलने भी नहीं पाती कि नयी बर्फ पड़ जाती है। माना और नीती गाँव (सरस्वती नदी का तटवर्ती प्रदेश) यहाँ की उच्चतम मानव बस्तियाँ हैं। यहाँ वसन्त बहुत छोटा होता है, जबकि उस समय थोड़ी गरमाहट मालूम पड़ती है। दिसम्बर से अप्रैल तक माना और नीती के गाँव सफ़ेद हिम की चादर से ढककर मानव-शून्य हो जाते हैं।

पारसियों के धर्मग्रन्थ '**जेन्दावस्त**' में लिखा है कि आदि सृष्टि जिस भू-भाग में हुई वहाँ दस महीने शीत और दो महीने गर्मी रहती थी। '**जेन्दावस्त**' की आदि सृष्टि सप्तम वैवस्वत मनु के जल प्लावन में उत्तरी गिरि को जाने के पश्चात् प्रारम्भ होती है। सृष्टि का पुनर्निर्माण सप्तम मनु से भले ही आरम्भ हुआ हो, परन्तु सप्तसिन्धु में, वह कई हजार वर्ष पूर्व स्वायम्भुव से प्रारम्भ हो हो चुकी थी।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि हिमाच्छादित बदरीनाथ और केदारनाथ मन्दिर के कपाट जाड़ों में छः महीने बन्द रहते हैं। छः महीने देवताओं द्वारा और छः महीने मानवों द्वारा यहाँ जो पूजा करने का वर्णन है, उसमें यही भाव है। सर्वोच्च हिम-शिखरों से अच्छादित इसी क्षेत्र का नाम गन्धमादन, कैलास और सुमेरु है (**हिमालय परिचय**, पृष्ठ ६१)। सुमेरु-पर्वत पर वेद और पुराणों में वर्णित छः महीने दिन और छः महीने रात रहने की जो उपमा दी गयी है, जिसको लोकमान्य तिलक ने भी ध्रुव देश की पुष्टि में उद्धृत किया है, इसमें यही भाव निहित है। दिन-रात घने मेघों से आच्छादित रहने के कारण, वहाँ दिन में भी रात्रि की तरह गहन अन्धकार छाया रहता है। ऋग्वैदिक ऋषि कवि थे। कविता के प्रत्येक शब्द में शत-प्रतिशत ऐतिहासिक एवं भौगोलिक वास्तविकता की तलाश उपहासास्पद है। आज भी अनेक कवि अपने विरह-वर्णन में, रात्रि को द्रौपदी की चीर तथा 'डग भई वामन की सावन की रतियाँ' कह कर जो उपमा देते हैं उसमें क्या वैदिक कवियों की उक्त भावना की अभि-व्यक्ति नहीं है? यहाँ पर रतूड़ी जी के '**गढ़वाल का इतिहास**' पृष्ठ ३८ का उद्धरण भी अप्रासंगिक नहीं होगा; वे लिखते हैं :

'गढ़वाल के ऊपरी भाग में जो हिमप्रधान भाग हिमालय के निकट है, उसमें नवम्बर से मई-जून तक आठ महीने हेमन्त ऋतु का प्राधान्य बना रहता है। जून से अक्टूबर के अन्त तक वहाँ वसन्त रहता है; उस समय वहाँ सारी भूमि पुण्यमय दिखायी देती है। ८००० फुट से ऊपर वाले पर्वतों पर वर्षा ऋतु और वसन्त ऋतु मिश्रित रूप में दिखायी देती हैं।" वाल्टन साहब गढ़वाल

गजेटियर्स, पृष्ठ २८ में लिखते हैं—"दक्षिण में ७००० फुट से ऊपर, उत्तरी गढ़वाल में ६००० फुट से ऊपर, सारे वर्ष जाड़ा रहता है। वर्ष भर में यहाँ तीन ही ऋतुएँ होती हैं।" इन्हीं तीन ऋतुओं शरद, हेमन्त और वसन्त का ऋग्वेद में उल्लेख है। 'जीवेम शरदः शतम्' के अनुसार शरद ऋतु के प्रति आज तक गढ़वाल में वही श्रद्धा भाव पूर्ववत् सुरक्षित है। इस ऋतु में दोनों फसलों को समेट कर यहाँ के निवासी धन-धान्य से सम्पन्न रहते हैं। अनुकूल जलवायु के साथ आवश्यक शाक-भाजी, गेहूँ, जौ, चावल आदि अन्य सब अनाजों से उनके भंडार भरे रहते हैं। प्रजापति द्वारा सौ शरद जीवित रहने का शुभाशीर्वाद शरद की इसी सर्वसम्पन्नता का द्यौतक है।

पारसियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता के अनुसार श्री तिलक आदि कई विद्वानों का मत है कि आर्य पहले ऐसे प्रदेश में रहते थे, जहाँ सात महीने गर्मी और पाँच महीने सर्दी पड़ती थी। जलवायु अच्छा था, जनता सुखी थी। परन्तु जलप्लावन एवं आकस्मिक हिमाच्छादन के कारण आर्य इस प्रदेश से भाग कर ऐसे प्रदेश में चले गये, जहाँ दस महीने का जाड़ा और दो महीने की मामूली गर्मी पड़ती थी। ऋग्वैदिक आर्य गढ़वाल के दक्षिणी क्षेत्र में बसते थे। उस युग में इसका नाम दक्षिण गिरि था। दक्षिण गढ़वाल की जलवायु सात महीने गर्म और पाँच महीने ठंडी रहती है। जलप्लावन के समय आर्य लोग उत्तर गढ़वाल में १०-१२ हजार फुट से ऊपर उत्तर गिरि (शतपथ ब्राह्मण, १।८।६) प्रदेश की ओर भाग निकले, जहाँ आज भी दस महीने की कठिन शीत और दो महीने की साधारण गर्मी पड़ती है। हिमालय के इस शीतप्रधान प्रदेश में आर्यों के सौतेले भाई असुरोपासक आर्यों का प्राबल्य था।

ऊपर राहुल जी ने माना और नीति गाँव से जिन अंतिम मानव-बस्तियों का उल्लेख किया है, सरस्वती के इस तटवर्ती क्षेत्र में वहीं कहीं १२०००-१३००० फुट पर उत्तर प्रदेश के सर्वोच्च शैल-शिखर कामेठ और नंदादेवी जो २५६६० फुट ऊँचे हैं, के निकट शतपथ आदि वैदिक वाङमय में प्रतिपादित जलप्लावन से सम्बन्धित उत्तर गिरि का वह 'मनोरव सर्पणम्' नामक शरणस्थल भी है, जहाँ दक्षिण (गिरि) से चल कर सप्तर्षियों की नाव जल-अवतरण तक ठहरी थी। मनोरव, मनु और माना में शुद्ध-साम्य भी है और राहुल जी के कथनानुसार यह अंतिम मानव-वस्ती भी है। श्री पावगी आदि इतिहासकारों ने जो लिखा है कि आर्य-जाति प्रालेय-प्रलय के समय यहाँ से उत्तरी ध्रुव में गयी और फिर साधारण समय आने पर वापस लौट आयी, आर्यावर्त्त इसकी स्पष्ट सूचना देता है। इसका सीधा और सही अर्थ यह है कि गढ़वाल समस्त गिरि-प्रदेश है। इसका उत्तरी भाग उत्तरगिरि, मध्यभाग अन्तरगिरि (महाभारत,

भीष्मपर्व ६।४६) और दक्षिण भाग दक्षिणगिरि कहलाता था। उत्तरगिरि का अधिकांश १२ हजार फुट ऊँचे हिम-शिखरों से आच्छादित होने के कारण वहाँ का जलवायु उत्तरी ध्रुव की भाँति शीतप्रधान है। दक्षिणगिरि, उत्तरगिरि की अपेक्षा कुछ समतल है। वहाँ सरिता-तटों एवं उपत्यकाओं की जलवायु अत्यधिक ऊष्ण है। लक्ष्मणझूला उपत्यका की ऊँचाई केवल १००० फुट होने के कारण, वहाँ की जलवायु अधिक ऊष्ण है। इस प्रकार १००० फुट से निम्न और २५६०० फुट तक ऊँचे स्थलों से आच्छादित होने के कारण, इस पर्वत-प्रदेश में अत्यधिक शीत और अत्यधिक ऊष्ण दोनों प्रकार की जलवायु पायी जाती है। ४ हजार से ७-८ हजार फुट तक ऊँचे क्षेत्रों में यहाँ प्रायः परिवर्तित हलके तापक्रम वाले शीतोष्ण जलवायु का भी बाहुल्य है, जो भूगर्भशास्त्री मेडलीकट एवं ब्लम्फर्ड के मतानुसार विश्व में जीवन-शक्ति के सर्व प्रथम उत्पत्ति-स्थल हैं। वाल्टन गढ़वाल गजेटियर्स में यहाँ के नागपुर आदि क्षेत्रों की जलवायु यूरोप की जलवायु के समान बताता है।

ऋग्वेद में कहीं-कहीं (१।२३।१४, १।१६४।१२, १५) छः ऋतुओं तथा कहीं शिशिर और हेमन्त की एक ही ऋतु होकर केवल पाँच ऋतुओं का भी उल्लेख मिलता है। जल-प्लावन से पूर्व आर्य जब दक्षिणगिरि के समशीतोष्ण प्रदेश में थे तो उस क्षेत्र में छः ऋतुएँ थीं। सारे दिनभर कार्यनिरत आर्य सुखप्रद रात्रि का स्वयं आह्वान करते थे (आह्वयामि रात्रिं जगतो निवेशनीम्, ऋ० १।३५।१)। परन्तु जलप्लावन के बाद, जब वे उतरगिरि-प्रदेश में चले गये, वहाँ उन्हें केवल पाँच ऋतुओं का ही आभास हुआ। बारह-तेरह हजार फुट से ऊँचे हिमाच्छादित पर्वत-प्रदेश की ध्रुवकक्षीय जलवायु में, शिशिर और हेमन्त दोनों में, फरवरी-मार्च तक भी हिमपात होता रहता है। अतः वहाँ के निवासियों को वहाँ शिशिर और हेमन्त दोनों ऋतुएँ समान प्रतीत होती हैं।

शिशिर और हेमन्त ऋतुओं में यों तो सर्वत्र रात्रियाँ लम्बी और दिन छोटे होते हैं परन्तु बारह-तेरह हजार फुट ऊँचे हिमाच्छादित शीतप्रधान प्रदेश में जब लगातार बर्फ़ गिर रहा हो, कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा हो, तेज और कर्कश वायु-वेग बह रहा हो, ओढ़ने-बिछौने का अभाव हो, आग जलाने का ईंधन भी भीगा और बर्फ से ढक गया हो, मेघाच्छादित आकाश में सर्वत्र निस्सीम अंधकार फैला हो, तो उस वक्त उन आर्य-शरणार्थियों के लिये जिनके पास अपने पक्के निजी आवासगृह भी रहने के लिये न हों, एकमात्र ऊषा के शुभागमन की प्रतीक्षा एवं सूर्य के प्रकाश के अतिरिक्त द्रौपदी की साड़ी की तरह बढ़ने वाली वहाँ की रात्रियाँ कितनी लम्बी (न यस्याः पारं दट्टशे, अथर्व० १९।४७।२।) एवं भयावह हो सकती हैं ?

इस क्षेत्र में हिमपात तो प्रायः होता ही है; परन्तु कभी-कभी आकस्मिक रूप से, असमय इतना हिमपात भी हो जाता है जिसकी यहाँ के निवासी सदियों तक कल्पना भी नहीं करते। रूपकुंड में इधर-उधर बिखरे हुये सैकड़ों स्त्री-पुरुषों, बालक-बूढ़ों के मृत-अवशेषों से इस क्षेत्र की इस आकस्मिक, अकल्पित, अत्यधिक हिमपात से होने वाली ऐतिहासिक दुर्घटनाओं की पुष्टि हो जाती है। इसी प्रकार के भयंकर हिमपातों के कारण, जलप्लावन के अवतरण पर उत्तर-गिरि प्रदेश को छोड़ कर, दक्षिण की ओर आर्यों का पुनः प्रस्थान करना स्वाभाविक है।

●

ऋग्वैदिक गढ़वाल की सामाजिक और आर्थिक स्थिति

सृष्टि में सर्व प्रथम ब्रह्मा के सात मानसपुत्रों में दक्ष, मरीचि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और अत्रि थे। इनमें दक्ष सबसे बड़े थे। इसीलिए प्रजापति के पद पर सर्व प्रथम वे ही प्रतिष्ठित किये गये। वे प्रथम आर्य-नरेश हुए। गढ़वाल के दक्षिण, कनखल में (महा० वनपर्व ८४।३०, ९०।२२; अनु० २५।१३; शांति० २८४।३) उनकी राजधानी थी। ब्रह्मा के अन्य छः मानसपुत्रों के आश्रम भी यत्र-तत्र गढ़वाल ही में थे। यह सर्व विदित तथ्य है कि गढ़वाल-नरेश दक्ष की तेरह कन्याओं में दिति सबसे बड़ी और अदिति छोटी थी। दिति से दैत्यों की उत्पत्ति हुई। दूसरी पुत्री अदिति से बारह आदित्यों, देवों (जिनमें इन्द्र सबसे बड़े और विष्णु वामन सबसे छोटे थे), वसुओं व रुद्रों और दो अश्विनीकुमारों की उत्पत्ति हुई।

गढ़वाल में प्राचीन काल से सौतियाबाँट की प्रचलित प्रथा के कारण, गढ़वाल का दक्षिणी गिरि अदिति-पुत्र आदित्यों, और उत्तरी गिरि-प्रदेश दिति, दनु और कद्रु के असुरोपासक दैत्यों, (दानवों और नागों) के हिस्से में पड़ा। इस प्रकार, देव और दानवों, दोनों का उत्पत्ति-स्थान गढ़वाल ही था।

ऋग्वैदिक भवन और पत्थरों का प्रचलन—आर्यों के पत्थरों और काष्ठों के बने प्रायः दुपुरे और तिपुरे घर, जिन्हें ऋग्वैदिक काल में भी दुपुरे और तिपुरे ही कहा जाता था, होते थे (ऋ० ६।४६।९,८।४०।१९,१०।६६।५,७।)। आज भी गढ़वाल के प्रस्तर और काष्ठ-निर्मित आवास प्रायः दुपुरे और तिपुरे ही होते हैं और उन्हें इसी नाम से सम्बोधित भी किया जाता है। पंजाब के मैदानी प्रान्तों में मिट्टी के बने घर होते हैं, जो ऋग्वैदिक आर्यों को कतई पसन्द नहीं थे। वशिष्ठ कहते हैं कि 'हे वरुण! तुम्हारे मिट्टी के मकान को मैं न पाऊँ' (ऋ० ७।८९।१)। असुरराज शम्बर के विशाल प्रस्तर-खंडों से निर्मित १०० सुदृढ़ गढ़ थे (ऋ० ४।३०।२०)। गढ़वाल के पर्वत-शिखरों पर उनके अनेक अवशेषों के कारण इस प्रदेश का नाम गढ़वाल पड़ा। पत्थर आर्यों के जीवन-रक्षा के सर्वोत्तम साधनों में से थे। ऋग्वेद के दशवें मंडल का ७६वाँ और १७५वाँ सूक्त पत्थरों की ही प्रशंसा में है। आर्य अपने शत्रुओं के विरुद्ध भी पत्थरों का प्रयोग करते थे। उन्हें भगाने के लिये वे पर्वत-शिखरों से प्रस्तर खंड फेंकते थे (ऋ० १७।७६।४;७।१०४।५)। वैज्ञानिकों के कथनानुसार वह प्रस्तर युग आज

से पचास हजार वर्ष पूर्व था (**हिन्दी विश्वभारती** ४१२)। गढ़वालियों द्वारा युद्ध में पत्थरों का प्रयोग कालिदास ने दिग्विजयी रघु के विरुद्ध भी वर्णन किया है। (**रघुवंश** ४।७७)। '**महाभारत**' (द्रोणपर्वत) में भी गढ़वाली सैनिकों का दुर्योधन के पक्ष में सात्यकी के साथ पत्थरों से युद्ध करने का उल्लेख है। डॉ० यल० डी० जोशी ने भी अपने '**खस-फेमली लॉ**' (पृष्ठ १५) में इसका समर्थन किया है। वे लिखते हैं कि पत्थरों से लड़ना यहाँ की आम बात है। लोकगाथाओं से इसकी पुष्टि होती है। यहाँ के पर्वत-शिखरों पर एकत्र प्राचीन पत्थरों के ढेर इसके प्रमाण हैं। आर्य लोग सोम को कूटने एवं रस निकालने के लिये भी पत्थरों का प्रयोग करते थे (ऋ० १।२८१,३।३६।७,६।६१।७,६०।८०।५,१०।१२५।२)। सोम भी महान् प्रस्तर-राशि के परिवेष्टित स्थानों में मिलता था (ऋ० १।१३०।३)।

गुफाएँ—ऋग्वेद में पणियों द्वारा आर्यों की गायों को गुफाओं में छिपाये रखने का उल्लेख है, जिनका इन्द्र ने उद्धार किया था (ऋ० १।६।५)। हिमालय के इस प्रदेश की गुफाएँ-कन्दराएँ प्रसिद्ध हैं। महाराज मनु की सरस्वती के तट पर बदरीक्षेत्र में व्यासगुफा, गणेशगुफा, नारदगुफा, मुचुकुन्दगुफा—आदि गुफाएँ हैं। इनमें से कई गुफाएँ इतनी बड़ी हैं कि उनके भीतर ५०० तक बकरियाँ आ जाती हैं। कालिदास को भी यहाँ की इन गुफाओं का ज्ञान था।

बनौषधियाँ—आर्यों के देश में जड़ी-बूटियों का बाहुल्य था। वे फलवती, फल-शून्या, पुष्पवती, बहुमूल्य जड़ी-बूटियाँ १०७ स्थानों पर होती थीं, जिन्हें आर्य अपने द्विपद और चतुष्पद सम्पत्तियों के रोग-निवारणार्थ प्रयुक्त करते थे। ऋग्वेद मंडल १० के ६७ सूक्त के समस्त २३ मंत्रों में उनका स्तवन है। आर्य इन जड़ी-बूटियों से चिकित्सा-कार्य करते थे (ऋ० ७।२०।२३,२५,२६ तथा ६०।६७)। गढ़वाल आज भी बहुमूल्य जड़ी-बूटियाँ का आगार है। यहाँ के द्रोणागिरि की संजीवनी जड़ी-बूटियाँ प्रसिद्ध हैं। इसीलिए महर्षि भरद्वाज के नेतृत्व में एक बार आयुर्वेदज्ञ ५२ ऋषियों ने इस क्षेत्र में एकत्र होकर स्वार्गाधिपति इन्द्र से आयुर्येद का त्रिस्कन्धात्मक ज्ञान प्राप्त किया था (**चरक संहता**, सूत्रस्थान १।११।१४)।

गोपालन—गाय, बैल, भेड़ और अश्व आर्यो का पशु-धन था। ऋग्वेद प्रथम मंडल का २६ वाँ समस्त सूक्त गो एवं अश्व धन के सम्बन्ध में है। आर्य गायों को गोधन (ऋ० १०।६१।२४,१०।६२।६) और गायों से युक्त गोष्ठ को 'गोष्ठ' कहते थे (ऋ० १०।६२।१,१।८६।६)। गढ़वाल में आज भी उसी प्रकार गायों को धन-चयन और गायों के बाड़ों को गोष्ठ ही कहा जाता है। आज तक गढ़वाल के घरों और खेतों में उसी प्रकार गोष्ट (गोष्ठ) रखने की परम्परा सुरक्षित है।

आर्य कभी वृहद् वनों में लता-गुल्म का घर बना कर वहाँ गायें लेकर रहते थे। ऋग्वेद में इन्हें अरण्यानी कहा गया है। आज गढ़वाली इस व्यवस्था को 'मरोड़ा' कहते हैं। ऋग्वेद में वर्णित उन अरण्यानियों (मरोड़ों) का चित्र आज भी यहाँ अपरिवर्तित है। ऋग्वेद मंडल १० के समस्त १४६ सूक्त में उसका भव्य चित्र, चित्रित है। जिसको गढ़वाल में गाँव से दूर सघन-वन में लता-गुल्मों से निर्मित इन अरण्यानियों (मरोड़ों) को देखने का एक बार भी अवसर मिला हो वह ऋग्वेद के उस वर्णन की वास्तविकता एवं स्वाभाविकता का अनुभव कर सकेगा। उक्त सूक्त का अनुवाद निम्नलिखित है :

१—अरण्यानी ! तुम देखते-देखते अन्तर्धान हो जाते हो। इतनी दूर चले जाते हो कि दिखायी नहीं देते। तुम क्यों नहीं गाँव में जाने का मार्ग पूछते हो ? अकेले रहने में तुम्हें भय नहीं होता है ?

२—कोई जन्तु बृष के समान बोलता है। कोई चीं-चीं कर मानो उसका उत्तर देता है। मानो ये वीणा के पर्दे-पर्दे में शब्द करके अरण्यानी का यश-गान करते हैं।

३—विदित होता है कि इस विपिन में कहीं गायें चरती हैं और कहीं लता-गुल्म आदि का गृह दिखायी देता है। संध्या को वन से कितने ही शकट निकल रहे हैं।

४—एक व्यक्ति गाय को बुला रहा और एक काठ काट रहा है। अरण्यानी में जो व्यक्ति रहता है, वह रात को शब्द सुनता है।

५—अरण्यानी किसी का बध नहीं करती। यदि व्याघ्र-चोर आदि नहीं आवें तो कोई भय नहीं। वन में स्वादिष्ट फल खाकर भली-भाँति काल-क्षेप किया जा सकता है।

६—मृगनाभि के समान ही अरण्यानी सुगन्धित है। वहाँ आहार भी है। वहाँ प्रथम कृषि का अभाव रहता है। यह हरिणों की मातृरूपिणी है। इस प्रकार मैंने अरण्यानी की स्तुति की है।

"आर्य शीतोष्ण जलवायु में रहते थे, जहाँ उन्हें बाँज, बेत और कुछ पीत दारु परिवार के वृक्षों से परिचय हुआ। वे घुमक्कड़ न थे। वे महीनों नियत स्थान पर बसे हुए श्रम करके अन्न उत्पन्न करते थे और बैल, गाय, भेड़, घोड़ा, कुत्ता और सुअर इन जानवरों को पालते थे; किन्तु गधा, ऊँट और हाथी नहीं। घोड़ा और गाय विभिन्न परिस्थितियों के सूचक हैं। घोड़ा खुले मैदानों में चरने जाता है जहाँ उसके बछड़े मादा के पीछे घूमते रहते हैं। गाय जब चरने जाती है अपने बछड़े को पीछे छोड़ तो देती है लेकिन उससे दूर नहीं हटती। मूल आर्य

वासस्थान ऐसा होना चाहिए, जहाँ पशुओं के चरने और कृषि दोनों की सुविधा हो; अर्थात् अश्व-पालन के अनुकूल लम्बे-चौड़े घास के मैदान और भेड़ों के चरने के अनुकूल घास से भरी हुई पहाड़ी 'उडार' दोनों निकट हों।" (**हिन्दू सभ्यता, पृ० ६७**)।

आर्यों का गाय, बैल, भेड़, बकरी, अश्व, बराह, हरिण और गुफाओं में रहने वाले सिंहों से परिचय था (ऋ० ३।९।४)। परन्तु गधा, ऊँट और हाथी से उनका परिचय नहीं था। पंजाब में, मैदानी प्रान्तों में हाथी, गधा और ऊँट मिलते हैं परन्तु हिमालय में गधा, ऊँट और हाथियों की कल्पना नहीं हो सकती। इसीलिए ऋग्वेद में कहीं उसका वर्णन नहीं मिलता। आर्यों का देश वहाँ के उत्पन्न अश्वों के लिये प्रसिद्ध था। घुड़दौड़ के लिये सिन्धु और सरस्वती प्रान्त के तेज दौड़ने वाले घोड़ों की माँग की जाती थी (ऋ० १०।७५।८;६।६१।३,४)। आर्यों की मुख्य सवारी घोड़ा और मुख्य व्यवसाय पशु चराना था। मोटर-कारों के प्रचलन से पूर्व, उत्तर गढ़वाल की मुख्य सवारी घोड़ा और मुख्य व्यवसाय भेड़-बकरी चराना था। गो, अश्व, मेष और मेषी रुद्र-राज्यान्तर्गत सरस्वती और सिन्धु के इस प्रदेश में (नागपुर-पैनखंडा, चान्दपुर और बधाण में) आर्य-जाति के मुख्य पशु थे (ऋ० १।४३।६)। बदरीनाथ-केदारनाथ के पार्श्वों में गन्धमादन आदि पर्वत-पृष्ठों पर फैले हुए वेदिनी आदि अनेक बुग्याल तत्कालीन आर्य-जाति के सर्वोत्तम चरागाह थे। वेदिनी शब्द में वैदिक आर्यों के वेद शब्द से सम्बन्धित अभिव्यक्ति स्पष्ट है। इसी वेदिनी क्षेत्र में वेद-संहिताओं के संकलन के सम्बन्ध में, किम्वदन्ती प्रचलित है। '**गढ़वाल गजेटियर्स**' (पृष्ठ २६) में लिखा है कि वान और बदरीनाथ के निकट वेदिनी बुग्याल एवं पयार (चरागाह) गर्मियों में यहाँ के निकट-निवासियों के विस्तृत चरागाह हैं। दक्षिण गढ़वाल के लोग भी गर्मियों में अपने-अपने घोड़ों को छः महीने के लिये इन्हीं चरागाहों में चरने छोड़ आते थे। कुछ लोग आर्यों को खानाबदोस कहते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि आर्य गोपालक थे, उनकी गाय-बैलों की गोष्ठें* होती थी और गाय-बैलों को खानाबदोस जीवन असह्य होता है; क्योंकि वे दो दिन चलकर थक जाते हैं। गढ़वाल के घने वन, बाँज, बाँस, रिंगाल और देवदारु के वृक्षों से जो आर्यों के मूलस्थान में पाये जाते थे, आच्छादित हैं।

---

* **गोष्ठ—गाँवों से दूर वन प्रान्त में गोपालों की देख-रेख में लकड़ी-घास के छप्परों में जो गो-समूह रखा जाता है, उसको यहाँ आज भी पूर्ववत् 'गोष्ठ' कहा जाता है।**

पंजाब में कस्तूरी-मृग नहीं होता। ऋग्वेद (१०।१०७।९ और १०।१४६।६) में कस्तूरी मृग का उल्लेख है। यह तीन फुट लम्बा और दो फुट ऊँचा प्रत्येक ऋतु में परिवर्तित होने वाले रंग का मृग है। इसकी नाभिस्थल पर कस्तूरी की गाँठ पायी जाती है। यह ८,००० से लेकर १२,००० फुट की ऊँचाई पर, टिहरी के फतेह-पर्वत, भिलंग तथा उत्तरी गढ़वाल के मल्ला पैनखंडा क्षेत्र में पाया जाता है।

भेड़-पालन—सप्तसिन्धु ऊन की उपज के लिये विख्यात था। वहाँ भेड़ और बकरियाँ पाली जाती थीं और उनके कम्बल बनते थे (ऋ०१०२६।६,१०।१०१।७)। इन्द्र को भेड़ के समान उपकारी बताया गया है (ऋ०८।८६।१२)। उत्तरी गढ़वाल में आज भी भेड़-बकरियों की अधिकता है। उनका मुख्य व्यवसाय आज भी भेड़ चराना है। इसीलिए दक्षिण गढ़वाल के लोग उन्हें 'मैल मुलक्या ढेबरा' कहते हैं। अर्थात् जैसी सीधी-सादी और भोली उनकी भेड़ें हैं, वैसा ही सरल वहाँ के निवासियों का स्वभाव भी है। सोम प्रायः मेषलोममय छलनी से छाना जाता था (ऋ०९।९।२१,९।९६।१३,२१)। असुरराज शम्बर के यहाँ ऊनी वस्त्रों से छना हुआ सोमरस, एक-एक द्रोण के काष्ठ-कठौतों में रखा हुआ था (ऋ०९।८६।४७)। '**गढ़वाल गजेटियर्स**' (पृष्ठ ४१) में लिखा है कि गढ़वाल की मुख्य दस्तकारी कम्बल और भँगोला बुनना है। वस्तुतः उत्तर गढ़वाल के स्त्री-पुरुषों का परम्परागत ओढ़ना-पहिनावा और बिछौना आज भी ऊन पर ही अवलम्बित है।

माप-तोल के पैमाने—ऋग्वैदिक आर्यों के घरों में सोम से भरे एक-एक द्रोण के काष्ट-कलसों का उल्लेख है (ऋ०९।१।२८,९।३।१,९।९६।१३,१४,९।१०३।२,३)। यह कलसे (कठौते) काष्ठ के बने होते थे (ऋ०९।१०७।१०)। आज भी एक-एक द्रोण तक के कठौते जिन्हें गढ़वाली में 'पर्या' एवं 'परोठा' कहते हैं, यथावत् सर्वत्र प्रचलित हैं। जो प्रायः छाँछ और दूध-दही रखने के लिये प्रयुक्त होते हैं, यथावत् सर्वत्र प्रचलित हैं। वैदिक काल में तौल के लिये द्रोण (३२ सेर), पाथा (२ सेर), और माणा (½) सेर का पैमाना प्रचलित था। आज भी गढ़वाल में अन्न, घी और तेल के माप के लिये द्रोण, पाथा एवं माणा पुड़खों (पुरुषों-जल की माप) का ही व्यवहार होता है और उनको सर्वत्र इसी नाम से पुकारा जाता है। २० द्रोणों की 'खार्य' के (ऋ० ५।१।३१,५-१-४०) ऋग्वैदिक पैमाने को आज भी 'खार' कहते हैं।

अन्न-साटी (षष्टिक)—पंजाब का मुख्य अन्न गेहूँ आर्यों के देश में नहीं होता था; किन्तु धान और धान्य जो शायद चावल का वाचक है, होता था, जौ उनका मुख्य अन्न था (ऋ० ११।३३।१५)। उनके खेत जौ से पूर्ण होते थे (ऋ०१०।१३१।२)। वे बैलों द्वारा खेत जोतते और जौ बोते थे (ऋ०१।१७६।६)।

आर्य-महिलाएँ जौ भूनती थीं (ऋ०८।८०।२ ९।११२।३)। जौ को सूप से छान कर 'सत्तू' बनता था (ऋ०१०।७१।२), और आर्य उनमें घी मिला कर खाते थे (ऋ०६।५६।१)। सत्तू देवान्न है और इसीलिए तब से आज तक हवन में उसका प्रयोग होता है। आज भी यहाँ पर्वत-क्षेत्रों में प्रायः जौ की खेती होती है और उसका सत्तू गढ़वालियों के प्राचीन मुख्य आहारों में से है (ऋ०९।६८।४)। गढ़वाली में एक प्राचीन कहावत है 'उखिमु सत्तू को भारो, उखिमु पाणी को धारा', अर्थात् वहीं पर सतुओं का बोझ और वहीं पर जल की धारा यदि उपलब्ध हो तो इससे अधिक खाद्य सम्बन्धी सुविधा और क्या चाहिये! यह कहावत प्राचीन गढ़वाल के मुख्य खाद्य-पदार्थों में सत्तू का महत्व भी प्रकट करती है। मनु ने स्वर्गलोक (उत्तर गढ़वाल सरस्वती नदी के तट पर) हल चला कर जौ की खेती आरम्भ की थी (ऋ०८।२२।३)। ऋग्वैदिक आर्य खेत जोतते थे और जौ बोते थे (ऋ०१।११७।२१)। ऋग्वेद में कहीं कपास का उल्लेख नहीं है। गढ़वाल में भी आज तक कपास की खेती नहीं होती। यहाँ के मुख्य अन्न कोदा और झंगोरा (नीवार और श्यामाक) को जो देवान्न कहते हैं, वह पितृ-देश के मुख्यान्नों के प्रति आर्यों की असीम श्रद्धा का द्योतक है।

सुरा—आर्य सुरा-सेवी थे। सुरा सोम के अतिरिक्त, अन्न से निर्मित एक स्वतंत्र मादक पेय था (ऋ० १०।१०७।९)। जन्हुदेश में (जौनपुर-टिहरी गढ़वाल) आज भी अन्न से निर्मित यह मादक पेय सुरा नाम से ही विख्यात है और वहाँ के निवासी स्त्री और पुरुष, आज भी वैदिक आर्यों की भाँति सत्तू मिला कर सुरा का सेवन करते हैं। सुरा जलों या औषधियों के रस को भी कहते थे (शतपथ, १२-८-१,४)।

स्वर्ण धातु तथा तांबे का प्रयोग—आर्यों के देश में स्वर्ण का पर्याप्त प्रयोग प्रचलित था। ऋग्वेद के कई मंत्रों में स्वर्ण का वर्णन है (ऋ० १।१२६।२, ५।५३।४, ६।५४।११, ८।४६।२२, २।४६।२, १०।२९।१४)। सिन्धु नदी से स्वर्ण निकलने का उल्लेख है। इसीलिए आर्य अपने देश को हिरण्यगर्भा और सिन्धु को 'सिन्धुः हिरण्यवर्तिनी' कहते थे (ऋ० ८।२६।१८;१०।७५८)। श्री राधाकुमुद मुकर्जी (**हिन्दू सभ्यता**, पृ० ७७) लिखते हैं कि सोना सिन्धु नदी से निकलता था, जिसे हिमवर्तिनी कहा गया है। पंजाब की सिन्धु नदी के तट पर कहीं स्वर्ण निकलने का वर्णन नहीं मिलता। गढ़वाल में अलकनंदा (सिन्धु) का तट सदियों से स्वर्ण के लिए विख्यात है। उसकी रेत धोने से स्वर्ण मिलता है। इसीलिए अलकनन्दा को हिरण्यवती या हेमवती भी कहते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि गढ़वाल की ऋग्वेद की भूमि हिरण्यगर्भा सप्तसिन्धु और अलकनन्दा ही हिरण्यवर्तिनी सिन्धु नदी है। '**गढ़वाल गजेटियर्स**' (पृष्ठ १०) में लिखा है कि

अलकनन्दा नदी से सोना निकाला जाता है। आज भी (सन् १९६८ में) साधारण श्रमिक चार आने मूल्य का स्वर्ण प्रतिदिन निकाल देता है। अटकिंसन भी (पृ० ५४३) गंगानदी के रेत धोने से, पर्याप्त स्वर्ण निकालने का उल्लेख करता है (जिसका आज दो रुपये से अधिक मूल्य है)। पुनः **'गजेटियर्स'** (पृष्ठ ११६) में लिखा है कि—मुगलकालीन इतिहासकार फरिश्ता के कथनानुसार गंगा और जमुना की जन्म-भूमि गढ़वाल के परम विस्तृत राज्य में रेत को धोने से पर्याप्त स्वर्ण निकलता था। वहाँ ताम्बे की भी खाने हैं। उस राज्य में प्राचीन राज्यों द्वारा संचित ५६ स्वर्ण-कोष, जिन पर उनके स्वामियों के नाम की मोहरें लगी हैं, सुरक्षित हैं।

'केदारखंड' ३७ में अलकनन्दा के इस क्षेत्र को सुवर्ण-भूमि भी कहा गया है। **'महाभारत'** (सभापर्व ५२) में पांडवों के राजसूय यज्ञ में, हिमवन्त के खस और तगणों (चमोली के निकट वर्तमान टंगणी चट्टी के आस-पास के निवासियों) द्वारा कई द्रोण स्वर्ण भेंट देने का उल्लेख है। अश्वमेघ यज्ञ में युधिष्ठिर के रिक्त-कोष की पूर्ति के निमित, ऋषिवर व्यास उन्हें हिमालय में राजा मरुत द्वारा छोड़ी हुई अगाध धन-सम्पत्ति लाने का आग्रह करते हैं। जनश्रुति के अनुसार लामवगढ़ में बदरीनाथ के निकट राजा मरुत ने यज्ञ किया था। वहाँ खुदाई करने पर जला हुआ चरु मिलता है। **'महाभारत'** (अश्व ६५।२०, २१; ऋग्वेद ५।५२ मंत्र ९, १०, १७) में मरुत को गो-अश्व आदि समूहात्मक धन-सम्पत्ति (जिसको गढ़वाली आज भी धन-चयन कहते हैं) का स्वामी कहा गया है। उसका राज्य यमुना-तट पर (ऋ०५।५२।१७) परुष्णी नदी के आस-पास (ऋ० ५।५२।९) गिरि-कन्दराओं वाले पर्वत-प्रदेश में था (ऋ० ५।५२।१०)। वहीं अनितमा, रसा, कुर्मो, सिन्धु और सरयू भी प्रवाहित होती थीं (ऋ० ५।५३।९)। उसी क्षेत्र में गोमती के तीर पर हिमवान् पर्वत-प्रान्त में रथवोति ऋषि का भी निवास था (ऋ० ५। ६१।१९)। मरुत रुद्र के पुत्र थे (ऋ० ८।२०।१७, ८।२०।२, ५।६०।२, ५।५७।९ नागपुर (गढ़वाल) के रुद्रप्रयाग और रुद्रनाथ में रुद्र के प्राचीन मन्दिर हैं। रुद्र पुत्र मरुत का निवास-स्थान अत्यन्त उन्नत पर्वत-प्रदेश में था (ऋ० ८।१३।२९)। ८।७।५, ७, ८।२०।१)। मरुतों को अश्व प्रिय थे। वे प्रायः अश्वों से युक्त रहते थे (ऋ० ८।२७।६)। सम्भव हैं कि वे मरुत वर्तमान मार्च्छा जाति के पूर्वज थे। **'महाभारत'** के अनुसार ऊशीरवीज नामक स्थल पर उत्तराखंड में हिमालय के पास, उत्तर दिशा की ओर महाराज मरुत का यज्ञ हुआ था (बनपर्व १३९।१, उद्योग १११।२३)। बदरीनाथ के क्षेत्र में 'कंचनगंगा' नामक एक सरिता है जो सुमेरु पर्वत से निकल कर बदरीनाथ से दो मील पर अलकनन्दा में मिलती है।

कहते हैं उसमें स्वर्ण मिलता है, लोग अब भी छानते हैं (**कल्याण**, अप्रिल, ६२)।

'रघुवंश' के पाँचवें सर्ग में कालिदास ने भी अलकापुरी के अधीश्वर कुवेर द्वारा (जिन्हें पुराणों में देवताओं का कोषाध्यक्ष कहा गया है) दिग्विजयी रघु के रिक्त-कोष में स्वर्ण बरसा कर इस प्रदेश को हिरण्यगर्भा घोषित किया था। **'केदारखण्ड'** में इसीलिए इस भूमि को स्वर्ण भूमि भी कहा गया है (तस्मिन्देशे महादेवि स्वर्णभूमि महाप्रिये)। ऋग्वेद में सोने के आभूषणों का भी वर्णन है। वे कानों में कुण्डल पहनते थे ऋग्वेद (६।६८।३,१।१२६।२) में निष्कों (स्वर्ण-मुद्राओं) का भी उल्लेख है। मंडल २ मंत्र ३३ में निष्कों की माला (निष्कग्रीव २।३३। १०) पहनने का भी वर्णन मिलता है। आज भी गढ़वाली स्त्रियों को कानों में कुण्डल एवं सोने-चाँदी के रुपये, दुअन्नी और चवन्नियों की माला बना कर गले में पहिने हुए देखा जा सकता है।

स्वर्ण-धातु के बाद ऋग्वैदिक आर्यों द्वारा ताम्बे, जिसको वे (अयस) एवं लोहित अयस, लाल रंग का लोहा (ऋ० ११।३।१,७) कहते थे, का पर्याप्त प्रयोग प्रचलित था। ताम्बा यहाँ पर ३००० वर्ष ई० पू० के भी पुराने शहरों में मिला है। ताम्बा भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीनकाल से निकाला जाने लगा था और काम में आने लगा था (डा० रा० कु० मुकर्जी **हिन्दू-सभ्यता**, पृ० ८)। गढ़वाल में धनपुर, नागपुर और दशोली में ताम्बे की अनेक खानें हैं, जिनसे गढ़वाल-राज्य के पतन के समय भी गोरखों के शासन-काल तक राज्य को केवल ताम्बे की खानों से ५० हजार की वार्षिक आय निश्चित थी (**गढ़वाल गजेटियर्स**, पृष्ठ ८)। खनिज-पदार्थों में केवल तीन ही धातुओं का प्राचीन काल में यहाँ बाहुल्य था। चाँदी यहाँ नहीं होती यह सर्वविदित है। ऋग्वेद में भी चाँदी का वर्णन नहीं पाया जाता है।

वैज्ञानिकों का मत है कि सबसे पहले जो धातु मनुष्य को मिली, वह सोना था। किन्तु उसने उससे पहले ताम्बे का उपयोग करना सीखा। करीब आठ हजार वर्ष से ताम्बे का उपयोग आरम्भ हो गया था (**हिन्दी विश्व-भारती**, पृष्ठ ८२)। **'केदारखंड'** (८०।४१) में यहाँ स्वर्ण-धातु का घर कहा गया है। उसके बाद सीधे ताम्बे की खानों का उल्लेख है। चाँदी का कहीं उल्लेख नहीं है (स्वर्णादिधातुनिलयास्तथा ताम्रमयाः नगाः)। ऋग्वैदिक आर्य इन्हीं धातुओं से परिचित थे।

यद्यपि गढ़वाल की पट्टी बछणस्यूं इड़िया कोट, क्वीली भरपूर और कुंजणी में लोहे की खानें भी थीं। परन्तु गढ़वाल में प्राचीन काल से ताम्बे का सबसे अधिक प्रचलन था। स्वयं मैदानी प्रान्तों पर उसके सोने और ताम्बे की धाक

थी। 'गढ़वाल गजेटियर्स' के अनुसार राज्य को इन खानों से पचास हजार वार्षिक आय थी। आज से तीस-पैंतीस वर्ष पूर्व, गढ़वाली जनता के पास ताम्बे की वस्तुएँ इतने परिमाण में उपलब्ध थीं कि वे अपने विवाह आदि में इन्हीं के विनिमय द्वारा निर्विघ्नतापूर्वक अपनी कई कठिन आर्थिक समस्याओं का समाधान कर लेते थे। आज तक भी उस ताम्बे के बृहदाकार बर्तन-भाँड़े तथा अन्य सामग्री अनेक घरों में सुरक्षित हैं।

"उत्तराखंड के दक्षिणी भाग में हरिद्वार, ऋषिकेश, लक्ष्मनभूला तक का प्रदेश जो प्राचीन काल में गंगाद्वार क्षेत्र कहलाता था, अत्यन्त प्राचीन काल से मानव की क्रीड़ा-भूमि रहा है। १९५१ में यहां हरिद्वार से ८ मील पश्चिम की ओर बहादराबाद नामक स्थान पर गंगा जी की नहर की उपशाखा खोदते समय मजूरों को ताम्रयुगीन वस्ती के अवशेष मिले थे। मजूरों को वहाँ ताम्बे की अनेक रोचक वस्तुएँ प्राप्त हुई थीं, जिनमें बेंट या बिना बेंट वाले भाले, कुल्हाड़ियाँ, तलवारें, भालों की कुन्देवाली नोकें आदि मुख्य थीं। यहाँ ताम्बे के कुछ कड़े और कुछ चित्रांकन भी मिले थे। तेईस फीट नीचे दबी हुई, गंगाद्वार संस्कृति आज से कम-से-कम चार सहस्र छः सौ वर्ष पूर्व की मानी जा सकती है।" (**उत्तराखंड का इतिहास**, पृ० ५४-६०)।

राज्य-व्यवस्था

ऋग्वैदिक युग की भाँति प्राचीन गढ़वाल में राजा का, जो राष्ट्रपति कहलाता था, निर्वाचन बहुत-कुछ प्रजातांत्रिक-शासन प्रणाली की तरह होता था (ऋ० १०।१७३।१)। गाँवों में राष्ट्रपति (राजा) को उचित परामर्श देने के लिये (ऋ० १०।९७।६) सर्वत्र सभा-समितियाँ एवं न्याय-पंचायतें स्थापित थीं। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व तक यहाँ गाँव-पंचायतें प्रचलित थीं, जिनके द्वारा प्रजा को अनेक राजकीय अधिकार एवं सुविधाएँ सुलभ थीं। राजा को ईश्वर का अंश और पंचों को पंच परमेश्वर कहा जाता था। आज भी विशाल प्रस्तर-खंडों से निर्मित प्राचीन काल के वे पंचायती चबूतरे जिन्हें 'थर्प' कहा जाता है, और जिनमें उस युग में गाँव-पंचायतों की बैठकें बैठती थीं, ग्रामीण-क्षेत्रों में सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। उन ग्राम-पंचायतों को राज्य द्वारा प्रमुखता प्राप्त थी। उन गाँव-पंचायतों द्वारा प्रत्येक प्रकार के वादों का निर्णय होता था। अपराध की अस्वीकृति पर हरिवंश उठाकर शपथ दिलायी जाती थी (**बैटन रिपोर्ट**, पृ० २७)। **यन० डब्ल्यू० पी० सेनसेज रिपोर्ट** (१९११, भाग १, पृ० ३४५) के अनुसार प्राचीन काल से अब तक कुमाऊँ के

ग्रामीण क्षेत्रों में सर्वत्र न्याय-पंचायतों की व्यवस्था स्थापित थी। जी० आर० सी० विलियम्स **'मेम्योयर्स ऑव देहरादून'** (१८७१, पृ० ६२) में लिखते हैं कि प्रत्येक मामले यहाँ पंचायतों द्वारा निर्णीत होते थे। आज से कुछ समय पूर्व तक पंचायतें शासन द्वारा अनेक प्रशासकीय अधिकारों से अधिकृत थीं। व्यावहारिक दृष्टि से यह प्रदेश आज भी उनके द्वारा शासित हैं। मौटेनियर अपनी **'हिमालय की एक ग्रीष्म-यात्रा'** (पृ० १६६) में लिखता है कि—गांवों के प्रत्येक विवाद यहाँ ग्राम-पंचायतों द्वारा निर्णीत होते हैं। प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को उसमें बोलने का अधिकार है और वह इसके लिये पंचायतों द्वारा आमंत्रित भी होता है।

डॉ० हेमचन्द्र जोशी ने (**त्रिपथगा**, जनवरी ५८) में अनेक प्रमाणों द्वारा ऋग्वेद-काल में उत्तर कुरु (गढ़वाल) में गणतंत्र-शासन-प्रणाली प्रमाणित की हैं। वे लिखते हैं :

महाभारत-काल तक उत्तर कुरु में न तो राजा था, न पुलिस, न कोतवाल। प्रजा धर्म में रत थी और इसी धर्म के सहारे एक-दूसरे की रक्षा करती थी। इतना तो इस लेखक ने कुमाऊँ के पहाड़ों में देख रखा है कि मकानों पर ताले नहीं पड़ते थे। चोरी का नाम न था। अतिथि की सर्वत्र आवभगत थी। कुमाऊँ भी कभी उत्तर कुरु में था। कुछ झलक मैंने भी उत्तर कुरु में धर्म राज्य की देखी थी। उस समय घी तीन सेर का था। घी-दूध की नदियाँ बहती थीं। **'खस-कुटुम्ब-पद्धति'** (पृ० २३) में डॉ० जोशी भी लिखते हैं कि—इस देश में ईमानदारी और बहादुरी अत्यधिक हैं। इनकी ईमानदारी तो लाजवाब ही है।

'विष्णु पुराण' में इस प्रदेश की प्रजा को इसीलिए स्वस्थ्य, आतंकहीन और समस्त दुःखों से रहित कहा गया। **'मनुस्मृति'** (२।१७) में इस पावन प्रदेश को ब्रह्मावर्त्त एवं देवनिर्मित देश कहा है। ऐसा देश जिसकी ऐसी आदर्श प्राचीन परम्पराएँ और आचार-विचार हैं, जिसको सदाचार कहते हैं। यहाँ से उत्पन्न ब्राह्मणों से पृथ्वी के सब मनुष्य सदाचार की शिक्षा ग्रहण करते थे :

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

प्राचीन काल से लेकर आज तक अन्य भू-भागों की अपेक्षा यहाँ की प्रजा अधिक स्वस्थ, सदाचारी, आतंकहीन और सुखी थी। चोरी, लूटमार, छल और कपट का सर्वत्र अभाव था। **'गढ़वाल गजेटियर'** (पृ० ६६) में वाल्टन लिखता है कि—इनकी ईमानदारी लाजवाब है। इनकी मौखिक लेन-देन भी अविवादास्पद

होती है। यहाँ चोरी का नाम-ही-नाम है; परन्तु उसको किसी ने कार्य-रूप में परिणत किया हो, यह सर्वथा अज्ञात है। अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ तक गढ़वाल अपनी उच्च नैतिकता, ईमानदारी और सच्चाई में अद्वितीय था। ट्रेल जो सन् १८२१ ई० में गढ़वाल के प्रथम कमिश्नर थे, लिखते हैं : चोरी का सर्वथा अभाव एवं गढ़वाली लोगों की अत्यधिक नैतिकता यहाँ पुलिस की नियुक्ति अनावश्यक कर देती है। १८३९ ई० में बैटन डिप्टी-कमिश्नर भी इसका समर्थन करता है। लिखता है : यहाँ के लोगों का पारस्परिक व्यवहार ईमानदार और विश्वसनीय है। अपने आर्थिक-सम्पर्क में भी यहाँ ग्रामीणों को किसी लिखत की आवश्यकता नहीं पड़ती। दोनों पक्षों द्वारा केवल हाथ मिला कर ही, किसी भी ठेके की स्वीकृति हो जाती है। जिसकी पूर्ति किसी भी सरकारी लिखत की भाँति, निश्चित रही है (**गढ़वाल-एनशिएन्ट ऐन्ड मौडर्न**, पृ० १२६)। श्री सान्याल **'महाप्रस्थान के पथ पर'** (पृ० १५) में लिखते हैं :

"इस मार्ग में सभ्य समाज के समान चोरी-डकैती आदि कुछ नहीं होती। इस दृष्टि से इस ओर यात्री निरापद रहता है। कुली विश्वासी, नम्र और सीधे-सादे होते हैं। पैसे के विए उनमें मोह होता है, किन्तु उसके लिये दुष्प्रवृत्ति नहीं होती। वे विवाद करेंगे पर धूर्तता नहीं करेंगे। वे गरीब होते हैं, किन्तु गरीबो उनके हृदय को कलुषित नहीं करती। वे वित्तहीन हैं पर चित्तहीन नहीं।"

डॉ० हीवर १८२४ ई० में लिखते हैं कि—इनमें अधिक ईमानदार और शान्त जाति विश्व भर में शायद ही कहीं मिलेगी।

सामाजिक आचार-विचार और रीति-रिवाज

यहाँ के अधिकांश आचार-विचार हिन्दू-समाज के अनुसार बने हुये हैं। वैवाहिक रीति-रस्म हिन्दू-कानून सम्मत न होते हुए भी प्राचीन आर्य-शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित हैं। उनके आचार-विचारों में, सामाजिक रीति-रस्मों में हिन्दू-जगत के अनेक सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों के बावजूद आर्यावर्त्त में पहुँचने से पूर्व वे प्राचीन आर्य-परम्पराएँ अधिकांश सुरक्षित हैं। पन्नालाल और यल० डी० जोशी आदि कानून-निर्माताओं ने जिन 'टेकवा', 'भौजेटिया,' 'घरजवाँई,' 'जेठुंडा,' 'सौतियावाँट,' और 'टके का ब्याह' आदि प्रथाओं के कारण इन्हें हिन्दू-लौ से बाहर अहिन्दू एवं अवैदिकी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है, वे समस्त प्रथाएँ नवीन हिन्दू नीतिशास्त्रों द्वारा स्वीकृत भले ही न हो प्राचीन आर्यशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित हैं। इसमें स्पष्ट हैं कि गढ़वाल के आदि निवासी आर्यों का आर्यावर्त्त में पहुँचने से पूर्व ही अपने सजातीय आर्यों से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया था। ऋग्वेद (१०।८५।४५,

१०।४०।२। ; १०।१८।७,८) के अनुसार देवर को अपनी विधवा भावज के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित करने एवं उत्तराधिकारी बनने का उपदेश है। यास्काचार्य ने 'निरुक्त' में देवर को इसीलिए द्वितीय वर लिखा है (देवरः कस्माद्; द्वितीयो वर उच्यते)। ऋग्वेद की इसी सम्मति के आधार पर देवर और भावज के दाम्पत्य सम्बन्ध से, गढ़वाल में टेकवा एवं भौजेटिया आदि सम्बन्धों की सृष्टि हुई है। देवर के लिए यहाँ आज भी वे अधिकार कानूनों में सुरक्षित हैं। डाक्टर जोशी के कथनानुसार टेकवा नियोग है। विधवा अपने पति के घर पर रहकर जिस देवर के साथ दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थापित कर संतानोत्पत्ति करती है, उसको गढ़वाल में 'टेकवा' कहते हैं और देवर-भावज के दाम्पत्य सम्बन्ध से उत्पन्न पुत्रों को 'भौजेटिया' कहते हैं। टेकवा विधवा का प्रबन्धक, संरक्षक और प्रेमी होता है, जिसको विधवा किसी भी समय पृथक् कर सकती थी। आज तो टेकवा प्रथा का सर्वथा लोभ हो गया है।

पति की मृत्यु के उपरान्त ही नहीं, वरन् उसके जीवनकाल में पति की स्वीकृति से टेकवा द्वारा अपनी पत्नी से सन्तान उत्पत्ति का हिन्दू शास्त्रानुसार दस्तूर था। स्मृतिकार मनु, वशिष्ठ, गौतम, नारद और विष्णु इसे अनुचित नहीं समझते। गढ़वाल में भी टेकवा द्वारा उत्पन्न सन्तान धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर की भाँति टेकवा (व्यास) की नहीं, वरन् मृतक पति की क्षेत्र सन्तति समझी जाती थी और इसीलिए उसी की सम्पत्ति की अधिकारिणी भी होती थी। हिन्दू-स्मृतियों के आधार पर केवल 'देवर' ही टेकवा बनाने का अधिकारी था, परन्तु उसकी अस्वीकृति एवं अभाव में अपने जेष्ठ, भीष्म के अतिरिक्त सुदूर सम्बन्धी जेष्ठों से भी धृतराष्ट्र, पाण्डु, विदुर एवं पाँचों पाण्डव उत्पन्न किये जा सकते थे। परन्तु आज गढ़वाल में विधवा भावज से दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार केवल देवर को ही है। इस प्रकार हिन्दू लॉ से बाहर गढ़वाल की विधवा भावजों से दाम्पत्य-सम्बन्ध टेकवा और मौजेटिया आदि की परम्परा वेद और स्मृति-ग्रन्थों पर आधारित है (मनु ९।५८)।

घरजँवाई और जेठुंडा प्रथा

पुत्र के अभाव में पुत्रहीन मनुष्यों को पुत्रिका-संस्कार द्वारा अपनी पुत्री को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का, शास्त्रीय विधान है। गढ़वाल में 'घरजँवाई' की यह प्रथा मनु द्वारा प्रतिपादित है (मनु ९।१२७ से १३९)। वशिष्ठ ने (१७।१६) वेदमंत्रों के उद्धरण देकर इसकी पुष्टि की है। इसी प्रकार मनु ने (९।११२) पृथक्-पृथक् होने से पूर्व, पैतृक सम्पत्ति का वीसवाँ भाग

और वस्तुओं में सर्वोत्तम वस्तु जेष्टांश के रूप में बड़े भाई को देने का आदेश दिया है। स्मृति-ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित यही जेष्ठांश गढ़वाल में 'जेठुंडा' प्रथा की आधार शिला है।

सौतिया बाँट

आज से पचास-साठ वर्ष पूर्व तक गढ़वाल में पैतृक सम्पत्ति को पत्नियों की संख्या के अनुसार बराबर-बराबर विभाजित करने की प्रथा भी प्रचलित थी। इसी को 'सौतिया बाँट' कहते हैं। आज भी कई गाँवों में इसके प्रत्यक्ष प्रमाण सुरक्षित हैं। यह वैदिक युग की मातृ-प्रधान प्रथा के अवशेष हैं। राहुल **'कुमाऊँ'** (पृ० १६१) में डॉ० यल० डी० जोशी भी अपने **'खस-फेमली-लौ'** (पृ० २९०) में इसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। मातृप्रधान-प्रथा की यह परम्परा स्मृति-ग्रन्थों द्वारा सम्मानित रही है। इसी आधार पर स्मृतिकारों ने मामा-भानजा आदि मातृ-पक्ष के सदस्यों को अपने धार्मिक एवं पितृ-कार्यों में विशेष आदर देने का आदेश दिया है। मातृप्रधान युग की परम्परानुसार स्त्री राज्य का ऐतिहासिक अस्तित्व प्रमाणित है। चीनी यात्री ह्वैन-त्साँग ने हरिद्वार से ऊपर, ब्रह्मपुर के उत्तर में, स्त्री राज्य का उल्लेख किया है। ऋग्वैदिक काल में भी मातृ-महत्व की प्रमुखता प्रमाणित है। देव और असुर एक ही प्रजापति के पुत्र थे, परन्तु इस युग में भी पिताओं के नाम पर नहीं, वरन् माताओं के नाम पर वंश-परम्परा प्रतिष्ठित हुई। माताओं के नाम पर देव और दानवों का वंश चला। अदिति के आदित्य, दनु के दानव, दिति के दैत्य और कद्रु के नाग हुए। सौतियाबाँट की इसी वैदिक परम्परानुसार देव और दानवों के बीच राज्य का विभाजन किया गया। सप्तसिन्धु का उत्तर गिरि अलकनंदा पार दिति के पुत्र दैत्यों को और दक्षिण गिरि-प्रदेश अदिति के पुत्र आदित्यों को प्राप्त हुआ। पुराणों द्वारा स्थान-स्थान पर इस विभाजन की पुष्टि है।

दक्षिण भारत मलावार क्षेत्र में यह प्रथा आज भी प्रचलित है। वहाँ भी पत्नियों की संख्या के अनुसार पैतृक सम्पत्ति के समान विभाजन को पत्नि-भाग कहते हैं। पत्नि-भाग का शब्दार्थ स्पष्टतः सौतियाबाँट है। आर्यों के आदि देश सप्तसिन्धु 'ब्रह्मावर्त्त' से यह मातृ-प्रधान परम्परा, जलप्लावन के अवतरण के बाद, जब ऋग्वैदिक ऋषि अगस्त्य के नेतृत्व में आर्यों का अभियान, ब्रह्मावर्त्त से, आर्यावर्त्त से, होता हुआ दक्षिण की ओर भी अग्रसर हुआ, दक्षिण देश को भी चली गयी।

विवाह-पद्धति

गढ़वाल में अनेक प्रकार की विवाह-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। आर्य-ग्रन्थों में ऐसे अनेक सम्बन्धों का उल्लेख है। परन्तु पन्नालाल और डॉ० यल० डी० जोशी गढ़वाल के इन विवाहों को हिन्दू-विवाह-पद्धति के अन्तर्गत नहीं मानते। यद्यपि आर्य-ऋषियों द्वारा प्रतिपादित आठ प्रकार के विवाहों में से चार विवाहों में वैदिक विधि से विवाह-संस्कार सम्पन्न नहीं होते हुए भी, वे आर्यशास्त्रों द्वारा सम्मानित एवं मान्यता-प्राप्त हैं, तो भी गढ़वाल के सब प्रकार के विवाहों को समाज में समान स्थान प्राप्त करने के लिये देर-सबेर, पिता या पति के घर पर विधिवत् सप्तपदी संस्कार करना अनिवार्य है। स्टौवल इसे स्वीकार करता है। कहता है कि—"सप्तपदी का आवश्यक संस्कार सदैव सम्पन्न किया जाता है।" पन्नालाल भी दबी जबान से अपने '**कुमाऊँ कस्टमरी लौ**' में इसे स्वीकार करता हैं। कहता है—"सप्तपदी संस्कार यद्यपि सदैव सम्पन्न किया जाता है परन्तु आवश्यक नहीं।" सप्तपदी संस्कार के लिए वर-वधु की ओर से पर्याप्त धन व्यय किया जाता है। यदि यह संस्कार अनिवार्य न होता तो कोई इतना व्यय-भार वहन करने के लिये सहर्ष तैयार न होता। इस तथ्य को पन्नालाल सर्वथा नजर-अंदाज कर देता है।

पन्नालाल और डॉ० यल० डी० जोशी (पृ० ११७) 'टके के विवाह' को कन्या विक्रय घोषित करते हैं, जो सरासर निराधार है। विक्रय करने के बाद उस वस्तु के प्रति विक्रेता के सम्पूर्ण सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। परन्तु टके का आदान-प्रदान होते हुए भी जिन विवाहों में पिता-पुत्री के पीढ़ियों तक समस्त लौकिक-पारलौकिक सम्बन्ध सुरक्षित रहते हैं, विधिवत् सप्तपदी संस्कार आयोजित होता है, उसको कन्या विक्रय कहना मूर्खता है। यल० डी० जोशी टके के व्याह को आसुर विवाह कहते हैं, जो गलत है। आसुर-विवाह उस विवाह को कहते है, जो वधू के माता-पिता को धन देकर बिना विधिवत् विवाह-संस्कारों के स्वच्छन्दतापूर्वक (मनु ३।३१) सम्पन्न होते हैं। कन्या-विक्रय इन्हीं स्वच्छन्द एवं संस्कारच्युत विवाहों के अन्तर्गत आता है। परन्तु टके के व्याह में पति के घर दृढ़तापूर्वक वैदिक संस्कार होते हैं, विधिवत् शास्त्र-सम्मत सप्तपदी सम्पन्न होती हैं। आर्य-विवाह में वर से एक या दो जोड़े बैल लेने के लिये कन्या के माता-पिता शास्त्रों द्वारा अधिकृत हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आठ प्रकार के विवाहों में से चार अंतिम विवाहों में कन्यादान सम्भव नहीं है। टके के व्याह में भी कन्या के माता-पिता द्वारा कन्यादान नहीं होता। परन्तु विवाह से कन्यादान का कोई सम्बन्ध नहीं है।

आर्यधर्मानुसार विधिवत् सप्तपदी-संस्कार पत्नीत्व का कारण है।

दान के आध्यात्मिक एवं सामाजिक अर्थों में कन्यादान का कोई स्थान नहीं है। वस्तुतः कन्यादान दान ही नहीं है। कन्या पर माता-पिता का स्वामित्व नहीं है। वे उसके उपभोक्ता नहीं हो सकते। वे कन्या को किसी-न-किसी अन्य व्यक्ति को देने के लिये विवश हैं। जिस वस्तु को हम दूसरों को देने के लिये विवश हैं, जिसका हम स्वयं उपभोग नहीं कर सकते, वह हमारी वस्तु नहीं, पराई है; और पराई वस्तु को दान करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। कन्या-दान करने के बाद भी कन्या के साथ हमारा पितृत्व एवं कन्यात्व सम्बन्ध पूर्ववत् सुरक्षित रहता है। यदि कन्यादान दान होता तो दान के पश्चात् कन्या के साथ, दाता के समस्त सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक अधिकार समाप्त हो जाते, परन्तु कन्या के साथ कन्यादान के बाद भी, माता-पिता के लौकिक ही नहीं,वरन् पारलौकिक सम्बन्ध भी पीढ़ियों तक सुरक्षित रहते हैं। टके का व्याह तो अंतिम चार निन्दनीय विवाहों से अधिक शिष्ट तथा सम्माननीय है, परन्तु अंतिम चार निन्दनीय विवाहों के अन्तर्गत, सीता-द्रौपदी-स्वयम्वर, शकुन्तला-दुष्यन्त का गांधर्व-विवाह एवं अनेक आर्य-नरेशों द्वारा कई राजकुमारियों के पाणिग्रहण के जो हमारे आर्य-ग्रन्थों में अनेक उदाहरण है, उनमें सप्तपदी एवं विधिवत् विवाह-संस्कारों का कहीं उल्लेख न होने पर भी, उनके द्वारा उत्पन्न संतति को आर्य-जगत् में सर्वोच्च सम्मान मिला है।

गढ़वाल में प्रचलित उपर्युक्त रीति-रस्म हिन्दू-कानून से सर्वथा अप्रभावित क्यों रहे? बाहर के नये हिन्दू-संसार के सामाजिक-धार्मिक परिवर्तनों का उनकी दिनचर्या पर क्यों प्रभाव नहीं पड़ा? इसका कारण यह है कि जलप्लावन के अवतरण पर, जब आर्य अपने आदि देश ब्रह्मावर्त्त को छोड़कर आर्यावर्त्त में बस गये तो वर्तमान गढ़वालियों के अधिकांश पूर्वज अपने आदि देश में ही अपनी प्राचीन आर्य-परम्पराओं का अधिकांश पालन करते हुए, रह गये। यद्यपि आर्यावर्त्त के गत हजारों वर्षों के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों से वे भी पूर्णतः अछूते नहीं रहे, परन्तु यहाँ की विषम पर्वतीय परिस्थितियों के कारण, उनकी ऋग्वैदिक परम्पराएँ, नये हिन्दू संसार से अधिकांश अप्रभावित रहीं। डॉ० यल० डी० जोशी भी इस मत के समर्थक हैं। वे अपने शोधग्रन्थ '**खस-फेमली-लौ**', (पृ० ३१०—१२) में लिखते हैं :

"गढ़वाल के खसियों की कुटुम्ब-पद्धति आदिकालीन आर्यों के कौटुम्बिक संगठन की परिचायक है। वे उन धार्मिक विचारों से सर्वथा अप्रभावित हैं, जो बाद के बने हिन्दू-नीति-शास्त्रों में पाये जाते हैं। इस प्रकार अर्वाचीन हिन्दू-सिद्धान्तों से सर्वथा अछूता रहने का कारण यह है कि गंगा-क्षेत्र में बसने पर,

ब्राह्मण-युग के बाद आर्यावर्त्त के आर्यों में जो शक्तिशाली सांस्कृतिक उथल-पुथल हुई, वे उससे पूर्व ही पृथक् हो गये थे। हमारे समक्ष इस विश्वास के पर्याप्त कारण हैं कि गढ़वाल के वर्तमान खसिये वैदिक आर्यों की आदि शाखा हैं।"

दस्यु या दास

गढ़वाली हरिजनों में एक जाति 'दास' कहलाती है, जो वैदिक दस्यु से मेल खाती है। दस्युओं को ऋग्वेद में दास भी कहा गया है (ऋ० १०।२२।८)। इसका वर्ण काला था (ऋ० ७।५।३)। डब्ल्यू० क्रुक अपनी **'दि ट्राइब ऐण्ड कास्टस ऑफ नौर्थ-वेस्ट-प्रोविन्स'** (द्वितीय भाग, पृ० ३३२) में लिखते हैं कि—इस प्रान्त के पर्वतीय प्रदेश में दास भी हैं, जिन्हें वेद के दस्युओं की संतान कहा जाता है और जिनका नाग या खसों के आगमन से पूर्व उत्तर भारत पर प्रभुत्व स्थापित था। डॉ० यल० डी० जोशी (पृ० १२ में) उन्हें इन पर्वत-प्रदेशों के आदि निवासी, जिन्हें खसियों ने पराजित करके दास बनाया है, बतलाते हैं। वहिष्कृत वस्तुतः संस्कारच्युत होने के कारण आर्यों की इस शाखा को दास कहा गया है। जिनको प्रायश्चित स्वरूप द्विजों की दासवृत्ति से जीवन-निर्वाह करना अनिवार्य था (ऋ० १०।६२।१०)। वैदिक युग में आर्य-सभ्यों के नाम दिवोदास, सुदास भी थे तथा दस्यु नामक ऋषि ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा थे। दस्युओं और असुरों की नामावली से भी यह प्रमाणित नहीं होता कि वे आर्यों से भिन्न किसी असंस्कृत जाति के वंशज थे।

ऋग्वेद (१।५१।८) के अनुसार उन आर्यों को जो दस्यु हैं, अलग-अलग पहचानो और जो धार्मिक कर्म करते, उनको दंड देते हुए यज्ञ करने वालों के अधीन करो! इससे स्पष्ट है कि दस्यु अन्यव्रते, अवृतां, कर्महीना, अयाज्ञिक आर्यों को कहते थे। **'ऐतरेय ब्राह्मण'** मे लिखा है कि आर्य-ऋषि विश्वामित्र ने अपने ५० अवज्ञाकारी पुत्रों को दस्यु घोषित कर दिया। मनु स्पष्ट कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की जो जातियाँ क्रियालोप से वाह्य हो गयी हैं, चाहे म्लेच्छ भाषा बोलें या आर्य-भाषा, वे दस्यु कहलाती हैं :

मुखवाहुरूपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥

कुछ विद्वानों का यह कथन है कि कृष्ण वर्ण के दस्यु हिमालय के आदि निवासी नहीं हो सकते, सत्य है; परन्तु वे हिमाच्छादित पर्वतवासी भले ही न हो, गिरि-प्रदेश गढ़वाल के निवासी हो सकते हैं, क्योंकि गढ़वाल के समस्त

भाग हिमाच्छादित नहीं रहते। यहाँ की जल-वायु जहाँ उन्नत पर्वत-प्रदेश में अत्यधिक शीतप्रधान है, वहाँ गहरी गिरि-उपत्यकाओं में अधिक उष्ण भी है। कृष्ण वर्ण के व्यक्ति अनार्य जाति के होते हैं, यह कथन निराधार है। उन्नत पर्वत प्रदेशों में जहाँ केवल द्विजों में ही नहीं, वरन् शूद्रों में भी गौर वर्ण के लोग पाये जाते हैं, वहाँ गिरि-उपत्यकाओं में द्विजातियों में भी कृष्ण वर्ण के लोग होते हैं। कृष्ण वर्ण के लोग अनार्य जाति के थे, यह कथन सर्वथा निराधार और असंगत है। आर्य जाति के आराध्य राम और कृष्ण का वर्ण काला था। द्रोपदी कृष्ण वर्ण की थी। कृष्ण वर्ण होने के कारण महर्षि व्यास को कृष्ण द्वैपायन कहा गया था। वस्तुतः कई प्रकार की जल-वायु होने के कारण गढ़वाल की समस्त ऊँच-नीच जातियों में श्वेत, श्याम, ताम्र एवं पीत वर्ण के व्यक्ति पाये जाते हैं। केवल दस्यु ही नहीं, कण्व ऋषि कृष्ण वर्ण के तथा देवराज इन्द्र श्याम वर्ण के थे।

आर्य एक जातिवाचक शब्द है, यह स्थापना भी सर्वथा निराधार और अप्रामाणिक है। गोरे इतिहासकारों ने राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के लोभ से अपने को रूप-रंग के आधार पर संसार की अन्य जातियों से श्रेष्ठ प्रमाणित करने के लिए आर्यों की विशेष जाति की कल्पना की है, अन्यथा वेद और पुराणों में आर्य एवं अनार्य शब्द विशेषण मात्र थे। सप्तसिन्धु के निवासी अपने आदरास्पद ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्ध किसी भी श्रेष्ठ पुरुष को 'आर्य' एवं महिला को 'आर्या' तथा किसी अप्रिय एवं अवांछित कार्य करने वाले को 'अनार्य' एवं 'अनार्या' कहकर सम्बोधित करते थे। ऋग्वेद में ३३ बार, सामवेद में ३ बार और यजुर्वेद में १४ तथा अथर्ववेद में १२ बार 'आर्य' शब्द का व्यवहार हुआ है और कहीं भी वह किसी जातिविशेष का सूचक नहीं है। समस्त आर्य-साहित्य में पौराणिक काल तक, 'आर्य' एवं 'आर्या' शब्द द्वारा विशेष आदरसूचक सम्बोधन की ही परम्परा पायी जाती है। मनु ने भी आर्यावर्त्त के समस्त निवासियों को, वे कृष्ण तथा गौर वर्ण के ही क्यों न हों, वे देव हों या दानव, 'आर्य' कहा है। वाल्मीकि 'रामायण' में जहाँ मन्दोदरी राक्षसराज रावण को आर्यपुत्र (६-१६-६) कह कर सम्बोधित करती है, वानरराज बाली की पत्नी बाली को आर्यपुत्र (४-१५-१८) और आर्य नाम से (४।१७।३०) पुकारती है, वहाँ आर्य नरेश दशरथ कैकेयी की 'अनार्या' कह कर भर्त्सना भी करते हैं (२।१६।१६)।

● ●

आर्यों की स्वर्गभूमि गढ़वाल

मुगल सम्राटों के शासनकाल के बाद केवल चार-पाँच शताब्दियों से विदेशी पर्यटकों द्वारा कश्मीर को पृथ्वी का स्वर्ग घोषित किया गया है। परन्तु प्राचीन काल में लगभग सातवीं शती से पूर्व, जब तक भारतवर्ष हिन्दुस्तान नहीं बना था, यह उत्तराखंड प्रदेश, जो आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूप से सम्पन्न है, जहाँ सर्वत्र पर्वत-उपत्यकाओं में स्थान-स्थान पर रंग-विरंगे सहस्त्रों पुष्प-समूहों से अलंकृत वन-उपवनों, शैल-शिखरों पर फैले हुये अनेक सुन्दर सरोवरों, भाँति-भाँति के पशु-पक्षियों, कल-कल प्रवाहिनी सरिताओं, तरु-लताओं एवं बहुमूल्य संजीवनी जड़ी-बूटियों का बाहुल्य है, पृथ्वी का स्वर्ग कहलाता था।

आर्यों ने अपने आदि देश को सगर्व स्वर्ग की उपाधि से विभूषित किया है। वहाँ मंदाकिनी आदि नदियाँ बहती हैं, वहाँ स्वर्ग का द्वार है, वहाँ सोम होता है, वहाँ का राजा मनु है। आर्यगण ऋग्वेद में प्रार्थना करते हुए कहते हैं :

हे सोम ! जिस लोक में वैवस्वत मनु राजा हैं, जहाँ स्वर्ग का द्वार है, और जहाँ मन्दाकिनी आदि नदियाँ बहती हैं, उस उत्तम लोक में उन्हें अमर करो (ऋ० ९।११३।८)। इस ऋचा के उद्गाता कश्यप ऋषि स्वयं हरिद्वार के निवासी थे।

ऋग्वेद की इस घोषणा में चार तथ्यों का उल्लेख किया गया है। सबसे प्रथम सोम का उल्लेख है, जिसका उत्पत्ति-स्थान हिमालय का मुंजावत नामक पर्वत है। मंत्र के द्वितीय तथ्य के अनुसार जहाँ वैवस्वत मनु का राज्य है। वैवस्वत मनु (यम) ब्रह्मावर्त्त के राजा थे। उन्होंने जलप्लावन के समय, गढ़वाल के दक्षिण गिरिप्रदेश से जहाँ उनका निवास स्थान एवं प्रधान केन्द्र था, उत्तरगिरि की ओर, हिमालय के सर्वोच्च शैल-शिखर पर अपनी नाव बाँधने के लिये, सप्तर्षियों को लेकर प्रयाण किया था। मनु का यह 'मनोरवसर्पण' नामक सर्वोच्च शरणस्थल उन्हीं के द्वारा प्रशंसित देवनिर्मित देश ब्रह्मावर्त्त में बदरीनाथ के निकट सरस्वती नदी के तट पर, वर्तमान माना (वर्ष) गाँव, जिसका पौराणिक नाम मणिभद्रपुर था, के आस-पास कहीं था। हिमालय के उत्तरगिरि के इसी पर्वतक्षेत्र में एवरेस्ट के बाद, कामेट और माना शिखर नामक २५,००० फुट तक ऊँचे सर्वोच्च हिमाच्छादित शैल-शिखर हैं। इसका अर्थ है कि हिमालय के दक्षिण गिरि से लेकर उत्तर गिरि तक, गढ़वाल के समस्त पर्वत प्रदेश पर मनु का राज्य था।

मंत्र के तीसरे भाग में कहा गया है कि वहाँ स्वर्ग का द्वार है। वह स्वर्ग का द्वार कहाँ है। उसके सम्बन्ध में **'केदारखंड'** (१०६।४।५) का निम्नलिखित उद्धरण अवलोकनीय है। उसमें हरिद्वार से नीचे की भूमि को सामान्य भूमि, हरिद्वार से ऊपर की भूमि को स्वर्ग भूमि और हरिद्वार को स्पष्टतः स्वर्ग द्वार कहा है, जिसके दर्शन मात्र से मनुष्य भव-बन्धनों से मुक्त हो जाता है :

गंगाद्वारोत्तरं विप्र स्वर्गभूमि स्मृता बुधैः।
अन्यत्र पृथ्वी प्रोक्ता गंगाद्वारोत्तरं विना ॥
इदमेव महाभाग स्वर्गद्वारं स्मृतं बुधैः।
यस्य दर्शनमात्रेण विमुक्तो भवबन्धनैः ॥

'महाभारत' (आदि पर्व १६९।२२) में लिखा है कि—जिस क्षेत्र में गंगा जी अलकनन्दा के नाम से पुकारी जाती हैं, वही स्वर्ग है। आज भी हरिद्वार से ऊपर गंगा जी अलकनन्दा नाम से पुकारी जाती हैं। पाँचों पांडवों के साथ अर्जुन ने वनवास-काल में बदरीकाश्रम के इसी गन्धमादन पर्वत क्षेत्रान्तर्गत स्वर्ग में स्वर्गाधिपति इन्द्र से दिव्यास्त्र प्राप्त किये थे। पाँचों पांडवों ने स्वर्गारोहण के निमित्त भी, इसी स्वर्गभूमि की यात्रा कर मुक्ति प्राप्त की थी। महाराज युधिष्ठिर ने स्वर्ग त्रिविष्टप में प्रवेश करने के बाद जिस देवनदी अलकनन्दा में स्नान कर देवत्व प्राप्त किया था, **'महाभारत'** (स्वर्गारोहण पर्व) के अनुसार वह पावन क्षेत्र यही है। स्वर्गाधिपति इन्द्र युधिष्ठिर से कहते हैं :

एषा देवनदी पुण्या पार्थ त्रैलोक्यपावनी।
अत्र स्नातस्य भावस्ते मानुषो विगमिष्यति ॥
गंगा देवनदी पुण्या पावनीमृषि संस्तुताम्।
अवगाह्य ततो राजा तनुं तत्याज मानुषीम् ॥

ऋग्वेद के उक्त चौथे तथ्य में कहा गया है कि जहाँ मंदाकिनी आदि नदियाँ बहती हैं वही स्वर्ग है। इस दृष्टि से गढ़वाल के केदार क्षेत्र में बहने वाली मंदाकिनी के भौगोलिक अस्तित्व से ऋग्वैदिक आर्यों की स्वर्गभूमि की वास्तविकता पूर्णतः प्रमाणित हो जाती है।

गढ़वाल की देवनदी सरस्वती का तट वैवस्वत मनु का शरणस्थल था। गढ़वाल की दूसरी और तीसरी देवनदियाँ, अलकनन्दा और मंदाकिनी का तटवर्ती क्षेत्र पुरूरवा और उर्वशी की क्रीड़ा-स्थली भी था। पुरूरवा, वैवस्वत मनु की पुत्री इला से उत्पन्न बुध के पुत्र थे। बुध का निवासस्थान बधाण (बुध अयन) था। उर्वशी स्वर्ग की अप्सराओं में से एक थी। वह ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'पुरुष सूक्त' के ऋषि नारायण से उत्पन्न थी, जिनका आश्रम बदरी क्षेत्र में नर-नारायण

आश्रम के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। ऋषि नारायण ने उर्वशी को इसी क्षेत्र के अधिपति इन्द्र को समर्पित कर दिया था।

ऋग्वेद और पुराणों के अनुसार इन्द्र, बुधपुत्र पुरूरवा और उर्वशी का निवास-स्थान, गन्धमादन पर्वत और अलकनन्दा का तटवर्ती क्षेत्र था। आर्य साहित्य में इसी क्षेत्र को पृथ्वी में स्वर्ग की उपमा से सम्मानित किया गया है। पुरूरवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर (जोशीमठ) थी। जिस प्रतिष्ठानपुर को वर्तमान इतिहास-लेखक इलाहाबाद (भूंसी) के निकट बताते हैं, उसका ऋग्वेद युग में अस्तित्व भी नहीं था। ऋग्वेद (१।३१।४) के अनुसार जिस स्वर्गभूमि में अग्नि ने मनु को अनुगृहीत किया था, वह शीतप्रधान प्रदेश था।

'विष्णुपुराण' (४।६।४८) में भी लिखा है कि—पुरूरवा ने उर्वशी के साथ आनन्दपूर्वक अलकापुरी के अन्तर्गत सुन्दर पद्मों से अलंकृत मानसरोवर और सरस्वती में विहार करते हुए कई हजार वर्ष व्यतीत किये। **'केदारखण्ड'** (बदरीकाश्रम महात्म्य ५८।३६–३७) में भी इसका उल्लेख हुआ है। वहाँ कहा गया है कि बदरीनाथ से पश्चिम आध कोश की दूरी पर सम्पूर्ण सुन्दरता प्रदान करने वाला उर्वशी कुंड विद्यमान है। इसी कुंड के निकट पुरूरवा ने पाँच वर्ष तक तिरछी चितवन वाली उर्वशी से रमण कर पुत्र उत्पन्न किये थे।

महाकवि कालिदास ने भी अपने प्रसिद्ध नाटक **'विक्रमोर्वशीयम्'** में इस मंदाकिनी-अलकनन्दा के तटवर्ती क्षेत्र में गन्धमादन पर्वत पर पुरूरवा और उर्वशी की क्रीड़ाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। जब उर्वशी अलकापुरी-नरेश कुबेर की सेवा करके लौट रही थी तो केशी नामक एक राक्षस उसका हरण करता है। यहीं से नाटक आरम्भ होता है। कालिदास ने **'मेघदूत'** में कनखल से ऊपर देवतास्वरूप हिमालय और देवनदी गंगा के इस पावन क्षेत्र को स्वर्ग-प्राप्ति का सोपान कहा है।

'विष्णुपुराण' (२।३) में हिमालय के इस क्षेत्र को स्पष्ठतः स्वर्ग घोषित किया गया है। **'विष्णुपुराण'** में इस प्रदेश को उत्तर कुरु वर्ष तथा इलावृत वर्ष भी कहा गया है। इसीलिये इस क्षेत्र को वेदों ने **योनिदेवकृत्** (२।३३।४) और मनु ने देवताओं का देश (तं देवनिर्मितं देशं) कहा है। क्योंकि यहाँ का अपना स्वतंत्र परम्परागत धर्म एवं आचार है, जो सबके लिए अनुकरणीय है। इस क्षेत्र को वेद और पुराणों द्वारा प्रतिपादित अद्वितीय आध्यात्मिकता के कारण आज भी मनुष्य प्रति वर्ष स्वर्गप्राप्ति के निमित इस भूमि की यात्रा करके आध्यात्मिक शांति प्राप्त करते हैं। **'केदारखण्ड'** (४१।५) में भगवान् ने स्वयं कहा है कि मैंने ब्रह्ममूर्ति धारण कर सर्व प्रथम जिस देश की

रचना की है, उसी का नाम ब्रह्मावर्त्त एवं केदारखंड है। मैं स्वयं जितना प्राचीन हूँ, यह क्षेत्र भी उतना ही प्राचीन है।

प्राचीन काल में यह गिरि प्रदेश तीन भागों में (उत्तरगिरि, अन्तर्गिरि और दक्षिणगिरि) विभाजित था। इसलिये इसे 'त्रिविष्टप' भी कहते थे। एक का अधिपति विष्णु, एक का इन्द्र और एक का अधिपति ब्रह्मा था। इन्द्र एक पदवी थी जो स्वर्गराज्य के अधिपति के लिए निश्चित थी। गंधमादन पर्वत क्षेत्रान्तर्गत इस स्वर्गराजा का प्रत्येक अधिपति उत्तराधिकार में इन्द्र से गद्दी प्राप्त करने के पश्चात् इन्द्र या सुरराज के नाम से सम्बोधित किया जाता था। इस प्रकार स्वर्ग के जिस प्रदेश के अधिपति इन्द्र थे, उसका नाम वेदों और पुराणों के अनुसार, गन्धमादन पर्वत प्रदेश अर्थात् बदरीकाश्रम क्षेत्र था। इसी क्षेत्र में त्रिपथगा (गंगा), जिसको ऋग्वेद के '**नदीसूक्त**' के प्रथम मंत्र के अनुसार तीनों लोकों में बहने वाली सिन्धु (अलकनंदा) भी कहा गया है, प्रवाहित होती है। '**महाभारत**' में स्वर्ग (त्रिविष्टप) में प्रवेश करने पर युधिष्ठिर को गंगा नदी मिलती है। '**महाभारत**' (वनपर्व ८४।२७, ८६।१५ और ६०।२१) के अनुसार हरिद्वार ही स्वर्गद्वार है। हरिद्वार से ऊपर जहाँ सुरसरिता गंगा अलकनन्दा के नाम से पुकारी जाती है वहीं स्वर्ग एवं त्रिविष्टप है और इस स्वर्ग (त्रिविष्टप) के तीनों भागों में बहने के कारण अलकनन्दा को इसीलिए 'त्रिपथगा' कहा गया है। वेदों के प्रकांड पंडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर लिखते हैं :—त्रिविष्टप स्वर्ग का नाम है। इसी का अपभ्रंश तिब्बत हुआ है। अर्थात् आज का तिब्बत ही 'त्रिविष्टप' अर्थात् स्वर्ग है। भारत के यज्ञकर्ता वृद्धावस्था में त्रिविष्टप में (स्वर्ग में) जाकर रहते थे। हिमालय में सुखद स्वास्थ्यदायी पवन बहता है। शीघ्र थकावट नहीं आती। शरीर में अच्छी शक्ति रहती है। उत्साह रहता है। ऐसा वह प्रदेश है। अतः वृद्ध होने पर वहाँ जाकर लोग रहते थे और आनन्द से अपनी आयु व्यतीत करते थे। इसके अनेक प्रमाण हैं।

पांडवों ने इन्द्रप्रस्थ पर भारत युद्ध के बाद तीस वर्ष राज्य किया। तत्पश्चात् वे स्वर्ग में रहने के लिए गये थे। स्वर्ग में मरने के पश्चात् जाते हैं, यह अशुद्ध विचार है। अर्जुन जीवितावस्था में ही स्वर्ग में जाकर शस्त्रास्त्र लाया था। इस तरह सब पांडव जीते-जी, स्वर्ग में, हिमालय में, रहने के लिए गये थे।

आज भी स्वर्गद्वार के नाम से एक स्थान हिमालय में हरिद्वार से थोड़ी दूर पर विद्यमान है। इस स्वर्गद्वार से स्वर्ग स्थान का प्रारम्भ होता है। प्राचीन समय के वृद्ध लोग हिमालय के इस पवित्र स्थान में जाकर रहते थे। तरुणावस्था में यहाँ की राज्य-व्यवस्था का कार्य करना और वृद्ध होने पर हिमालय में अथवा त्रिविष्टप में जाकर काल-क्रमण करना, यह प्राचीन काल की उत्तम

व्यवस्था थी। इस तरह पांडव सौ वर्ष तक यहाँ का राज्य करने के पश्चात् हिमालय में जाकर रहे थे।

'**महाभारत**' के स्वर्गारोहण पर्व में इनके जाने का मार्ग लिखा है। वह मार्ग हिमालय चढ़ने का मार्ग है। आज भी हिमालय में हरिद्वार के दो-तीन मुकामों के बाद स्वर्गद्वार का स्थान आता है। उस स्थान के उत्तर का भाग स्वर्ग है। भागीरथी (पवित्र गंगा) का नाम स्वर्ग नदी है, क्योंकि स्वर्ग में इसका उद्गम है। इससे स्वर्ग की ठीक कल्पना हो सकती है। उत्तर हिमालय में स्वर्ग का प्रारम्भ है। तिब्बत उस स्वर्ग का उच्चतर प्रदेश है।"

ब्रह्मा ने ब्रह्ममूर्ति धारण कर जिस ब्रह्मावर्त्त की रचना की है,वह मानसरोवर से नीचे का यही क्षेत्र है, जहाँ से ब्रह्मपुत्र निकलती है। '**वाल्मीकि रामायण**' में भी त्रिविष्टप को ब्रह्मलोक कहा गया है (त्रिविष्टपः ब्रह्मलोकः लोकानां परमेश्वरः)। '**अमरकोश**' में भी त्रिविष्टप को स्वर्ग एवं स्वर्गलोक कहा गया है।

इस प्रकार मानसरोवर से नीचे, अलकनन्दा के उद्गम स्थान के आसपास के क्षेत्र से हरिद्वार तक का क्षेत्र 'त्रिविष्टप' एवं स्वर्ग है। गंगा को 'सुरनिम्नगा' इसीलिए कहते हैं कि वह स्वर्ग से निकलती है।

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति के कथनानुसार—'हमारे पास यह मानने के लिए बहुत पुष्ट और पुष्कल प्रमाण हैं कि उन आर्यों का प्रारम्भिक निवास स्थान हिमालय की ऊँची घाटियों में और हिमाच्छादित चोटियों पर था। भारत के इतिहास का पहला परिच्छेद कश्मीर और तिब्बत के ठंडे और सुहावने पर्वतों और मैदानों में लिखा गया था। यही वह प्रदेश थे जिन्हें उत्तरकालीन आर्य 'स्वर्ग' आदि नामों से पुकारा करते थे' '**भारतीय संस्कृति का प्रवाह**', पृ० १३।

इन्द्र जी का यह कथन कि आर्यों का आदि देश, हिमालय की ऊँची घाटियों में और हिमाच्छादित शिखरों पर था, जिसे उन्होंने 'स्वर्ग' कहकर सम्मानित किया था, वस्तुस्थिति के अधिक निकट है, परन्तु आर्य-साहित्य में हरिद्वार से ऊपर के भूमि-भाग को स्वर्ग कहा गया है, जहाँ गंगा सरस्वती आदि सप्तसरिताएँ बहती हैं, जो सर्वोच्च हिम शिखरों से आच्छादित है, जिसका आर्य जाति के समक्ष आज तक आध्यात्मिक महत्व प्रमाणित है और यह स्पष्ट है कि वह क्षेत्र, न कश्मीर है, और न तिब्बत ही, वरन् वह भूभाग है, जिसका वर्तमान नाम गढ़वाल है।

●

स्वर्ग भूमि गढ़वाल का प्रकृति वैभव

आठवीं शती तक, आचार्य शंकर से पूर्व, प्रायः समस्त प्राचीन आर्य मनीषियों द्वारा आर्य-साहित्य में हरिद्वार से ऊपर की भूमि को, उसके अद्वितीय आध्यात्मिक एवं प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण, स्वर्ग कहा गया, है। दस-ग्यारह हजार फुट से ऊँचे हिम-शिखरों से अधिकांश आच्छादित मध्य हिमालय के इस अगम्य पर्वत प्रदेश का पर्यटन, साधु-सन्तों, त्यागी और तपस्वियों के अतिरिक्त, आरामतलब पर्यटकों के लिए प्रायः सुगम और सुलभ नहीं रहा है। इस दुर्गम पर्वत-प्रान्त में अनेक आक्रमण-प्रत्याक्रमणों के बावजूद हरिद्वार से ऊपर मुसलमान शासकों का प्रवेश सम्भव नहीं हो सका। जिन आध्यात्मवादी प्रकृति देवी के उपासकों ने कठिन कष्ट सह कर, यहाँ के अलौकिक सौन्दर्य का रसास्वादन किया, उन्होंने, उसके सार्वजनिक विज्ञापन की आवश्यकता नहीं समझी। भगवान् व्यास, महाकवि कालिदास और आचार्य शंकर आदि आर्य-ऋषियों की आध्यात्मिक परम्परा के अंतिम तीर्थ-यात्री होते हुए भी कवि और कलाकार थे। उन्होंने यहाँ के अद्वितीय आध्यात्मिक सौन्दर्य से ही नहीं, वरन् सर्वोत्कृष्ट प्राकृतिक सौन्दर्य से भी चमत्कृत होकर अपने काव्य-ग्रन्थों से यहाँ के जो स्वाभाविक शब्द-चित्र अंकित किये हैं, वे आज भी **'महाभारत'**, अष्टादश पुराणों, **'मेघदूत'** और **'कुमारसम्भव'** आदि आर्य-ग्रन्थों में सुरक्षित हैं। वस्तुतः व्यास, कालिदास और शंकर के पश्चात् हिन्दुस्तान के सभी आरामतलब लेखकों द्वारा प्रकृति देवी का यह सर्वोत्तम कला-केन्द्र सर्वथा अपरिचित और उपेक्षित ही रहा है।

नौवीं शती के बाद कश्मीर की अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियों के कारण, मुसलमान सम्राटों ने कश्मीर-विजय कर, वहाँ सर्वत्र अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया था। कश्मीर की भूमि उनकी क्रीड़ास्थली बन गयी। मुगल बादशाहों ने उसको अनेक मनोरम बाग-बाटिकाओं, फल-फूलों से अलंकृत कर, उसके प्राकृतिक सौन्दर्य में चार चाँद लगा दिये। तदनन्तर मुगलों और अंग्रेजों के शासन काल में राजकीय प्रोत्साहनों द्वारा अनेक राजमार्गों, विश्रामगृहों एवं क्रीड़ास्थलियों के निर्माण के कारण, वहाँ ज्यों-ज्यों सार्वजनिक सुविधाएँ सुलभ होती गयीं, कश्मीर अमीर-उमराओं, राजा-रईसों एवं राजकीय अधिकारियों की विलास-चेष्टाओं का आगार बनता चला गया। उसके पश्चात् भौतिकवादी सौन्दर्योपासक भारतीय तथा विदेशी पर्यटकों ने अपने-अपने लेखों एवं

रचनाओं द्वारा उसको निस्संकोच पृथ्वी का स्वर्ग करार देकर, उसके सौन्दर्य को लोकव्यापी महत्व दे दिया। आज भी लोक-परम्परागत इस अंधानुकरण के कारण गढ़वाल की भौगोलिक वास्तविकता से सर्वथा अपरिचित इन भौतिकवादी सौन्दर्यापासकों के विज्ञापनों से प्रभावित, कुछ सज्जनों को कालिदास के हिमालय-वर्णन में भी कश्मीर के ही दर्शन हो रहे हैं।

कश्मीर भी प्रकृति की रंगस्थली हैं, परन्तु कश्मीर का सौन्दर्य वाह्य सौन्दर्य मात्र है, जो प्रकृति के सौन्दर्योपासकों को सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक प्रेरणा देने में असमर्थ हैं। परन्तु आर्यों की यह स्वर्गभूमि, उत्तराखंड के इस पावन प्रदेश की दिव्य प्राकृतिक सौन्दर्यानुभूति, सदियों से आर्य जाति के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक जीवन को भी अनुप्राणित करती रही है। कश्मीर भौतिकवादी पर्यटकों की विलास-चेष्ठाओं का आगार है, किन्तु हरिद्वार से ऊपर, गढ़वाल के प्रकृति-वैभव के दर्शन मात्र से तो मानव भवबंधनों से मुक्त हो जाता है। डाक्टर सम्पूर्णानन्द जी के शब्दों में—"कश्मीर का प्राकृतिक सौन्दर्य शृङ्गारमय है। शृङ्गार को ब्रह्मानन्द का सहोदर कहा है परन्तु इस क्षेत्र का प्रकृति-सौन्दर्य तो साक्षात् ब्रह्मानन्दमय है।"

'**महा प्रस्थानेर पथ**' आदि प्रसिद्ध यात्रा-वर्णनों के लेखक श्री प्रबोधकुमार सान्याल लिखते हैं :

देवतात्मा हिमालय में सर्वाधिक प्रिय, सर्वाधिक पूज्य और लगता है सर्वाधिक वन्य-सुषमा-सम्पन्न भू-भाग है यह अविभक्त गढ़वाल। बहुकाल व्यापी विज्ञापन द्वारा कश्मीर को भू-स्वर्ग कहा गया है। किन्तु दोनों आँखें खोलकर जिन्होंने कश्मीर और गढ़वाल का विचार किया है, वे जानते हैं कि गढ़वाल में अनगिनत भू-स्वर्ग बिखरे पड़े हैं। भारत से बाहर के जो भी घुमक्कड़ कश्मीर में—स्विटजरलैन्ड या आल्प पर्वत वाली आब-हवा पा जाते हैं, वे ही कश्मीर की शतमुखी प्रशंसा करते हैं; किन्तु कश्मीर हिमालय में देवतात्मा का स्वाद नहीं है। मौज-मजे, घूमने-फिरने, सुयोग-सुविधा और विलास-व्यसन आदि की दृष्टि से कश्मीर आधुनिक घुमक्कड़ों के लिये बेशक अतीव आरामदेह है, किन्तु गांगेय ब्रह्मपुरा की तो बात ही दूसरी है। यहाँ आज भी आधुनिक काल की विज्ञानी सभ्यता आत्मश्लाघा का प्रचार नहीं करती। यह तो मानों अनादि अनन्त काल का आधुनिक है। लाखों-करोड़ों सालों से अधिक आधुनिक है। अनन्त काल के एक खंड को मानों इसने अपने सर्वाङ्ग में समेट रखा है। यहाँ आने पर दिखायी देगी भारत की मौलिक प्रतिभा, भारत की आदि संस्कृति, भारत का सर्वकालजयी संहति मंत्र। यहाँ सुख नहीं, आनन्द है; ब्रह्मपुरा को ताकते रहो। जहाँ तक निगाह जाती है, केवल घनश्यामी आभा, चारों ओर

हरियाली-ही-हरियाली। मनचाही नदियाँ, मनचाही जलधाराएँ इधर-उधर जहाँ भी ताको फूलों से लदी-लदी वन-भूमि। दुनिया भर के फूल यहाँ खिलते हैं, गुच्छों-पर-गुच्छे। जहाँ भी जाओ, जिधर भी ताको—तपोवन। सुर्ख सेव और अनारों ने बड़े पहाड़ को लाल-लाल कर दिया है—संसार का आठवाँ आश्चर्य देख लो। उन पक्षियों की ओर देखो, जिन्हें तुमने कभी नहीं देखा, जिनका वर्ण-वैचित्र्य तुम्हारी कल्पना को नन्दन-कानन पहुँचा देगा—जी भर कर देख लो इन्हें। सुनील नयना नदी की ओर ताकते रहो—जिसकी जलराशि में अनन्त उदार आकाश की परछाईं पड़ रही है। यह रोमांचक कौतुक तुम भूल नहीं सकोगे कभी। ऊँचे पहाड़ की चोटियों पर चढ़ो, एक से दूसरी—चिर तुषार-धवलित त्रिशूल पर्वत और नयनाभिराम नन्दा देवी की शोभा तुम्हें मंत्र मुग्ध कर देगी।

देवतात्मा हिमालय

हिमालय भारतवासियों के लिए जड़ पर्वत नहीं,वरन् साक्षात् देवता है। अतः आर्य-मनीषियों ने उसे सदैव श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। ऋग्वेद (१०।१२।१४) के ऋषियों ने बार-बार हिमालय के प्रति अपनी असीम श्रद्धा-भक्ति व्यक्त की है। अथर्ववेद के 'पृथ्वीसूक्त' (२१।१।११) में भी उसका स्तवन किया गया है। आर्य-ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर उसकी अलौकिक श्री-सम्पन्नता के अनेक भव्य चित्र अंकित हैं। कालिदास का हिमालय-वर्णन तो विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। उसके शब्दों में वह अनेक रत्नों का जन्मदाता है, उसके द्रोणगिरियों में अनेक बहुमूल्य जड़ी-बूटियाँ उगती हैं। वह पृथ्वी में रह कर भी स्वर्ग है। इसकी उपत्यकाओं में स्थान-स्थान पर अनेक तीर्थ हैं, जहाँ आकर लोग शुद्ध हो जाते हैं। यह योगियों-तपस्वियों का निवास स्थान है। इसके पर्वत-शिखरों पर सरोवरों में भाँति-भाँति के कमल-पुष्पों से परिपूर्ण प्राकृतिक पुष्पोद्यानों में सप्तर्षि पुष्प-चयन करते हैं :

सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान्परिवर्तमानः।
पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्यूर्धमुखैर्मयूखैः॥

महाकवि कालिदास ने 'मेघदूत', 'कुमारसम्भव', 'विक्रमोर्वशीय और 'रघुवंश' में जिस नगाधिराज हिमालय की विशाल प्रकृति और अनन्त सौन्दर्य के मनोरम चित्र चित्रित किये हैं, वे कश्मीर में नहीं, वरन् मध्य हिमालय के उस पावन प्रदेश में हैं, जिसका वर्तमान नाम गढ़वाल है। जो हिन्दुओं की परम पुण्यतोया सरस्वती, गंगा, भागीरथी एवं मंदाकिनी आदि देवनदियों का उद्गम स्थान है। जहाँ कालिदास के कथनानुसार गंगा की धारा गिरती है, जो ऋषियों के चरण-रज

प्राप्त कर अत्यन्त पवित्र हो गया है। '**कुमारसम्भव**' की पार्वती के पिता हिमालय की राजधानी कश्मीर में नहीं थी, वरन् उस क्षेत्र में थी जिसके चारों ओर परम सुगन्धित गन्धमादन पर्वत फैला हुआ है, जहाँ गंगा की धाराएँ बहती थीं एवं चमकीली जड़ी-बूटियाँ प्रकाश करती थीं। कालिदास ने '**रघुवंश**' का आरम्भ करते हुए, अपने जिस कुल-पुरोहित वशिष्ठ के आश्रम का उल्लेख किया है वह कश्मीर में नहीं था, वरन् वहाँ था जहाँ गंगा नदी हिमालय के निर्झरों के ठंडी फुहारों से लदा हुआ और मन्द-मन्द कम्पित वृक्षों के पुष्पों में बसा हुआ पवन बहता था।

कालिदास के दिग्विजयी रघु ने जिस हिमालय-नरेश के राज्य में प्रवेश किया था, वहां भोजपत्रों का वन था और मार्ग में गंगा की फुहारों से शीतल हुआ वायु-वेग बह रहा था। '**मेघदूत**' की मन्दाकिनी गंगा की फुहारों से शीतल हुआ वायु-वेग कश्मीर में कहाँ था ? उसी प्रकार जो गन्धमादन पर्वत क्षेत्र कालिदास के '**विक्रमोर्वशीयम्**' की उर्वशी और पुरूरवा का भी क्रीड़ास्थल है, वह कश्मीर में नहीं, वरन् गढ़वाल के बदरिकाश्रम के निकट का पर्वत प्रदेश है। हिमालय में कैलास की गोद में अपने प्यारे के अंक में बैठी हुई कामिनी की तरह कालिदास के 'मेघदूत' की अलकापुरी भी कश्मीर में नहीं, वरन् वहाँ है जहाँ कालिदास के शब्दों में कामिनी की देह से सरकी हुई साड़ी की भाँति गंगा जी निकलती हैं :

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां।
न त्वं दृष्टा न पुनरलकां स्यास्यसे कामचारिन्॥

इस प्रकार कालिदास द्वारा वर्णित हिमालय का सम्पूर्ण प्रकृति-वैभव कश्मीर पर नहीं वरन् मध्य हिमालय के उस क्षेत्र पर आधारित है, जहाँ गंगा, भागीरथी और मंदाकिनी आदि नदियाँ बहती हैं; जहाँ कैलास, अलकापुरी, गन्धमादन, बदरीकाश्रम, कण्वाश्रम, नर-नारायण आश्रम और कनखल आदि प्राचीन ऐतिहासिक स्थलों का भौगोलिक अस्तित्व सुरक्षित है। इनमें से एक भी स्थल कश्मीर तथा किसी अन्य भू-भाग में नहीं है। सबके सब गढ़वाल में हैं। गढ़वाल भारत के अन्य समस्त पर्वत-प्रदेशों के अधिक सर्वोच्च हिम-शिखरों से भी आच्छादित होने के कारण कालिदास का 'देवतात्मा हिमालय' (अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः) नाम गढ़वाल पर ही सबसे अधिक चरितार्थ होता है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन '**कुमाऊँ**' (पृष्ठ १) में लिखते हैं "मानसरोवर से लगा हुआ मध्य हिमालय का यह भाग भारत के लिए सांस्कृतिक, साम्पत्तिक और प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है।"

वाल्टन (**गढ़वाल गजेटियर्स**, पृष्ठ ३,४) का कथन है कि सबसे ऊँचे हिम-शिखर जिनके कारण हिमालय का सौन्दर्य प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित है, इसी क्षेत्र में पड़ते हैं। वे बदरीनाथ और नन्दादेवी रेंज में ३० से ४० मील दक्षिण-पश्चिम तक फैले हुये हैं....आज भी यहाँ प्रत्येक पर्वतीय, कुली-मजदूर तक जब कभी भी वह देवतास्वरूप हिमालय का दर्शन करता है तो उस समय पवित्र मंत्रों का उच्चारण कर, अत्यन्त श्रद्धापूर्वक दोनों हाथ जोड़ कर, उसको नमस्कार करता है। '**इंडिया**' नामक पुस्तक में हिमालय पर्यटक सर जौन स्ट्रैची लिखते हैं :

मैंने कई यूरोपीय पर्वतों का पर्यटन किया है, परन्तु अपनी विशालता एवं भव्य-सौन्दर्य में उनमें से कोई हिमालय की तुलना नहीं कर सकता। गढ़वाल के हिम-शिखर यद्यपि इतने ऊँचे नहीं हैं, जितने हिमालय-श्रेणी के अन्य भागों के कुछ शिखर; यहाँ केवल दो ही हिम-शिखर पच्चीस हजार फुट से अधिक ऊँचे हैं, परन्तु गढ़वाल-कुमाऊँ के हिमालय-पर्वतों की ऊँचाई का अनुपात सबसे अधिक है। बीस मील तक लगातार इसके कितने ही हिम-शिखर बाईस हजार से पच्चीस हजार फुट तक ऊँचे हैं।

शेरिंग साहब (**वेस्टर्न तिब्बत ऐंड ब्रिटिश बौर्डर लैंड, पृ० ३०**) लिखते हैं : टिहरी से लेकर पूर्व में अलमोड़े तक हूणदेश की सीमा पर फैले हुए ३० मील के इस छोटे से प्रदेश में हिमशिखरों की ऐसी विलक्षण शृंखलाएँ पायी गयी हैं, जो संसार के किसी भी भाग में उपलब्ध नहीं होती। इस सीमित क्षेत्र में कम-से-कम ८० हिमशृंग २० हजार फुट या उससे अधिक ऊँचे हैं जिनके बीच में मुक्ताओं के मध्य हीरों की भाँति कुछ ऐसे हिमशिखर हैं, जो संसार के सर्वोच्च हिमशिखरों में से हैं।

गढ़वाल के हिमशिखर—गढ़वाल का अधिकांश भाग निम्नलिखित हिमशिखरों से आच्छादित है :

परगना	पैनखंडा में	कामेठ-		२५४४३फु०	भारतखंड(केदारखंड)	२२३३३फु०
तला	,,	नंदादेवी-		२५६६०	कुर्नलिग (बदरीनाथ)	२१२२६
,,	,,	त्रिशूली	(१)	२३४०६	,, ,, (२)	२००३८
,,	,,	,,	(२)	२२४९०	हाथीपर्वत (पैनखंडा)	२२१४१
,,	,,	,,	(३)	२२३६०	स्वर्गारोहिणी(केदारनाथ)	२०२९५
,,	,,	द्रोणगिरि		२३५३१	बन्दरपूंछ (टिहरी)	२०७३१
,,	,,	सुमेरू (संतोपंथ)	(१)	२३६६०	,, ,, (२)	२००२६
,,	,,	,,	(२)	२३२४९	चौखम्भा (बदरीनाथ	२००००
,,	,,	,,	(३)	२१९९१	श्रीकंठ (केदारनाथ)	२०१३०
,,	,,	केदारनाथ	(१)	२२८४४		
,,	,,	,,	(२)	२१६९५		

गर्म जल के कुंड—बदरीनाथ के तप्त कुंड में १२०° गर्मी, तपोवन (नीति मार्ग पर जोशीमठ से १० मील दूर भविष्यबदरी के समीप) में चार सोते हैं जिनमें १२७° से १२३° तक उष्णता है। गौरी कुंड—केदार मार्ग पर है। इस कुंड का तापमान १२८° है। इसी प्रकार गंगोत्तरी मार्ग पर गंगानदी और यमुनोत्तरी तथा पिंडर की बायीं ओर कुलसारी में व गंगासलान भौरी में गर्म जल के स्रोत हैं।

देवनदियाँ और तीर्थस्थल

गढ़वाल देवनदियों का देश है। इसके हिम-शिखरों से देवनदी गंगा, सरस्वती, धौली, नंदाकिनी, पिंडर, मंदाकिनी, भागीरथी और दोनों नयारें तथा ऋषि गंगा, गणेश गंगा, रुद्र गंगा, पाताल गंगा, गरुड़ गंगा आदि अनेक कल-कल प्रवाहिनी सहायक सरिताएँ प्रवाहित होती हैं, जिनके तट पर, संगम-स्थलों पर, बदरीनाथ, नर-नारायण आश्रम, पांडुकेश्वर, ज्योतिर्मठ, केदारनाथ, ऊखी मठ, लोकपाल, हेमकुंड, गुप्त काशी, त्रियुगी नारायण, काली मठ, तुंगनाथ, रूद्रनाथ, मदमहेश्वर, अगस्तमुनी, गोपेश्वर, आदि बदरी, विष्णु प्रयाग, केशव प्रयग, नन्द प्रयाग, कर्ण प्रयाग, रूद्र प्रयाग, श्रीनगर, कमलेश्वर, देव प्रयाग, व्यास घाट, गंगोतरी, यमुनोतरी और उत्तर काशी आदि प्रसिद्ध तीर्थ तथा धार्मिक एवं पुरातात्विक महत्व के अनेक ऐतिहासिक स्थल अवस्थित हैं। इसके दर्शनार्थ सदियों से प्रति वर्ष भारत के प्रत्येक भू-भाग से लाखों तीर्थ यात्रियों का जन-समुद्र उमड़ता चला आता है। एक वेद-वाक्य के अनुसार यहाँ की पर्वत-उपत्यकाओं में नदियों के संगम स्थलों पर, बुद्धिमान् मनुष्य का उद्भव हुआ (ऋ० ८।६।२८)।

हिमालय-पर्वत आर्यावर्त्त के उत्तर में, पूर्व से पश्चिम तक फैला हुआ है परन्तु आर्य-मनीषियों द्वारा, वेद और पुराणों में, जिसके प्रति इतनी असीम श्रद्धा-भक्ति व्यक्त की गयी है, वह मध्य हिमालय का निम्नांकित भाग्यशाली भू-भाग है:

(१) जहाँ आर्यों की पुण्यतोया सरस्वती, गंगा, भागीरथी, मंदाकिनी आदि देवनदियों का उद्गम है।

(२) जहाँ आर्य जाति के सर्वाधिक तीर्थ स्थान, प्राचीन आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक स्मारक सुरक्षित हैं।

(३) जो सर्वोच्च हिम-शिखरों से आच्छादित होते हुए भी प्रकृति नटी का अद्वितीय लीला-निकेतन है।

(४) जो आर्यों का आदि देश है।

गढ़वाल के प्राकृतिक पुष्पोद्यान

हरिद्वार से ऊपर उत्तराखंड की भूमि को, जो प्राचीन साहित्य में आर्य-ऋषियों द्वारा स्वर्ग कही गयी है, उसके अलौकिक आध्यात्मिक सौंदर्य की पुष्टि में हम इससे पूर्व पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत कर चुके हैं। कश्मीर में इन आध्यात्मिक सौंदर्य-स्थलों का सर्वथा अभाव है। उसका प्रकृति-वैभव, बाग-वाटिकाएँ, अधिकांश मनुष्यकृत एवं राजा-रईसों के सतत प्रयासों का परिणाम है; किन्तु गढ़वाल का प्राकृतिक सौंदर्य मानव-करों से सर्वथा अछूता अलौकिक एवं प्रकृति-प्रदत्त है। उसके पर्वत-पृष्ठों पर, ग्यारह हजार फुट से लेकर सत्रह हजार फुट की ऊँचाई में, मीलों तक अनेक प्राकृतिक पुष्पोद्यान फैले हुये हैं।

लोकपाल के निकट समुद्र की सतह से लगभग साढ़े पन्द्रह हजार फुट की ऊँचाई पर, '**फूलों की घाटी**' का पुष्पोद्यान अँग्रेजी-शासन-काल में विदेशी पर्यटकों द्वारा प्रसिद्ध हो चुका है। सन् १९३१ में फ्रैंक यस० स्माइथ ने इसे खोज निकाला। उन्होंने २५० से अधिक प्रकार के पुष्प चयन किये। स्माइथ लिखता है कि—"हमने पुष्पों की उपत्यका में प्रवेश किया, जो घुटनों तक फूलों से भरी थी, सर्वत्र शीतल और सुगन्धित वायु बह रही थी। अपने जीवन में इससे अधिक मनोहर उपत्यका हम में से किसी ने भी नहीं देखी। हमारे स्मृति-कोश में पुष्पों की यह उपत्यका सदैव सुरक्षित रहेगी।" लन्दन के प्रसिद्ध उद्यान एडिन्वरा वोटेनिकल गार्डन और रॉयल वोटेनिकल गार्डन यहाँ के कतिपय फूलों से अलंकृत हैं तथा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय-वनस्पति-विशेषज्ञ यहाँ से पुष्प-चयन कर अपने-अपने उद्यानों की सौंदर्य-वृद्धि कर चुके हैं। तीन मील चौड़ी और लगभग सात मील लम्बी यह मनोरम पर्वत-उपत्यका हजारों किस्म के रंग-बिरंगे पुष्पों से आच्छादित है। विदेशी पर्यटकों द्वारा प्रकृति के इस आश्चर्यजनक पुण्य-भंडार की प्रसिद्धि सुन कर, अनेक विदेशी-पर्यटक पुष्प-संग्रह के निमित यहाँ आते रहते हैं।

पाश्चात्य पर्यटक स्माइथ से पूर्व, भारत के इस भू-भाग को स्वर्गभूमि घोषित करने वाले आर्य-ऋषि इस पुष्पोद्यान से पूर्ण परिचित थे। यह '**महाभारत**' (वन पर्व) में भगवान् व्यास द्वारा वर्णित अनेक सरोवरों से परिपूर्ण, अगणित सुवासित पुष्पों से अलंकृत कुबेर का प्रसिद्ध नन्दन-कानन है। इन्हीं विचित्र कमल-पुष्पों पर आसक्त द्रोपदी के आग्रह पर, पुष्प-चयन करने के लिये भीमसेन, अलकापुरी नरेश कुबेर के इसी नन्दन-कानन में पहुँचे थे। भीमधार (म्यूंधार) उपत्यका के नाम से आज भी उक्त घटना की ऐतिहासिक स्मृति यहाँ सुरक्षित है। यहाँ पर इस क्षेत्र की प्राकृतिक सुषमा से सम्बन्धित '**महाभारत**' (वन १६८) का उद्धरण भी अप्रासंगिक नहीं होगा :

नित्यं तुष्टाश्चते राजन् प्राणिनः सुखवेश्मनि ।
नित्यं पुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः ।।

मंदाकिनी नदी के दोनों ओर, उद्‌गमस्थल से कुछ नीचे, समुद्र-तल से लगभग पंद्रह हजार फुट की ऊँचाई पर, एक विस्तृत समतल भू-भाग में, भाँति-भाँति के अगणित पुष्पों से आच्छादित एक और प्राकृतिक पुष्पोद्यान फैला हुआ है। नदी-तट के दोनों पार्श्वों पर इस मनोहर पर्वत-उपत्यका में दूर से केवल फूलों की ही दुनियाँ दृष्टिगोचर होती है। फूलों के अतिरिक्त वहाँ दूसरी वनस्पति नहीं उगती। कुछ फूल एक ही रंग के और कहीं-कहीं प्रकृति-परमेश्वर द्वारा एक ही फूल में कई प्रकार के रंग भरे हुए होते हैं। पौधों की ऊँचाई अधिक-से-अधिक डेढ़ हाथ और कम-से-कम एक हाथ होती है। सारे डण्ठल पुष्पों से लदे हुए होते हैं। ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में फूल फूलते हैं और हिमपात आरम्भ होने पर दब कर नष्ट हो जाते हैं।

इस कुसुमोद्यान में अन्य पुष्पों के अतिरिक्त नील कमल और पुष्पराज भी होते हैं। ऊँचे-ऊँचे पर्वत-शिखरों पर दूर तक फैली हुई इस अनन्त पुष्पराशि के दर्शन जिस अनिर्वचनीय आनन्द एवं जिस स्वर्गीय शांति की सृष्टि करते हैं, वह वर्णनातीत है। शायद इन्हीं वन-उपवनों में उगे हुए 'रैंमासी' के फूलों को देखकर गढ़वाल के अमर कवि स्व० चन्द्रकुँवर ने लिखा था :

मा गिरिजा दिनभर चुन जिनसे
भरती अपना पावन दुकूल।
पावनी सुधा के स्रोतों से
उठते हैं जिनके अरुण मूल।
मेरी आँखों में आये वे
राईमासी के दिव्य फूल।
मैं भूल गया इस पृथ्वी को,
मैं अपने को भी गया भूल।।

हिमालय के इन मनोरम अंकों में लगभग ग्यारह हजार फुट से लेकर तेरह हजार फुट की ऊँचाई पर, भेड़ के बच्चे की ऊन से अधिक कोमल घास से भरे हुए, बुग्याल नाम से प्रसिद्ध, कई मील लम्बे-चौड़े चौरस चरागाह हैं। रहस्यमय रूपकुंड के निकट, लगभग सात वर्गमील तक फैला हुआ आली और वेदिनी बुग्याल का सर्वथा कंकड़-पत्थर विहीन चौरस मैदान, भाँति-भाँति के सहस्त्रों पुष्पों से आच्छादित, उस सीमाहीन रंगीन कालीन की भाँति जिस पर प्रकृति द्वारा रंग-विरंगे अनन्त कलात्मक पुष्प कढ़े हों, दृष्टिगोचर होता है।

प्रकृतिदेवी के इस आश्चर्यजनक लीला-निकेतक में ये चिर-उपेक्षित अनन्त कानन-कुसुम सदियों से स्वतः ग्रीष्म और पावस ऋतु में विकसित होते हैं और हिमपात के प्रारम्भ में प्रति वर्ष झर-झर कर अदृश्य हो जाते हैं। कविवर देव के शब्दों में आज भी दर्शक जिन्हें 'देखि न सकत, देखि-देखि न थकत, देव, देखिवे कि घात देखि-देखि न अघात है।' उसके सूर्यास्त के अलौकि दृश्य से परम चमत्कृत होकर, गढ़वाल के अंतिम अंग्रेज़ डिप्टी कमिश्नर बर्निडी का कला-प्रेमी हृदय कह उठा था कि—मैंने यूरोप के प्रकृति-श्री से सम्पन्न अनेक रम्य स्थलों का पर्यटन किया है, परन्तु आली-बुग्याल के सूर्यास्त का यह मनोरम दृश्य विश्व में अद्वितीय है। प्रकृति देवी के उपासक इस गुणग्राही अंग्रेज ने यहाँ पर पर्यटकों के आराम के निमित, अपने व्यय से, एक विश्रामगृह का भी निर्माण कर अपनी स्मृति सुरक्षित रखी है। जनश्रुति के अनुसार वेदिनी-बुग्याल के इसी क्षेत्र में वेदों का संकलन किया गया था। 'वेदिनी' नाम में—वह पूर्वस्मृति आज भी सुरक्षित है।

तपोवन से रामणीगाँव के मार्ग में, कुमारीपास से दो मील आगे, लगभग सोलह हजार फुट की ऊँचाई पर, कुमारी बुग्याल नामक एक और प्राकृतिक पुष्पोद्यान फैला हुआ है। यह ऊँचाई में मंदाकिनी-तट के कुसुमोद्यान से अधिक ऊँचा और विस्तार में भी उससे अधिक है। ऊँचे पर्वत-पृष्ठ पर फैला हुआ सहस्त्रों रंग-बिरंगे छोटे-बड़े प्रफुल्लित पुष्पों से पूर्ण, प्रकृति का यह सर्वोत्तम कला-केन्द्र अविस्मरणीय है। इसके हृदयग्राही दृश्य से प्रत्येक दर्शक परमानन्द-विभोर तो होता ही है, परन्तु पृथ्वी के इस अत्यधिक ऊँचे और स्वर्गीय सौंदर्य से सम्पन्न स्थान में दर्शक का दृष्टिकोण भी पृथ्वी के साथ ऊँचा उठकर, विशेष, व्यापक और उदार हो जाता है।

गढ़वाल बड़ी-बड़ी नदियों और ऊँचे-ऊँचे शैल-शिखरों से आच्छादित पर्वत-प्रदेश है। यहाँ सब प्रकार की जल-वायु पायी जाती है। यहाँ सामान्य ऊँचाई पर सम-शीतोष्ण तथा उससे ऊँचे स्थलों पर ध्रुवकक्षीय जल-वायु पायी जाती है। इसलिए यह प्रदेश अत्यन्त उष्ण एवं शीत प्रधान दोनों प्रकार की वन-सम्पति से सम्पन्न है। इस प्रदेश के टेढ़े-मेढ़े कठिन चढ़ाई-उतार वाले पर्वत-पथों में सर्वसाधारण पर्यटकों का प्रवेश कुछ असुविधाजनक अवश्य है पर जिन साहसी यात्रियों ने कुछ भौगोलिक विषमताओं को सहकर, एक बार भी यहाँ की प्राकृतिक सुषमा का रसास्वादन किया होगा, उन्होंने आजीवन उसे सम्मानपूर्वक स्मरण किया है। नागपुर परगने के प्राकृतिक सौंदर्य से प्रभावित होकर वाल्टन **'गढ़वाल गजेटियर'** (पृष्ठ १८६) में लिखता है :

"हम बैटन साहब के इस कथन से पूर्णतः सहमत हैं कि जिसने एक बार भी

मंदाकिनी स्रोत की ओर उसके तटवर्ती क्षेत्र का भ्रमण किया होगा, जिसने कभी तुंगनाथ के सघन वन-उपवनों में विचरण किया होगा, तथा जिसने एक दिन भी दिउरीताल के तट पर रहकर व्यतीत किया होगा, वह उस दृश्य को आजीवन नहीं भूल सकता। नागपुर की समस्त ऊपरी पट्टियों की दृश्यावली, उसकी प्राकृतिक सुषमा पर्वत-प्रदेश में अद्वितीय है। इस क्षेत्र का जल-वायु यूरोप के समान और प्राकृतिक सौंदर्य अत्यन्त हृदयग्राही है। सर्वदा हिमाच्छादित शिखरों के निकटवर्ती क्षेत्रों का प्रकृति सौंदर्य एवं वन-वैभव तो सर्वोत्कृष्ट ही हैं।

स्वर्गीय वी० एन० दातार अपनी बदरी-केदार तीर्थ-यात्रा (१९६१) में लिखते हैं :

"मुझे मंदाकिनी नदी की विस्तृत और गहरी घाटी से गुजरना पड़ा + + + यह, एक ऐसा चिर परिवर्तनशील मनोरम दृश्य बनाती हैं जो कि एक ओर ऊँची पहाड़ी की चोटी तथा दूसरी ओर गहरी खाइयों के कारण आदर तथा आश्चर्य का एक समन्वित विषय प्रस्तुत करता है।

मैं विभिन्न कारणों से हिमालय के उन भिन्न-भिन्न भागों में गया जो कि उत्तर पूर्व में नैनीताल-अल्मोड़ा के बीच क्या उत्तर-पश्चिम काँगड़ा और कुलू के बीच स्थित है। इस कारण मेरा ऐसा मत है कि इस विस्तृत क्षेत्र में मन्दाकिनी की घाटी सर्वाधिक मनोरम भाग है या सर्वाधिक मनोरम भागों में से एक है। इसके किनारे के पहाड़ दृश्यावलियों तथा घने वृक्षों से लदे हैं।"

यहाँ के सघन वनों के निकट, सरिता-तटों पर, सरस पर्वत-उपत्यकाओं में बसे हुए ग्राम-समूहों का प्रकृति-वैभव भी अत्यन्त आह्लादकारी है। पर्वतारोही 'मम' लिखता है :

"जुम्मा से मल्ला पैनखंडा आरम्भ होता है। वहाँ प्रकृति अपनी विशालता के साथ अत्यन्त प्रिय दर्शन हो उठी है। यहाँ प्रत्येक खुले स्थान में ठीक स्विट-जरलैंड जैसे गाँव मिलते हैं, जिसके चारों ओर देवदार के वृक्ष तथा ऊपर विशाल शैल जिनके शीर्ष-स्थान पर चमकती हिमराशि की सीमा तक, हरे-भरे बन दृष्टिगोचर होते हैं। मलारी से आगे हमने एक अत्यन्त सुन्दर उपत्यका में पदार्पण किया, जहाँ अपनी शाखा फैलाये अगणित देवदार वृक्ष नदी की धार तक चले आये थे।"

महात्मा गाँधी ने (११ जुलाई, १९२९ की) 'यंग-इंडिया' में, लिखा है :

"हिमालय के आकर्षक सौन्दर्य और अनुकूल जलवायु से दर्शक आनन्द-मग्न हो जाता है, और उसकी कोई कामना शेष नहीं रहती। इस पर्वत-प्रदेश का प्रकृति-सौंदर्य और जलवायु विश्व के सौंदर्य-स्थलों में सर्वोत्कृष्ट है। मुझे

आश्चर्य है कि लोग स्वास्थ्य-लाभ के लिए यहाँ न आकर, यूरोप क्यों जाते हैं ?

शेयरिंग साहब अपने **'पश्चिमी तिब्बत और ब्रिटिश सीमान्त प्रदेश'** में लिखते हैं "मध्य हिमालय का यह भूभाग, जिसको केदारखंड कहते हैं, और जो यमुना नदी से नन्दादेवी तक फैला हुआ है, सौंदर्य का अद्भुत भंडार और धरती का सर्वश्रेष्ठ रत्न है।"

पर्वतारोही फ्रैंकलिक, उन पर्वतारोहियों को जो ऊँचे हिमशृंगों को पार करने में असमर्थ हैं, बदरीनाथ के उत्तर और पश्चिमोत्तर के सामान्य ऊँचाई के पर्वत-प्रदेश अलौकिक प्राकृतिक सौंदर्य की सराहना करते हुए ग्रीष्मकाल में वहाँ विचरण करने की संस्तुति करते हैं। उनके कथनानुसार गढ़वाल की जलवायु और उसका प्रकृति-वैभव स्विट्जरलैंड और मौर्चे के समान है।

श्री यशपाल जैन **'जय-अमरनाथ'** में कहते हैं कि पर्वतराज हिमालय भारत का ही नहीं, विश्व का गौरव है....गंगोत्तरी जाइए यमुनोत्तरी जाइए, बदरीनाथ जाइए, कैलाश जाइए हिमालय निस्संदेह सौन्दर्य और भव्यता का आगार है।

हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार सेठ गोविन्ददास लिखते हैं कि—"मैंने पृथ्वी की परिक्रमा की है परन्तु संसार में सर्वत्र घूमकर भी मुझे इतना आत्मिक सुख नहीं मिला जो हिमालय की इस उत्तराखंड की यात्रा से प्राप्त हुआ है। हिमालय की यह नैसर्गिक सुषमा सचमुच अनुपम और अद्वितीय है।"

इस प्रकार प्रकृति-प्रदत्त अनेक पुष्पोद्यानों से अलंकृत, केदार और बदरीनाथ के इस पावन प्रदेश को हमारे प्राचीन आर्य ऋषियों ने जो पृथ्वी का स्वर्ग कहा है, उसकी भौगोलिक वास्तविकता एवं सत्यता स्वयं सिद्ध है।

सरोवर

गढ़वाल के उत्तरी क्षेत्र में पर्वत-शिखरों पर प्राकृतिक पुष्पोद्यानों के अतिरिक्त, अनेक प्राकृतिक सुन्दर सरोवरों का भी बाहुल्य है। विरही गंगा पर लगभग दो मील लम्बा और आध मील चौड़ा, ४०० एकड़ के क्षेत्र में फैला हुआ 'गौनाताल' है, जो आकार में नैनीताल से तिगुना अधिक है। यहाँ वन-विभाग द्वारा निर्मित पर्यटकों के लिये एक विश्रामगृह और नाव पर बैठकर सरोवर में सैर करने की व्यवस्था है। चारों ओर उन्नत पर्वत-माला के मध्य में यहाँ नाव की सैर जिस अनिवर्चनीय सुख की सृष्टि करती है, वह वर्णनातीत है।

दिवरीताल—८००० फु०, (४००, २५०, ६६ गज) ऊखीमठ से ३ मील उत्तर पूर्व, ८०० गज के घेरे में, एक अत्यन्त रमणीक सरोवर है, जिसके तट

का दृश्य अत्यन्त मनोहर है। विशाल दर्पण की भाँति इसमें लगभग पन्द्रह मील की दूरी पर अवस्थित चौखम्बा-शिखर शिर से पैर तक प्रतिविम्बित दृष्टिगोचर होता है। प्रातःकाल सारी बदरीनाथ-केदारनाथ की हिमालय-श्रेणी सरोवर की जनराशि में डूबी दीखती हैं। चारों-ओर की प्राकृतिक सुषमा हिमालय के सर्वोत्तम दृश्यों में है।

भेकलताल—(९००० फु०) परगना बधाण में २० एकड़ के क्षेत्र में फैला हुआ अत्यन्त सुन्दर ताल है। इसके चारों ओर भोजपत्र, बुरांश, बेल और रिंगाल का गहन-वन-वैभव बिखरा हुआ है। पर्वत-प्राकार के भीतर सूर्य का ताप बहुत कम जा पाता है, जिससे जाड़े में और कभी-कभी गर्मियों में भी ताल के धरातल पर काफी मोटी हिमचादर पड़ी रहती है।

लोकपाल—पांडुकेश्वर से पन्द्रह मील पूर्व प्रकृति की पुष्प-वाटिका से घिरा हुआ यह हेमकुंड के नाम से सिक्खों का तीर्थस्थान है।

वासुकीताल—श्वेत-कमल-पुष्पों से परिपूर्ण इस सरोवर को केदारनाथ और त्रियुगी-नारायण से मार्ग जाता है।

सतोपंथ—बदरीनाथ से १२ मील पश्चिम में, लगभग एक मील के घेरे में फैला हुआ परम रमणीक सरोवर है। इसके तीनों कोने ब्रह्मा, विष्णु और महेश के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके मार्ग में अत्यन्त ऊँचाई से गिरनेवाला प्रसिद्ध प्रपात 'वसुधारा' है।

ब्रह्मताल—(११५०० फु०) परगना बधाण में, भेकलताल के निकट दो मील की दूरी पर १०० फु० लम्बा और ६० फु० चौड़ा रमणीक सरोवर है। इसी परगने में १०२ एकड़ के क्षेत्र में फैला हुआ, देवताल नामक सरोवर भी है। परगना दशोली में आध मील की लम्बाई में फैला हुआ गड्यारताल है। इसी प्रकार बेनीताल, सुखताल, तड़ामताल आदि यत्र-तत्र अनेक दर्शनीय सरोवर हैं, जिनके चारों ओर बिखरा हुआ अनन्त प्रकृति-वैभव अलौकिक आनन्द की सृष्टि करता है। टिहरी में भी, उत्तरकाशी से, १६, १७ मील पर चौदह हजार फुट की ऊँचाई पर—दो मील के घेरे में फैला हुआ—दोदीताल नामक एक सुन्दर सरोवर है।

इस प्रकार आध्यात्मिक सौंदर्य की प्रतियोगिता में कश्मीर का कृत्रिम स्वर्ग आर्य-ऋषियों द्वारा प्रतिपादित गढ़वाल की प्रकृति-प्रदत्त स्वर्गभूमि के सम्मुख नगण्य है। भौतिक सौंदर्य के सम्बन्ध में प्रसिद्ध भारतीय एवं विदेशी सौंदर्योपासक यात्रियों के उद्धरण उद्धृत किये जा चुके हैं। पृथ्वी के सुन्दरतम प्रदेशों में गढ़वाल का क्या स्थान है, इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विश्व-पर्यटक कैप्टेन स्किन्नर, जो यमुना-स्रोत की खोज में आया था, लिखता है:—'हिमालय बदरीनाथ,

केदारनाथ, गंगोत्री और यमुनोत्री के रमणीय तीर्थस्थानों और फूलों की घाटी के नाम से विश्व-विख्यात है ही, किन्तु हिमालय की यात्रा करने के पश्चात् मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि हिमालय की गोद साक्षात् भू-स्वर्ग है। मैंने यूरोप के सर्वमान्य सौंदर्यस्थलों का दर्शन किया है, जिनको कवि और कलाकारों ने अमर कर दिया है एवं जिन्होंने विश्व-पर्यटकों को मोहित किया है परन्तु इस अपरिचित एवं अज्ञात पवर्त-प्रदेश का प्रकृति-वैभव तो अद्वितीय ही है।'

प्रसिद्ध पर्वतारोही डॉ० टी० जी० लौंगस्टाफ, जिन्होंने १२ जून, १९०७ के चार बजे शाम को, त्रिशूल-शिखर विजय किया था, लिखते हैं :

'मैंने छः वार हिमालय-पर्वतों पर पर्यटन किया है और मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि एशिया में गढ़वाल सबसे सुन्दर प्रदेश है। यहाँ न तो कराकोरम की आदि युगीन विशेषता है, न एवरिस्ट की सुनसान सत्ता, न हिन्दुकुश एवं कौकेशश पर्वत का सौंदर्य और न हिमालय के किसी अन्य प्रदेश की ही समानता है। यहाँ की पर्वत-मालाएँ, उपत्यकाएँ, वन-उपवन, हिमपूर्ण-शैल-शिखर, पशु-पक्षी, फल-फूल और वनस्पतियाँ सब ऐसे अलौकिक सुख की सृष्टि करते हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ है।'

● ●

सामरस अथवा भाँग

इन्द्र और अग्नि के बाद वैदिक संहिताओं में सोम के विषय में जितने मंत्र हैं, उतने किसी देवता के सम्बन्ध में नहीं हैं। वैदिक संहिताओं का दशमांश सोम की प्रशंसा से परिपूर्ण है। ऋग्वेद की ११४ ऋचाओं के पूरे मंडल में सोम का स्तवन है। इस प्रकार इन्द्र, अग्नि और सोम इन तीनों ऋग्वैदिक देवताओं की क्रीड़ा-स्थली यह पर्वत-प्रदेश है। इससे भी स्पष्ट है कि इन तीनों मुख्य आर्य देवताओं का निवास स्थल ही आर्यों का आदि देश था। अग्नि के सार्वभौमिक महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता है, परन्तु शीतप्रधान हिम-शिखरों से आच्छादित पर्वत-प्रदेश में अग्नि जितनी मूल्यवान् है उतनी समतल भूमि-भाग के निवासियों के लिए नहीं। डॉ० सूर्यकान्त (**सम्मेलन पत्रिका**, आषाढ़ सं० १०१२) में लिखते हैं :

"ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर निष्कर्ष निकलता है कि आदि काल में आर्य किसी ऐसे प्रदेश में रहा करते थे जो सोम की उपज के लिए प्रख्यात था। वहाँ वे आजादी के साथ सोम पीते थे और उल्लास एवं उमंगों के ज्वार में आकर अपने इष्टदेव का गुणगान किया करते थे। बाद में पीछे की ओर से उन पर शत्रुओं का दबाव पड़ा और वे अपनी सभ्यता के प्रतीक सोम-देव को साथ लेकर कुरु प्रदेश की ओर आगे बढ़े। कुरु प्रदेश में पहुँच कर उन्होंने डेरे डाल दिये और यज्ञ-यागादि का विस्तार करने के साथ-साथ अपने आचार-शास्त्र को भी सुव्यवस्थित बनाया। सोम की उत्पत्ति वैदिक साहित्य में ऋजीक पर्वत (ऋ० ६।११३।२) पर बतायी गयी है जो कि हो न हो, हिमालय की ही कोई श्रेणी रही होगी और सम्भवत: वह शैल-श्रेणी मानसरोवर के आस-पास कहीं रही हो। तभी तो हमारे पुराणों में कैलास तथा मानसरोवर की महिमा का अनोखा वर्णन किया गया है। सोम के इस उपाख्यान से आर्यों की उत्पत्ति का मूलस्थान ऊपरी हिमालय ठहरता है, और इस मंतव्य से हार्नले के उस मत की पुष्टि हो जाती है, जिसके अनुसार आर्य लोग भारत में उत्तर भारत में उत्तर-पश्चिम से न आकर पर्वत प्रान्त की ओर से इसमें उतरे थे।"

डाक्टर सूर्यकान्त ने अपने इस लेख में सरस्वती नदी को ही सोमलता की जननी सोमासिक्त धर्म-कर्मी आर्यों की पूज्य सोमवती नदी प्रमाणित करने का प्रयास किया है। उनके कथनानुसार इतना तो निश्चित है कि सरस्वती आर्यों की एक पावन नदी थी, जिसकी परिधि में आर्यों कायज्ञ-यागादि कर्मकांड

फूला-फला था एवं उनके आचारशास्त्र का विकास हुआ था। ऋग्वेद के पारायण से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यों की दृष्टि में सरस्वती का वही आदर था जो कि बाद के युग में गंगा जी को प्राप्त हुआ। परन्तु डाक्टर साहब कैलास-मानसरोवर को आर्यों का आदि देश मान कर भी कैलास-मानसरोवर के पास बहने वाली सरस्वती के भौगोलिक अस्तित्व से सर्वथा अपरिचित रहने के कारण, पूर्ववर्ती कुछ इतिहासकारों की गलत धारणाओं के आधार पर कुरुक्षेत्र में ही लुप्त सरस्वती की खोज करते हुए रह गये। यदि उनको ऋग्वेद में वर्णित नदियों में प्रथम, नदियों में जेष्ठ, प्रखरप्रवाहिनी वास्तविक सरस्वती नदी का मानसरोवर और कैलास के पास, अस्तित्व ज्ञात हो जाता, तो सोम और सरस्वती के अटूट सम्बन्ध में उनके लेख की भौगोलिक प्रामाणिकता की भी निस्सन्देह पुष्टि हो जाती।

सोम सप्तसिन्धु में सप्त सरिताओं से आता है (ऋ० ९।५३।२)। सोम सप्त मातरों, सप्तस्वसारों, सप्तधामोंसे उत्पन्न होता है (ऋ० ९।६६।३६, ९।१०२।१,४)। आर्यगण सोम के लिए पर्वत-पथों से पर्वत-प्रदेश में आते थे (ऋ० ९।९२।४)। सोम महा प्रस्तर-राशि से परिवेष्ठित स्थानों में प्राप्त होता था (ऋ० १।१३०।३)। सोम हिमालय के मुंजावत पर्वत से आता था (ऋ० १०।३४।१)। मुंजावत पर्वत हिमालय में है (**महाभारत** १८।८।१)। ऋग्वेद की भाँति पारसियों के धर्म-ग्रन्थ '**जेन्द अवेस्ता**' में भी दीर्घजीवन के लिए सोम का कीर्तन किया गया है। देवासुर संग्रामों में पराजित असुरोपासकों का सप्तसिन्धु देश के पश्चिमोत्तर प्रदेश की ओर चले जाने के बाद, उनके धर्मग्रन्थ अवेस्ता में जिस प्रकार सप्तसिन्धु की 'हप्तहिन्दु' सरस्वती की 'हरह्वती' सरयू की 'हरैयू' के रूप से केवल स्मृतिमात्र रह गयी थी। उसी प्रकार 'होम' के रूप में वे 'सोम' नाम को श्रद्धापूर्वक स्मरण करते थे, क्योंकि इनका वास्तविक अस्तित्व तो केवल सप्तसिन्धु क्षेत्र में ही था। ब्रह्मावर्त्त से आर्यावर्त्त में बसने के बाद आर्य लोग भी ब्रह्मावर्त्त की सरस्वती तथा ब्रह्मावर्त्त में स्थित अन्य स्थलों को अपने नवीन देश आर्यावर्त्त की इधर-उधर निराधार कल्पना करने लगे। प्रो० मैक्समूलर अक्टूबर सन् १८८४ में एकेडमी पत्र में लिखते हैं :

धर्म-सम्बन्धी कृत्यों की प्राचीनतम पुस्तकों में अर्थात् सूत्र तथा ब्राह्मण-ग्रंथों में भी यह बात मानी गयी है कि असली सोम का मिलना बहुत कठिन है और उसके स्थान में अन्य वस्तु काम में लायी जा सकती है। जब वह मिल सकती थी तब जंगली लोग उसे उत्तराखंड से लाया करते थे।

दामोदर सातवलेकर लिखते हैं कि : "जो सोम मौजावत पर्वत के ऊपर बारह हजार फुट की ऊँचाई पर होता है, वही सबसे अच्छा समझा जाता

था। इतनी ऊँचाई पर यह होता है, इसलिए इस सोम को स्वर्ग से, द्यु-लोक से लाया गया, ऐसे वर्णन वेदमंत्रो में हम देखते हैं (ऋ० ९।६१।१०)।

सोम द्यु-लोक में अर्थात् स्वर्ग में उत्पन्न हुआ है। लोग वहाँ से उसको लाते हैं और अतीव उग्र बल, सुख और यश प्राप्त करते हैं। स्पष्ट कहा गया है कि 'उच्चा दिविचजान्नम्' उच्च स्थान अर्थात् द्यु-लोक में यह सोम रूप अन्न हुआ है और वहाँ से वह 'भूम्याददे' पृथ्वी पर लाया गया है। हिमालय के उच्च शिखर का नाम ही स्वर्ग है।"

इम्प्रिजल (अवेस्ता, जिन्द २, पृ० ६८) में लिखता है कि 'दोनों जातियों, आर्यों और जोराष्ट्रीयनों का विचार है कि यह पौधा पर्वतों पर उगता था जिसे दोनों जातियाँ व्यवहार में लाती थीं।' एक बार सन् १८८१ में सोम के सम्बन्ध में यूरोप के विद्वानों में बड़ा वाद-विवाद छिड़ गया था, जिससे प्रभावित होकर तत्कालीन भारत सरकार ने भी जाँच-पड़ताल आरम्भ की थी, परन्तु उसका भी कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकला और समस्या विवादास्पद ही रह गयी।

आर्यावर्त्त में आर्यों के इस लोकप्रिय पेय पदार्थ का सर्वथा लोप हो जाना आश्चर्यजनक है। आधुनिक कुछ अन्वेषकों का अनुमान है कि भाँग ही सोम है। **'शतपथ ब्राह्मण'** में किरातों की भाषा में सोम को असना-उसना कहा है। विद्वानों का कथन है कि **अ** और **उ** किरातों के स्थानीय प्रयोग हैं। वस्तुतः यह शब्द शण है। शण के अनुरूप अर्थवाचक यूनानी शब्द कन्न (KANNA) है। इन दोनों शब्दों का प्राचीन अर्थ 'भाँग' है। वैदिक भाषा के अतिरिक्त अन्यान्य भाषाओं में भी सोम (भाँग) 'सिद्धि' के अर्थ में व्यवहृत होती रही है। 'सिद्धि' के अभिलाषी आर्य, असुरों पर विजय-प्राप्त करने के लिए, उसका यज्ञों में प्रयोग करते रहे थे। तांगतों की भाषा में भाँग का नाम सोम (DSCHOME) है।

सोम का जिस प्रकार वर्णन ऋग्वेद में है, उसमें अधिकांश विशेषण भाँग पर भी लागू होते हैं। सोम मदकर होता था, यह निर्विवाद है। सोम को कूटने और रस चुवाने में पत्थरों का प्रयोग होता था (ऋ० १।२८।१)। सोम पर्वत-प्रान्त में पाया जाता था। आर्य हस्त द्वारा सोम लता का दोहन करते थे और प्रस्तर द्वारा धारा-रूप मधुर सोमरस का शोधन करते थे (ऋ० ३।३६।७)। सोम शीघ्र मदकारी, बलबर्द्धक, लाल, हरित और पीले रंग का होता था (ऋ० ९।११।४)। वह पत्थर से कूटा जाता था। दसों अँगुलियों से मथकर (ऋ० ९।६१।७,९०।८०।५।) हाथ से निचोड़ा जाता था (ऋ० ९।७०।८-९।८०।४,५,९७।४५)। मेष-लोममय छलनी से छाना जाता था (ऋ० ९।९२।१)। वह मदकर, स्वादुत्तम, रसात्मक और अरुण वर्ण भी होता था (ऋ० ९।७८।४)।

ऋग्वेद के 'सोम शीर्षक' नवम मंडल में सोम का विस्तारपूर्वक वर्णन है। सोम एक-एक द्रोण के कलसों में रखा जाता था (ऋ० ९।१।२८,९।३।१)। यह कलसे काष्ठ के बने होते थे (ऋ० ९।१०७।१०)। वे एक-एक द्रोण के कठौते आज भी गढ़वाल में उसी प्रकार घी-दूध के लिए प्रयुक्त होते हैं। सोम पर्वतवासी इन्द्र को अत्यन्त प्रिय था (ऋ० ९।९६।५।९।८।१,२,७,९)। सोम स्वर्ग (गढ़वाल) में होता था। उसे इन्द्र का जनक भी कहा गया है (ऋ० ९।९६।५)।

श्री नारायण पावगी लिखते हैं कि "आर्य जातियाँ उच्च पर्वत-शिखरों या गहरी पर्वत-उपत्यकाओं में निवास करती थीं। वैदिक ऋचाओं के अनुसार सोम-पूजा का सर्व प्रथम स्थान यही प्रतीत होता है। सोम का पौधा अत्यन्त निम्न तथा अत्यन्त उष्ण प्रदेश में नहीं उगता था। प्रवासी आर्य उसे पर्वत-प्रदेशों से ही प्राप्त करते रहे हैं। वैदिक काल में हिमालय पर्वत, सिन्धु नदी और शर्पणावत का तटवर्ती क्षेत्र ही सोम के उत्पत्ति स्थल हैं।"

सोम का मूल उत्पत्ति-स्थान हिमालय था। सायण लिखते हैं कि मुंजावत पर्वत पर सर्वोत्तम सोम उगता है। और वह मुंजावत पर्वत, हिमालय के पृष्ठ पर अवस्थित है। भाँग के पौधे, गढ़वाल के वनों में भी पाये जाते हैं और गाँवों में अपने खेतों में भी लोग भाँग बोते हैं।

उत्तर गढ़वाल के राष्ट्र (राठ) अंचल में भाँग की खेती बहुत होती है। वहाँ वनों में भी भाँग घास की भाँति उगती है। उसका वर्ण हरित, स्वर्णिम और पीला होता है। वह इतना उपयोगी पौधा है कि उसका अंशमात्र भी व्यर्थ नहीं जाता। भाँग राष्ट्र प्रदेश का मुख्य व्यवसाय है। उसकी छाल निकाल कर जो वल्कल वस्त्र बनाया जाता है उसको 'भँगेला' कहते हैं, जो (**गढ़वाल गजेटियर्स, पृष्ठ** ४१) के अनुसार राष्ट्र निवासियों का मुख्य पहिनावा है। लोग रात को उसकी लकड़ी की मशाल बनाते हैं। भाँग कूट कर, पीस कर और भून कर खायी जाती है। शौकीन लोग उसके पत्तों को दूध के साथ घोट कर छलनी से छान कर पीते हैं। उसके बीज भी अत्यन्त स्वादिष्ट होते हैं और कच्चे तथा भून कर खाये जाते हैं। उसका पौधा लता की भाँति लचीला होता है। इसीलिए उसको वेदों में पौधा और आयुर्वेद में लता भी कहा जाता है। वस्तुतः उसे पौधा भी और लता भी कह सकते हैं। वह शीघ्र मदकारी होते हुए भी शराब की भाँति उत्तेजक और अनर्थकारी नहीं होता। आज भी अनेक हिन्दुओं द्वारा उनके धर्मोत्सवों में अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक उसका रस जल, दूध और दही में मिला कर सेवन किया जाता है। उसको चिलम पर भी पीते हैं। उसको ऋग्वेद के अनुसार दशों उँगलियों से मथकर प्रायः 'सुलफे' (चरस) के रूप में निकाला जाता है (ऋ० ९।१।६)। सूर्यपुत्री (यमुना) द्वारा उसका रस विस्तृत एवं पवित्र करने का उल्लेख है

(ऋ० ९।११३।९)। सूर्यपुत्री द्वारा, सोम को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाने का उल्लेख भी है (ऋ० ९।१०२।४)। सोम को मातृरूप गंगा आदि सप्त सरिताएँ प्रशंसित करती हैं। आर्य-ऋषियों की सोम के प्रति जो असीम श्रद्धा-भक्ति थी, उनके बीच सोम का प्रयोग जिस प्रकार प्रचलित था, उस परम्परा के अनुसार आज भी आर्य-ऋषियों, साधु-महात्माओं में सोम-याग-सदृश, सिद्धि-लाभ के लिए दुर्गापूजा एवं शिवरात्रि-पर्व पर तथा अन्य हिन्दू धर्म उत्सवों में भँग का प्रयोग प्रचलित है। यदि आर्यों का वह लोकप्रिय पेय सचमुच भाँग ही है, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि उत्तराखण्ड के इस राष्ट्र क्षेत्र में आज भी उसका सर्वाधिक प्रयोग पूर्ववत् प्रचलित है।

इस प्रकार सोम के सर्वव्यापी महत्व को और राष्ट्र (राठ) क्षेत्र में प्रचलित उसकी प्रचुरता को दृष्टि में रखकर प्रतीत होता है कि मध्य हिमालय का यह सम-शीतोष्ण भू-खण्ड आर्यों के निवास के लिए सर्वथा उपयुक्त था। आर्य ऋषियों ने यहीं बैठकर संहिताओं का विभाजन किया और यहीं की परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर संहिताओं में सोम तथा सोमरस का बार-बार उल्लेख हुआ है।

● ●

कैलास : मेरु : सुमेरु और गन्धमादन पर्वत

कैलास, मेरु और सुमेरु पर्वतों के सम्बन्ध में इतिहासलेखकों ने अनेक निराधार कल्पनाएँ की हैं। वस्तुतः ये सब नाम उस पर्वत-प्रदेश के लिए प्रयुक्त हुए हैं, जो गंगा नदी का उद्गमस्थल हैं। **'महाभारत'** (वन पर्व के १६३ और १६४ अध्यायों) में अर्जुन की जिस मेरु यात्रा का वर्णन है वह सुमेरु पर्वत, बदरीनाथ के निकट सतोपंथ है। इसी गन्धमादन क्षेत्र से अर्जुन ने मेरु पर्वत में प्रवेश किया था। **'महाभारत'** के इन अध्यायों में लिखा है कि मन्दराचल पर इन्द्र और कुबेर का तथा मेरु पर भगवान् नारायण का आश्रम है। अलकापुरी, मेरु, सुमेरु, कैलास और गन्धमादन पर्वत-प्रदेश आर्य-ऋषियों का तपस्थल रहा है। कविवर कालिदास के देवतास्वरूप नगाधिराज हिमालय का यही पावन प्रदेश, **'कुमार-सम्भवम्'** में कार्तिकेय की क्रीड़ास्थली भी है। इस क्षेत्र में फैले हुए अनेक नन्दन वनों के वन-वैभवों से चमत्कृत होकर वेद और पुराणों में आर्य-मनीषियों ने जो प्रसंसात्मक काव्य-रचनाएँ की हैं उनकी कुछ काव्यगत कल्पनाओं को, अक्षरशः ऐतिहासिक तथ्यों के पैमाने पर सही-सही नाप कर आज साहित्य के डाक्टर अर्थ का अनर्थ कर रहे हैं।

सुमेरु को **'महाभारत'** में गिरिराज, नगोत्तम और महौषधि नाम तथा प्रभावान् कहा गया है। जो लोग इस मेरु और सुमेरु को मध्य एशिया एवं उसमें वर्णित छः महीने का दिन और छः महीने की रात की कवि-कल्पना के कारण उसको उत्तरी ध्रुव में सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, उनको उत्तरी ध्रुव में गिरिराज, नगराज एवं अनेक ऐसे पर्वत-शिखर भी प्रमाणित करने चाहिएँ। वस्तुतः उसमें छः-छः महीने के दिन-रात के अलंकारिक वर्णन का सामान्य अर्थ यह है कि छः महीने तक वहाँ हिमाच्छादित सदनों में सूर्य-दर्शन नहीं होता है। श्री बदरीनाथ की पूजा छः महीने देवता और छः महीने मनुष्य करते हैं। इस जनश्रुति का भी यही अर्थ है कि शीतकाल में अत्यधिक हिमपात के कारण केदारनाथ और बदरीनाथ के पट छः महीने बन्द रहते हैं। अतः छः महीने के लिए वहाँ के निवासी नीचे, उष्ण उपत्यकाओं में उतर आते हैं।

'महाभारत' के अनुसार मेरु पर कुबेर का निवास है, उसके उत्तर भाग से गंगा निकलती है (भीष्म पर्व ६।१०।३३)। व्यास ने शिष्यों सहित मेरु पर निवास किया था (शांति पर्व ३४१।२६)। हम इससे पूर्व बदरीक्षेत्र में, नर-नारायण आश्रम और व्यास आश्रम का उल्लेख कर चुके हैं। मेरु पर्वत पर, प्रकृति की इसी

रंगस्थली में फैला हुआ संसार का आश्चर्यजनक प्राकृतिक पुष्पोद्यान कुबेर का नन्दन-कानन वह प्रसिद्ध फूलों की घाटी भी है। इस उपत्यका को आज भी भीम के नाम पर भ्यूंधार (भीमधार) घाटी कहते हैं, जहाँ द्रौपदी के आग्रह पर भीमसेन पुष्प-चयन करने गये थे। 'महाभारत' (वन पर्व) के अनुसार मेरु पर्वत में, नन्दन वन के आस-पास ही आर्य-द्विजों की उत्पत्ति की घोषणा भी की गयी है। 'महाभारत' में मेरु पर्वत पर उस नन्दन वन का वर्णन है।

अटकिन्सन साहब भी 'हिमालय गजेटियर्स' (पृ० २८४-८५) में लिखते हैं कि यह निर्विवाद है कि भारतीय देवताओं की क्रीड़ाभूमि मेरु पर्वत हिमालय के इसी सर्वोच्च हिमाच्छादित शिखर के सम्मुख अवस्थित है। 'केदारखण्ड' के गंगास्त वन (३८।१४०) में गंगा नदी को इसी सुमेरु पर्वत से निकली हुई कहा गया है

राहुल जी भी 'हिमालय परिचय' ।१। (पृ० १२) में लिखते हैं कि सुमेरु सतोपंथ का ही नाम है, जो उत्तर गढ़वाल के पल्ला पनखंडा में अवस्थित है। उसकी चार चोटियाँ २१९९१ फुट और २३२४९ फुट ऊँची है। गंगा का स्रोत जिस मेरु पर हो उसको मध्य एशिया एवं ध्रुव देशों में खोजना हास्यास्पद हैं। शेयरिंग साहब भी अपनी पुस्तक-सीमान्त क्षेत्र तिब्बत (Tibetan Border land) में मेरु की इन विवादास्पद भौगोलिक स्थितियों को, गन्धमादन के पर्वत में जहाँ अलकनंदा (गंगा) नदी बहती है, स्वीकार करते हैं। 'महाभारत' में लिखा है कि मेरु पर्वत से निकल कर भागीरथी गंगा चन्द्रहृद में गिरती है। भगवान् शंकर इस पर्वत पर उमा सहित बिहार करते हैं (भीष्म ६। ३५।३१)। इसी मेरु के पार्श्व में वशिष्ठ जी का आश्रम है (आदि० ९९।६)। यहाँ ब्रह्मा के मानसपुत्र सप्तर्षियों का निवास है। दैत्यों सहित शुक्राचार्य यहाँ रहते हैं। यह माल्यवान् और गन्धमादन—दोनों पर्वतों के बीच में स्थित है।

कैलास—वस्तुतः मेरु ही कैलास पर्वत का नाम भी है। यही हिन्दुओं की स्वर्गभूमि है। 'महाभारत' वन पर्व में लिखा है कि कैलास पर देवताओं का वास है और उसी पर विशाल (बदरीकाश्रम) नाम का तीर्थ स्थान है। राजा सगर और भगीरथ ने कैलास पर भी तपस्या की थी। 'महाभारत' (सभा १०।३२ तथा वन पर्व ३७।४२) के अनुसार कैलास पर्वत बदरीनाथ के निकट, गंगाक्षेत्र में गन्धमादन-पर्वत-श्रेणी के आस-पास फैला हुआ है। कैलास पर्वत पर नर-नारायण आश्रम और गन्धमादन पर्वत से उसकी भौगोलिक स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाता है। 'केदारखंड' (६०।३४।;७८।३८) में भी कैलास पर्वत की स्थिति गंगा के निकट गन्धमादन क्षेत्र में स्पष्ट है।

गन्धमादन—बदरीकाश्रम के चारों ओर, कैलास क्षेत्रान्तर्गत गन्धमादन पर्वत

का भी '**महाभारत**' और पुराणों में अनेक स्थानों पर अत्यन्त गौरवपूर्ण उल्लेख है। गन्धमादन में कश्यप ऋषि और शेष भगवान् ने तपस्या की थी (आदि पर्व ३०। १०।३६।२)। यहाँ पांडुकेश्वर में राजा पाँडु ने पत्नियों सहित तप किया। यहीं पाँचों पाडवों का जन्म हुआ और यहीं पाँडु की मृत्यु एवं माद्री सहित उनके चितारोहण की भी घटना घटी (आदि० ११८-१२४)। गन्धमादन पर कुबेर उपासना करते रहे (सभा० १०।३२)। यहीं भगवान् कृष्ण ने सायंगृह मुनि होकर १० हजार वर्ष तक निवास किया (वन पर्व १२।११)। यहीं विशाल बदरी और भगवान् नारायण का आश्रम है (वन० १४१।२२)। गन्धमादन में पांडवों का प्रवेश वहाँ का अद्वितीय प्रकृति-सौंदर्य, पाँडवों का घटोत्कच की सहायता (नर-वाहन) कमल-पुष्पों के लिए भीमसेन का कुबेर के नन्दन-वन में प्रवेश, कुबेर के सखा मणिमान राक्षस का वध और अर्जुन की इन्द्रलोक से वापसी का वन पर्व में (१४० से १६४ तक) सर्वत्र अत्यन्त गौरवपूर्ण वर्णन है।

प्राचीनकाल में इस गन्धमादन-पर्वत-प्रदेश का इतना अत्यधिक महत्व था कि यदुवंश की समाप्ति पर भगवान् कृष्ण उद्धव से, उसे पृथ्वी पर एकमात्र पावन स्थल बतला कर, यदुवंश के नष्ट होने के बाद वहाँ प्रस्थान करने को कहते हैं (**विष्णुपुराण** ५।३७।३४)।

'**महाभारत**' के अनुसार इसी बदरीकाश्रम के गन्धमादन क्षेत्र के निकट कैलास और मैनाक पर्वत है :

अवेक्षमाण कैलासं मैनाकं चैव पर्वतम्।
गन्धमादनपादाश्च श्वेतं चापिशिलोच्चयम्॥

श्री रामगोविन्द त्रिवेदी '**वैदिक साहित्य**' (पृ० २८४ में) लिखते हैं कि "ऋग्वेद में हिमालय शब्द नहीं है परन्तु हिमवन्त है। ऋग्वेद (१०।३४।१) में मुंजावत पर्वत का नाम है, जिसे सायण ने सोम का विशेषण बतलाया है। अथर्ववेद (५।२२) और '**तैत्तिरीय संहिता**' (१।८।६२) से ज्ञात होता है कि मुंजवान पर्वत गान्धार देश या वाह्लीक प्रदेश की तरफ, उत्तराखंड में था। कुछ लोग मुंजवान पर्वत को कैलास भी कहते हैं। '**महाभारत**' (१४।८।१) में उसको (गिरेःहिमवतः पृष्ठे) हिमालय की पीठ पर बतलाया है। हिमालय के उत्तर प्रदेशस्थ पर्वत मुंजवान पर्वत था। '**तैत्तिरीय आरण्यक**' (१।३१) में इन तीनों पर्वतों के नाम आये हैं सुदर्शन, क्रौंच और मैनाक। मेरु को ही कुछ लोग सुदर्शन मानते हैं। क्रौंच और मैनाक नाम पुराणों में आये हैं। उक्त आरण्यक में कहा है कि इन तीनों पर्वतों में कुबेर और कुबेर के पुत्रों का नगर है, जो स्पष्टतः अलकापुरी का क्षेत्र है।"

त्रिवेदी जी ने जिस हिमवन्त, मुंजवान, कैलास, क्रौंच, मैनाक, मेरु, एवं

उत्तरखंड का नाम दिया है, उसी पर्वत-प्रदेश का वर्तमान नाम गढ़वाल है। यहाँ कुबेर की अलकापुरी है। यह यक्ष, गन्धर्व और किन्नरों का देश है। इस गांधार देश से अभिप्राय काबुल कन्दहार के निकट प्रदेश से नहीं, वरन् गन्धर्व-किन्नरों के उस पर्वत-प्रदेश से है, जो उत्तर प्रदेश के उत्तरी भाग में है **'महाभारत'** (सभा० ३।६।११, वन पर्व १३६।१, १४५।४४)। जिसका प्राचीन नाम उत्तराखंड और वर्तमान नाम गढ़वाल है। महाराज हिमालय की पत्नी मेनका से मैनाक और क्रौंच दो पुत्र-रत्न (दो पर्वत-शिखर) उत्पन्न हुए थे। मैनाक कैलास क्षेत्रान्तर्गत है (भीष्म पर्व ६।४२)। इस पर्वत पर भगीरथ ने गंगावतरण के लिए तप किया था (सभा पर्व ३०।६,११।)। केदारनाथ के पूर्वोत्तर भाग में एक पर्वत-शिखर क्रौंच नाम से आज भी विख्यात है।

ऋग्वेद की नदियाँ

ऋग्वेद में निम्नलिखित नदियों का उल्लेख है :

सप्तसिन्धु—१।३२।१२, १०।३६।६

सप्तसरिताएँ—६।७।६, १।१०२।२१, १।१६१।१४, २।१२।१२, ३।१।४, ६, ६।६।४ ६ = ७ बार

आचार्य सायण ने जिनको गंगा आदि सात नदियाँ कहा है	५।४२।१२,६।६१।१२,८।८५।१,६।६।४, १०।४३।३, १०।१०४।८

२१—**शाखा नदियाँ**—१०।६४।८,६, १०।७५।१

६०—**नदियाँ**— १।३२।१४, १।१६१।१३

६६—**नदियाँ**— १।३२।१४ १।१६१।१३

१—**सरस्वती**—१।३।१०,१२, ३।२३।४, ५।४२।१२,६।५२।६, ६।६१।१ **से** १४,७।३६।६, ७।६५।१ **से** ६,७।६६।१ **से** ३,८।२१। १७।१८; वालखिल्य सूक्त ६।४, १०।१६।७ **में** ३ **बार**, १०।१६।८,६, १०।६४।८ ६ १०।७५।५ = ४० **बार**

२—**सिन्धु**—१।३४।८, २।१५।६, ३।३३।३, ५।५३।६, ७।३६।६, ८।२०।२५ १०।६४।८,६, १०।४५।२,५,६,७ १०।७५।१६ **से** ६ = २५ **बार**

३—**सरयू**— ४।३०।१८, ५।५३।६, १०।१४।८,६ = ४ **बार**

४—**परुष्णी**— २।१५।५, ५।५२।६, ८।६३।१५, १०।७५।५ = ४ **बार**

५—**यमुना**— ५।५२।१७, ७।१८।१६, १०।७५।५ = ३ **बार**

६—**गंगा**— ३।५८।६, ६।४५।३७, १०।७५।५ = ३ **बार**

७—**गोमती**— ५।६१।१६, ८।२४।३०, १०।७५।६ = ३ **बार**

८—**अंशमती**—८।४५।१३, १४,१५ = ३ **बार**

९—विपाशा—(व्यास) ३।३३।१ और ३,४।३०।११ = ३ बार
१०—शतुद्री—(सतलज) ३।३३।१७, १०।७४।५ = २ बार
११—असिक्नी (चिनाव) ८।१०।२५,७५।५ = २ बार
१२—वितस्ता (झेलम) १०।७५।५ = १ बार
१३—आर्जीकीया—८।५३।११, १०।७५।५ = २ बार
१४—कुंभा (काबुल नदी) । ५।५३।९, १०।७५।५ = २ बार
१५—श्वेतयावरी—८।२६।१८, १९ = २ बार
१६—सुषोमा—८।५३।११, १०।७५।५ = २ बार
१७—हरियूपीयां—६।२७।५,६ = २ बार
१८—रसा— ५।५३।९, १०।७५।५ = २ बार
१९—अनितभा— ५।५३।९ = १ ,,
२०—क्रमुव (छुरस)—१०।७५।६ = १ ,,
२१—मंदाकिनी— ८।११३।८ = १ ,,
२२—तृष्टामा— १०।७५।६ = १ ,,
२३—श्वेत्मा— ,, = १ ,,
२४—स्मर्तु ,, = १ ,,
२५—महेल— ,, = १ ,,
२६—मरुद्वृद्धा— ,, = १ ,,
२७—सुवास्तु— ८।१९।७ = १ ,,
२८—सीरा— ११।१३४।९ = १ ,,
२९—इरावदी— २।१५।९ = १ ,,
३०—दृषद्वती— ३।२३।४ = १ ,,
३१—उर्वशी— ५।४१।१९ = १ ,,
३२—आपया— ३।२३।४ = १ ,,
३३—अश्मवती— १०।५३।८ = १ ,,
३४—शिफा— १।१०४।३ = १ ,,
३५—यव्यावती— ६।२७६ = १ ,,

● ● ●

सप्तसिन्धु और उसकी नदियाँ

आर्यों के आदि देश सप्तसिन्धु में सात प्रमुख नदियों के अतिरिक्त त्रिसप्त **सरिताएँ एवं ६० और ६६** नदियाँ भी बहती थीं। 'सिन्धु' शब्द का निर्वचन **'निरुक्त'** खंड २६ के अनुसार (सिन्धुः स्यन्दनात्) तीव्रगामी से है। यह नदी जाति के लिए अत्यन्त प्राचीन योगरूढ़ शब्द है। निरुक्तकाल में सिन्धु शब्द तीव्र प्रवाह के कारण पर्वत-प्रदेशों में प्रवाहित प्रत्येक नदी के लिए प्रयुक्त होता था। सिन्धु नदी और समुद्र में अनेक नदियाँ संधि करती हैं। इस कारण सिन्धु नदी और समुद्र सिन्धु के पर्याय हैं। सप्तसिन्धु से भी स्पष्टतः सात नदियों का बोध होता है, किसी सिन्धु नाम की विशेष नदी का नहीं। इसी प्रकार जहाँ सात सरिताओं की जलराशि एकत्र हो, उस देश का नाम सप्तसिन्धव है। पंजाब पँचनद अर्थात् पाँच नदियों का देश है। वहाँ सिन्धु के अतिरिक्त रावी, चिनाव, झेलम, व्यास और सतलज बहती हैं; परन्तु आज वहाँ सिन्धु के अतिरिक्त इन नदियों में से किसी का वैदिक नाम प्रचलित नहीं है। जब सप्तसिन्धु की अन्य छः नदियाँ, परुष्णी, शतुद्री, विपासा, असिक्नी और वितस्ता पंजाब में अपने वैदिक नाम से प्रचलित नहीं हैं तो वहाँ केवल सिन्धु का ही नाम अपरिवर्तित रहा है, यह धारणा युक्तियुक्त नहीं है। आज नहीं, ईसा से ३,४ सौ वर्ष पूर्व सम्राट् चन्द्रगुप्त के युग में भी उनका वैदिक नाम प्रचलित नहीं था। यूनानियों ने रावी को हाइड्राटीज और व्यास को हिफानिस लिखा है। स्वयं लोकमान्य तिलक को भी पंजाब के सप्तसिन्धु होने में सन्देह हैं। वे **'आर्कटिक होम इन दि वेदाज'** (पृ० २३०) में लिखते हैं :

"पंजाब पाँच नदियों का देश है, सात का नहीं। इन सरिताओं में कोई समान गुणों और नामवाली दो सहायक नदियों को अपनी इच्छानुसार जोड़ लेने से हम इनको संख्या यद्यपि सात सरिताओं तक बढ़ा कर ले जा सकेंगे।" बल-पूर्वक दो और नदियों का नाम जोड़ कर पंजाब को सात नदियों का देश बनाने का यह प्रयास ऐतिहासिक सत्यता की कहाँ तक पुष्टि करता है, यह विचारणीय बात है। इस प्रकार पंजाब में सिन्धु नदी का ऋग्वैदिक नाम प्रचलित होने के कारण, पंचनद पंजाब में ही जिसकी प्राचीन और अर्वाचीन परिस्थितियाँ ऋग्वेद के सप्तसिन्धु में वर्णित प्रायः सभी सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं भौगोलिक तथ्यों से सर्वथा प्रतिकूल है, आर्यों के आदिदेश सप्त सिन्धु की स्थापना तर्कसंगत नहीं। वस्तुतः पंजाब में इस एक 'सिन्धु नदी' के नाम से एक नदी सरलतापूर्वक

प्राप्त हो जाने के कारण, इतिहासकार ऋग्वैदिक आर्यों के मूलस्थान से सम्बन्ध में अनेक निराधार कल्पनाओं के चक्कर में पड़ गये ।

पंजाब सप्तसिन्धु के समर्थक इतिहासकार स्वयं पंजाब में, सप्त सरिताओं के अतिरिक्त, वहाँ २१ सहायक सरिताएँ, ९० तथा ९९ अन्य नदियों के भौगोलिक अस्तित्व का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं। सिन्धु नदी के कारण पंजाब प्रान्त पर ही केन्द्रित रहने के कारण उन्होंने ऋग्वेद में वर्णित अन्य सब तथ्यों की तलाश में पंजाब से बाहर अन्यत्र जाने का प्रयास नहीं किया। इससे यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने केवल अनुमानों के आधार पर, कुछ-कुछ मिलते-जुलते नामों को काट-छांट कर, पंजाब में ही सप्तसिन्धु की कल्पना कर डाली है। **'हिन्दी-ऋग्वेद'** की भूमिका में श्री रामगोविन्द त्रिवेदी लिखते हैं :

"ऋग्वेद (१।१२१।१३) में लिखा है कि इन्द्र नौका द्वारा ९० नदियों के पार गये थे तथा (१।१६१।१३) में ९९ नदियों के नाम का कीर्तन किया गया है, परन्तु ऋग्वेद में तो ९० या ९९ नदियों के नाम अलभ्य हैं। क्या मंत्रों के समान इन नदियों के नाम भी लुप्त हो गये ?"

ऋग्वेद में यह स्पष्ट है कि उक्त सब सरिताएँ हिमाच्छादित पर्वत प्रदेश में बहती थीं और वे सब विशेषकर सप्तसरिताएँ वहीं सन्धु नदी में संधि करती थीं, अर्थात् इन सबके संधिस्थल पंजाब की भाँति समभूमि में नहीं थे, वरन् पर्वत-प्रदेश में थे, जिसका नाम सप्तसिन्धु था। गढ़वाल का यह हिमाच्छादित पर्वत-प्रदेश नदियों का देश है। इतिहासकारों द्वारा जिन्हें आर्यावर्त्त में ९९ ऋग्वैदिक नदियाँ प्राप्त नहीं हुई वे अलकनन्दा (सिन्धु) में सन्धि करने वाली, सप्तसिन्धु की उन सात देवनदियों के अतिरिक्त यत्र-तत्र प्रवाहित शेष ९० एवं ९९ ऋग्वैदिक नदियों का यहाँ आकर प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं। आर्यों की इन्हीं देवनदियों के पवित्र संगमस्थलों पर प्राचीन काल से अनेक वेदमंत्र पाँच प्रयागों की स्थापना की पुष्टि करते हैं। पंजाब की नदियों के संगमों पर, वेद प्रतिपादित आर्य-जाति के ऐसे तीर्थस्थानों का सर्वथा अभाव, उनकी ऐतिहासिक प्राचीनता को अप्रमाणित कर देता है।

ऋग्वेद में सप्तसिन्धु की समस्त नदियों के, लगभग ३५ नदियों के, नामों का ही उल्लेख है। सप्तसिन्धु का दो बार, सप्तसरिताओं का बारह बार, २१ शाखा नदियों का तीन, ९० और ९९ नदियों का दो-दो बार, अलग-अलग वर्णन आया हैं। सरस्वती नदी का ४० बार, सिन्धु का २५, गंगा का स्वतंत्र रूप से तीन बार तथा **'हिन्दी-ऋग्वेद'** के अनुसार आचार्य सायण ने सात नदियों के साथ गंगा का और भी छः बार उल्लेख किया है। इस प्रकार गंगा का कुल नौ बार, सरयू का

चार बार, परुष्णी का चार, यमुना, गोमती, अंशुमती और विपाशा का तीन-तीन बार, आर्जीकीया, शतुद्री, असिक्नी, कुंभा, सुषोमा, हरियूपीया, श्वेतयावरी और रसा का दो-दो बार तथा अन्य नदियों का ऋग्वेद में केवल एक-एक बार उल्लेख है।

किसी बात का बार-बार वर्णन उसकी लोकप्रियता का परिचायक है। ऋग्वेद में सबसे अधिक बार जिस नदी का वर्णन आया है, वह सरस्वती है। परन्तु पंजाब में उसका भी भौगोलिक अस्तित्व आज विद्यमान नहीं है। इतिहासकारों द्वारा उसकी प्राचीन भौगोलिक स्थिति की कल्पना, पंजाब में सप्तसिन्धु की स्थापना के समर्थन में केवल अनुमान मात्र है। सरस्वती के पश्चात्, क्रमानुसार सिन्धु गंगा (सायण की गणनानुसार), सरयू (कुमाऊँ की नदी जो गढ़वाल के तटवर्ती क्षेत्र से निकलती है), परुष्णी, यमुना, गोमती, अंशुमती और विपाशा है। इन नौ नदियों में सिन्धु, परुष्णी (रावी) और विपाशा (व्यास) पंजाब में बतलायी जाती हैं। यदि पंजाब सप्तसिन्धु होता तो ऋग्वेद पंजाब की, आर्जीकीया, शतुद्री (सतलज), असिक्नी का सरस्वती, गंगा, सरयू, यमुना, गोमती और अंशुमती आदि से प्रथम एवं अधिक बार उल्लेख हुआ होता। यदि केवल परुष्णी और विपाशा भी जिनका ऋग्वेद में (सरस्वती, गंगा और सरयू से कम होते हुए भी) क्रमशः चार बार और तीन बार उल्लेख हुआ है, अपने वैदिक नाम से पंजाब में प्रसिद्ध होती तो वहाँ की सिन्धु नदी को भी, वैदिक सिन्धु घोषित करने में कोई आपत्ति नहीं थी। शतुद्री (सतलज) और असिक्नी (चिनाव) का दो बार और वितस्ता (झेलम) का तो केवल एक बार ही नाम आया है। आर्यों ने जिस देश की नदियों का इतना कम वर्णन किया हो, उसको आर्यों का आदि देश घोषित करना युक्तियुक्त नहीं है।

ऋग्वेद (५।५३।९) में मरुतों के देश में रसा, अनितभा, कुंभा, क्रमु, सिन्धु और जलमयी सरयू का उल्लेख है पंजाब की सिन्धु के साथ इन नदियों का ऐतिहासिक अस्तित्व नहीं है। जो सरयू नदी जलमयी विशेषण से प्रतिष्ठित की गयी है, वह साधारण नदी नहीं है, जिसका पंजाब प्रान्त में भौगोलिक अस्तित्व न हो। फारसी धर्मग्रन्थों में भी सिन्धु के साथ सरस्वती (हरह्वती) और सरयू (हरैयू) का उल्लेख है। शतुद्री, असिक्नी और वितस्ता का नहीं। ऋग्वेद (१०।४४।७) में भी सिन्धु से पूर्व सरस्वती के साथ घृत और बृहद् सहित त्वरापूर्वक बहती हुई, देवी और मातृरूपिणी बड़ी नदियों के साथ जिस सरयू का उल्लेख हुआ है उस महत्वपूर्ण नदी सरयू का भी पंजाब में सर्वथा अभाव है।

ऋग्वेद (३।३३।१,२,३,५) से प्रमाणित होता है कि विश्वामित्र सरस्वती नदी से आगे सिन्धु के देश को गये। वे विपाशा और शतुद्री (ऋ० ३।३३।१)

के संगम पर पहुँचे और उनको पार कर उन्होंने सिन्धु को पार करने का प्रयत्न किया। यदि शतुद्री पंजाब की सतलज और विपाशा व्यास है तो सिन्धु तक पहुँचने से पूर्व, उसमें रावी, चिनाव और झेलम आदि नदियों को पार करने का वर्णन होता। इसीलिए सायण ने यहाँ पर सिन्धु का अर्थ पंजाब की सिन्धु नदी नहीं किया है। सप्तसिन्धु में, सिन्धु, सरस्वती और रसा के साथ सरयू का भी नाम है। इस नाम की नदियाँ इतिहासकारों को पंजाब-प्रान्त में नहीं मिलतीं। डॉ० सूर के मतानुसार अनितभा, रसा और श्वेती सिन्धु की नदियाँ हैं। इस प्रकार पंजाब में सिन्धु के अतिरिक्त सरस्वती, सरयू और गोमती का अस्तित्व भी अप्रामाणिक है। इसीलिए तिलक पाँच नदियों के देश पंजाब को सप्तसिन्धु देश बनाने के लिए, उसमें दो और नदियों का नाम जोड़ने की युक्ति को कृत्रिम युक्ति कहते हैं। इतना ही नहीं, तिलक सप्तसिन्धु की सरिताओं को स्वर्ग की नदियाँ मानते हैं, जिसका सारांश यह है कि सप्तसिन्धु की सप्त सरिताओं के प्रति आर्यों का इतना भक्तिभाव था, जिसका पंजाब की पाँच सरिताओं में अभाव है।

ऋग्वेद (३।३३।१) के अनुसार शतुद्री सिन्धु का ही नाम है। इन्हीं मंत्रों से प्रकट है कि शतुद्री और पिपाशा एक साथ, वेग से समुद्र की ओर जाती हैं। परन्तु पंजाब की शतुद्री (सतलज) और पिपासा (व्यास) समुद्र में नहीं गिरतीं, वरन् पंजाब में ही सिन्धु में मिल जाती हैं। इससे प्रमाणित है कि पंजाब की सतलज और व्यास, ऋग्वैदिक शतुद्री और विपाशा नहीं हैं। विपाशा व्यास का नहीं, वरन् किसी अन्य नदी का नाम है; क्योंकि ऋग्वेद के प्रसिद्ध '**नदी सूक्त**' में भी उसका नाम नहीं है।

ऋग्वैदिक सिन्धु ही अलकनंदा एवं गंगा है

आर्यों के आदि देश सप्तसिन्धु की सप्त सरिताओं में, उनकी परम आराध्या देवनदी गंगा, सम्मिलित न हो, यह बात आर्य-साहित्य द्वारा प्रतिपादित परम्पराओं के प्रतिकूल है। ऋग्वेद में सिन्धु को स्पष्टतः त्रिपथगा (गंगा) भी कहा है। '**नदी सूक्त**' के प्रारम्भ में लिखा है कि नदियाँ सात-सात करके, तीन प्रकार तीन पथों से—पृथ्वी, आकाश और द्यु-लोक से हो कर चलीं। इन सबसे अधिक बहने वली सिन्धु ही है। आचार्य सायण ने सप्तसिन्धु में जो अन्य किसी नदी का, सिन्धु नदी तक का, भी नाम न देकर केवल गंगा आदि सात नदियाँ (गंगाद्यासु नदीषु) ही लिखा है, वह अकारण और निराधार नहीं है। भाष्यकार महीधर ने भी (ऋ० ८।६।२८) गंगा के संगमस्थलों पर मेधावी आर्य-विप्रों की उत्पत्ति बतलायी है। वेद भाष्यकारों में आचार्य सायण का '**ऋग्वेद भाष्य**' सर्वोत्तम माना जाता है।

ऋग्वेद में जिन बारह स्थानों पर सात सरिताओं का वर्णन आता है, उन सब में (**हिन्दी ऋग्वेद**, पृष्ठ ५९७, ७५५, १०५५, १०७७, १२७७ और १३८७ के अनुसार) सायण ने केवल गंगा आदि सात नदियाँ लिख कर गंगा के अतिरिक्त किसी अन्य नदी का नाम नहीं दिया है। ऋग्वेद (६।६१।१२) में सरस्वती को गंगा आदि सप्त सरिताओं से युक्ता कहा है। सरस्वती नदी के साथ केवल गंगा आदि सात नदियाँ लिखा है (ऋ० ५।४२।१२)। कहीं गंगा के सिवाय अन्य नदी का उल्लेख नहीं है। सायण ने मातृ रूप गंगा आदि सात नदियाँ लिख कर, उसको अन्य नदियों से अधिक आदर प्रदान किया है (ऋ० ८।८५।१)। **बालखिल्य सूक्त** (६।४) में सरस्वती और गंगा आदि सात नदियों का ही उल्लेख है। अन्य किसी नदी का, सिन्धु तक का भी, उल्लेख नकया गया हैं। ऋग्वेद का (१०।४३।३) में गंगा आदि सात नदियों को कृषि की वृद्धि करने वाली कहा गया है। वहाँ (ऋ० १०।१०४।८) स्पष्ट लिखा हैं कि 'हे इन्द्र! रमणीय और अमित गति वाली गंगा आदि सात नदियों के द्वारा तुमने शत्रुपुरियों को नष्ट करके सिन्धु को बढ़ाया। तुमने मनुष्यों के उपकार के लिये ९९ नदियों का भी मार्ग प्रशस्त किया।' इस सूक्त में भी गंगा के अतिरिक्त सायण ने अन्य नदियों का उल्लेख न करके गंगा को ही प्रमुखता दी है। यहीं तक नहीं, इस मंत्र में गंगा आदि सात नदियों के द्वारा, सिन्धु के बढ़ाये जाने के उल्लेख से यह भी प्रमाणित होता है कि गंगा आदि सात सरिताएँ सिन्धु में ही संधि करती थीं। इस दृष्टि से भी वह सिन्धु पंजाब की सिन्धु नदी नहीं, वरन् गंगा-क्षेत्र की यही अलकनंदा है। इसी क्षेत्र में जो अन्य ९९ नदियों का वर्णन हैं, उससे भी स्पष्ट है कि आर्यों का आदि देश नदियों का देश था। इसमें गंगा आदि सात प्रमुख नदियों के साथ ९९ नदियाँ भी बहती थीं। और यह भौगोलिक तथ्य पंजाब पर नहीं, वरन् शत-प्रतिशत गढ़वाल पर ही लागू होता है।

ऋग्वेद के **'नदी सूक्त'** (१०।७५।५) में सिन्धु के स्तवन के तुरन्त बाद सरस्वती, शतुद्री, परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृद्धा, वितस्ता, सुषोमा और आर्जिकीया से पूर्व सरस्वती से भी प्रथम, गंगा और यमुना का नाम आता है और यह कदापि अकारण नहीं है। यदि शतुद्री, परुष्णी, असिक्नी, वितस्ता और अर्जिकीया पंजाब की रावी, चिनाव, व्यास आदि वर्तमान नदियाँ हैं, तो गंगा, यमुना और सरस्वती के मंत्र ५ में उनका उल्लेख न होकर, मंत्र १, २, ३, ४, ६, ७, ८ और ९ में सिन्धु के साथ कहीं भी उनका उल्लेख किया जाता; क्योंकि वे वर्तमान पंजाब और उसकी सिन्धु की एकमात्र सहायक नदियाँ है। गंगा, यमुना के साथ जिन उक्त नदियों का **'नदीसूक्त'** में वर्णन है, उनका आज किसी प्रकार भौगोलिक सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि **'नदी सूक्त'** में शतुद्री, परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृद्धा,

वितस्ता, सुषमा और आर्जिकीया का सिन्धु के साथ नहीं, वरन् गंगा और यमुना के साथ उल्लेख किया गया है। अतः उनका भौगोलिक अस्तित्व भी सिन्धु नदी के साथ नहीं, वरन् गंगा-यमुना के क्षेत्र में ही खोजना युक्तियुक्त है।

'महाभारत' (आदि पर्व १७५।१७६) में लिखा है कि विश्वामित्र से पीड़ित होकर वशिष्ठ जब आत्महत्या करने के लिये, मेरु-शिखर से गिरे तो शिलाखंड उनके सामने रुई के ढेर के समान हो गये। उसके बाद वे एक महानदी में कूद पड़े परन्तु वह भी उन्हें विपाशा (बंधनमुक्त) कर गयी। पुनः उन्होंने हिमालय से निकलने वाली एक भयंकर नदी में छलांग दे दी, परन्तु वह भी शत-शत धाराओं में बिखर गयी। उन्होंने प्रथम का नाम विपाशा और दूसरी का शतुद्री रख दिया। ऋषि वशिष्ठ का आश्रम भागीरथी और अलकनंदा के तटवर्ती क्षेत्र टिहरी की 'हिमदाउ पट्टी' में था। **केदारखंड** में गंगा को 'सुमेरु शिखरावासा सुमेरु-गृह-पूजिता' कहा है, उसी को 'शतुद्री सरयू तथा सरस्वती नंदानाद्रि निवासिनी' भी कहा। अतः उससे भी प्रमाणित होता है कि विपाशा और शतुद्री पंजाब की नदियाँ नहीं, वरन् अलकनंदा या उसकी सहायक नदियाँ हैं। '**महाभारत**' (आदि० ९९।६) में मेरु और कैलास-क्षेत्र के पार्श्व में ही वशिष्ठ का निवास-स्थान बतलाया गया है। उससे भी गढ़वाल के इसी क्षेत्र में विपाशा और शतुद्री के भौगोलिक अस्तित्व की पुष्टि होती है।

सप्तसिन्धु और गढ़वाल

गढ़वाल नदियों का देश है। गढ़वाल के उत्तरी सीमान्त पर सबसे प्रथम सप्तस्वसासु जेष्टा 'सरस्वती' है, जो केशवप्रयाग में अलकनंदा से मिल जाती है। सरस्वती के बाद अलकनंदा है। अलकनंदा कुबेर की अलकापुरी से निकलने वाली जल और लम्बाई के परिमाण में गढ़वाल की सबसे बड़ी नदी है। वेद और पुराणों में इसको ही देवनदी गंगा कहा गया है। '**महाभारत**' (आदि-पर्व १६९।२२) के कथनानुसार जिसको स्वर्ग लोक (गढ़वाल) में अलकनंदा कहते हैं, वही मृत्युलोक (मैंदानी क्षेत्र) में गंगा नाम धारण करती है। गढ़वाल में यह गंगा नाम से विख्यात है। इसमें सबसे प्रथम केशवप्रयाग में सरस्वती, द्वितीय विष्णुप्रयाग में धौली (श्वेतया), तृतीय नन्दप्रयाग में नंदाकिनी, चतुर्थ (कर्णप्रयाग) में पिंडर, पंचम (रुद्रप्रयाग में) मन्दाकिनी, (भागीरथी) देवप्रयाग में आर्यों के आदि देश सप्तसिन्धु में सम्भवतः नहीं थी। वह बाद को, राजा भगीरथ द्वारा हिमालय को चीर कर लायी गयी है। और षष्ठ (व्यासघाट में) नयार। इस प्रकार अलकनन्दा सहित सात प्रमुख नदियाँ एवं ऋषिगंगा, गणेशगंगा, रूद्रगंगा, पातालगंगा लक्ष्मणगंगा, गरुड़गंगा,

कंचनगंगा क्षीरगंगा और विष्णुगंगा आदि हिमालय से निकलने वाली अन्य अनेक नदियाँ भी संधि करती हैं। इसलिए अलकनंदा का सिन्धु नाम सर्वथा उपयुक्त है।

गंगोत्री से निकलने वाली भागीरथी, वेद और पुराणों में वर्णित गंगा नहीं है। राजा भगीरथ से कई पीढ़ियों पूर्व, ऋग्वेद में गंगा का अस्तित्व विद्यमान है। भागीरथी अलकनंदा गंगा की सहायक नदी नहीं, वरन् राजा भगीरथ द्वारा लायी गयी नहर है, जो गढ़वाल में ही देवप्रयाग स्थान पर अलकनन्दा में विलीन हो जाती है। पुराणों में इसके उद्घाटन की तिथि वैशाख शुक्ला सप्तमी भी निश्चित है।

देवनदी अलकनंदा (सिन्धु) की लम्बाई, प्रवाह, सार्वजनिक उपयोगिता, जल का परिमाण, भागीरथी और यमुना से कई गुना अधिक है। आर्य जाति के हृदय में अलकनंदा, उसके उद्गमस्थल एवं तटवर्ती क्षेत्र के प्रति यमुना, भागीरथी एवं पंजाब की सिन्धु से आज भी असीम भक्तिभाव सुरक्षित है। अलकनंदा के तटवर्ती क्षेत्र में बदरीनाथ, केदारनाथ और पंच-प्रयागों के अतिरिक्त अनेक तीर्थस्थान हैं, जो प्राचीन काल से आज तक समस्त आर्य जाति द्वारा पूजित एवं प्रतिष्ठित हैं। देननदी गंगा के दोनों पार्श्वों में फैले हुए, प्राचीन आर्य मनीषियों द्वारा सेवित, गन्धमादन, नर-नारायण, सुमेरु और कैलास पर्वत हैं।

भागीरथी की इस भौगोलिक एवं ऐतिहासिक वास्तविकता से दो उल्लेखनीय तथ्यों पर भी प्रकाश पड़ता है :

१. कपिल ऋषि का आश्रम, जहाँ पर ६० हजार सगर-पुत्र भस्म हुए थे, और जिनकी स्वर्ग-प्राप्ति के लिए भगीरथ, भागीरथी को लाए थे, देवप्रयाग से ऊपर गंगोत्री तक भागीरथी के तटवर्ती किसी क्षेत्र में अवस्थित है, क्योंकि देवप्रयाग से नीचे भागीरथी का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। यह क्षेत्र आर्य-ऋषियों की तप-भूमि थी। अतः कपिलाश्रम की इसी क्षेत्र में अधिक सम्भावना है।

२. राजा भगीरथ का राज्य, हरिद्वार से ऊपर टिहरी से गंगोत्री तक भगीरथी के तटवर्ती क्षेत्र में था। यह भी असम्भव है कि राजा भगीरथ सप्त-सिन्धु से आर्यावर्त्त में बसने से पूर्व उन आर्य-नरेशों की परम्परा में से थे, जो तराई भाबर के समुद्र से ऊपर सप्तसिन्धु (गढ़वाल) में रहते थे। अपने राज्य की आर्थिक-सुख-समृद्धि के लिये ही उन्हें अत्यन्त परिश्रमपूर्वक इस नहर का निर्माण करना पड़ा।

यह स्पष्ट है कि अलकनंदा (गंगा) जल के परिमाण, लम्बाई एवं उसके तटवर्ती तीर्थस्थलों की प्राचीनता की दृष्टि से भागीरथी से अधिक प्राचीन एवं आर्य जाति द्वारा अधिक आदरणीय रही है। यदि देवप्रयाग से नीचे कपिलाश्रम

होता तो वहाँ से आगे बंगाल की खाड़ी तक अलकनंदा (गंगा) का प्राचीन काल से अविच्छिन्न अस्तित्व प्रमाणित होता। परम मुक्ति-प्रदायिनी देवनदी अलकनंदा (गगा) का जब देवप्रयाग से नीचे इस युग में भी प्रकृत-प्रवाह ज्यों-का-त्यों था, तो भगीरथ द्वारा केवल देवप्रयाग से ऊपर तक, गंगोत्री से इतने परिश्रम-पूर्वक भागीरथी की नहर को निकालने से सगर-पुत्रों को क्या लाभ हुआ ? वस्तुतः भागीरथी राजा भगीरथ द्वारा बाद को लायी गयी एक नहर है। आर्यों के सप्त सिन्धुओं में इसीलिए भागीरथी नहीं थी।

पंजाब की सिन्धुनदी के तट पर तो किसी उल्लेखनीय आर्य संस्कृति के प्राचीन स्मारकों का सर्वथा अभाव है ही, परन्तु अलकनंदा का यह क्षेत्र, गंगोत्री-यमुनोत्री से भी अधिक आर्य-तीर्थों से परिपूर्ण है। **'महाभारत'** (वनपर्व) में धौम्य और लोमश ऋषि द्वारा बदरीनाथ की तीर्थ यात्रा में, यमनोत्री-गंगोत्री का कोई उल्लेख नहीं है। आर्य जाति के समक्ष सदियों से भागीरथी से अधिक अलकनंदा का सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक महत्व सर्व विदित है। और इसका कारण केवल यही है कि अलकनंदा ही, ऋग्वैदिक आर्यों के आदि देश सप्तसिन्धु एवं आर्यावर्त्त को श्री-सम्पन्न करने वाली सिन्धु है।

'देवीभागवत' (सप्तम स्कन्ध, अ० ६) में लिखा है कि गंगा और सरस्वती दोनों सौत हैं। श्री हरि ने दोनों झगड़ती हुई गंगा और सरस्वती का हाथ पकड़ कर प्रेमपूर्वक अपने समीप बैठा दिया। केशवप्रयाग में प्रखर प्रवाहिनी सरस्वती और गंगा का यह गर्जन-तर्जन स्वतः प्रमाणित है। **'देवीभागवत'** (६।१२) में भी अलकनंदा नदी को ही, स्पष्टतः गंगा नाम से कहा गया है।

ऋग्वेद के **'नदी सूक्त'** में सिन्धु को भी त्रिपथगा कहा गया है। ऋग्वेद (६।६१।१७) के में सायण ने सरस्वती को भी त्रिलोकव्यापिनी गंगा आदि सात नदियों से युक्ता कहा है। इस त्रिलोकव्यापिनी का अर्थ भी त्रिपथगा ही है। वहाँ भी मातृरूप गंगा आदि सात सरिताओं को सर्वत्र व्यापक कहा गया है। ऋग्वेद (८।८५।१) के इस सर्वत्र व्यापक शब्द में भी वही त्रिपथगा, पृथ्वी, आकाश और द्यु-लोक का भाव निहित है।

'महाभारत' (वनपर्व) में लिखा है कि–'हे सौम्य ! यह शीतल और पावन जल वाली अलकनंदा बह रही है। यह बदरीकाश्रम से ही निकलती है। देवर्षिगण इसका सेवन करते हैं। आकाशचारी वालखिल्य और गन्धर्वगण इसके तट पर आते हैं। यहाँ मरीचि, पुलह, भृगु और अंगिरा आदि मुनिगण शुद्ध स्वर से सामगान किया करते हैं। गंगाद्वार में भगवान् शंकर ने इसी नदी का जल अपनी जटाओं में धारण किया है। तुम सब विशुद्ध भाव से इस भगवती भागीरथी के

पास जाकर प्रणाम करो।' इससे स्पष्ट है कि अलकनन्दा को ही 'महाभारत' और पुराणों में गंगा एवं भागीरथी भी कहा गया है। वस्तुतः गंगोत्री से प्रवाहित भागीरथी भद्रा, सीता, अलकनन्दा, चक्षुष्मती नामक चार धाराओं में गंगा की एक धारा है परन्तु वेद और पुराणों द्वारा पूजित और प्रतिष्ठित गंगा की वही प्रमुख धारा गंगा के नाम से प्रसिद्ध है, जो सुमेरु पर्वत से नन्दनकानन के निकट, कैलास एवं अलकापुरी से निकलती है। '**केदारखंड**' (३५।१२-१५) के अनुसार महादेव जी कहते हैं कि अलका से निकलने वाली अलकनन्दा नाम की गंगा की यही धारा त्रैलोक्य-पापघ्नी गंगा की प्रमुख धारा है।

'जो शिर के ऊपर अवस्थित है वह अलकनन्दा में प्रकट हुई है। हे राजा भगीरथ! विश्व को पवित्र करने के लिए तू उसी उत्तम गंगा नदी को ग्रहण कर।'

अलकनन्दा को केवल गंगा ही नहीं '**महाभारत**' और पुराणों में कई स्थलों पर भागीरथी भी कहा गया है। '**महाभारत**' (वनपर्व १४५।३६) में लिखा है कि नर-नारायण आश्रम देवताओं और देवर्षियों द्वारा पूजित तथा भागीरथी गंगा से सुशोभित था। पांडवों ने विशाला बदरी के समीप उत्तम तीर्थों से सुशोभित शीतल जलवाली भागीरथी के पावन जल से पितरों का तर्पण किया।

ऋग्वेद के '**नदी सूक्त**' के सब मंत्रों में सिन्धु का स्तवन है परन्तु मंत्र ५ में गंगा का उल्लेख हो जाने के कारण मालूम होता है सिन्धु के पुनः उल्लेख की आवश्यकता नहीं रह गयी थी, क्योंकि इस मंत्र में वर्णित समस्त सरिताएँ सिन्धु में ही सन्धि करती हैं। इसलिए इस मंत्र में वर्णित गंगा नदी में ही सिन्धु नदी का भाव भी निहित है। इस क्षेत्र में गंगा का सर्व प्रथम पंजाब की पाँच नदियों से भी प्रथम उल्लेख होने से स्पष्ट है कि ऋग्वेद काल में भी गंगा अन्य समस्त नदियों से अधिक पूजनीय थी।

ऋग्वेद (१०।७५।५) के अतिरिक्त (३।५८।६ और ६।४५।३१) में स्पष्टतः गंगा का वर्णन है। इस प्रकार ऋग्वेद में वर्णित लगभग ३५ नदियों के उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि उन नदियों में आज केवल सरस्वती, सिन्धु, गंगा, यमुना, मंदाकिनी, सरयू और गोमती ऋग्वैदिक नामों से प्रसिद्ध है। अन्य नदियों का नाम आज भारत के वर्तमान भूगोल में विवादास्पद है; और सिन्धु के अतिरिक्त ऋग्वेद में वर्णित पाँचों नदियाँ उन्हीं नामों से गढ़वाल में और सरयू एवं गोमती अल्मोड़े में उन्हीं नामों से पुकारी जाती हैं।

ऋग्वेद (१०।४४।७) में जो सिन्धु से पूर्व सरस्वती और सरयू (जिसका पंजाब में कहीं अस्तित्व नहीं है) आह्वान किया गया है। क्या उससे सप्तसिन्धु में सरस्वती और सरयू का प्रमुख स्थान प्रकट नहीं होता? सरयू का तो महती

और तरंगशालिनी प्रमुख नदियों में चार बार उल्लेख है। सरस्वती और सरयू को सिन्धु से भी प्रथम स्थान देकर उन्हें देवनदियाँ बताकर मातृवत् सम्मान देकर, घृत और मधु के समान जल प्रदान करने वाली बताया गया है।

ऋग्वैदिक सरयू और गोमती

ऋग्वेद (१०।६४।६) में भी २१ महती और तरंगशालिनी नदियों में केवल सरस्वती, सरयू और सिन्धु का ही, साथ-साथ नाम आया है और उन्हें ही यज्ञ में रक्षार्थ आमंत्रित किया गया है। आरम्भ की दोनों नदियाँ पंजाब में नहीं हैं, वरन् वे अलकनन्दा की पड़ोसिने हैं। इन तीनों में तीसरी सिन्धु को अलकनन्दा न मानकर, इतने प्रान्त और नदियों को लाँघ कर, पंजाब में उसकी खोज करने जाना, युक्ति-युक्त नहीं है। ऋग्वेद में वर्णित सरस्वती नदी भी अत्यन्त प्रखर प्रवाहिनी, असामान्य नदी है। ऐसी पर्वतों को खंड-खंड करने वाली, आर्य जाति की परमपूज्या असाधारण नदी का पंजाब प्रान्त में जैसा कि इतिहासकार कहते हैं—नाम और अस्तित्व, आर्यजाति के जीवित रहते हुए, पूर्णतः लोप हो जाना आश्चर्यजनक है। फारसी धर्मग्रन्थों में भी सरस्वती और सरयू (हरह्वती और हरैयू) का उल्लेख है और यह स्पष्ट है कि उक्त दोनों सरिताएँ गढ़वाल और उसके निकटवर्ती क्षेत्र दानपुर से निकलने वाली अल्मोड़े की नदियाँ हैं, जिन्हें आज भी क्रमशः सरस्वती और सरयू कहते हैं। **'महाभारत'** (आदि पर्व १६६।२०) में सरयू गंगा की सात धाराओं में से एक है। श्री हरिराम धस्माना तो अलकनन्दा को ही सरयू कहते हैं। राजा भगीरथ ने भी **'केदारखंड'** (३८।३८) में गंगा को ही शतुद्री, सरयू तथा सरस्वती कहा है। सरस्वती और सरयू दोनों सरिताओं का उद्गम एवं तटवर्ती क्षेत्र शीत-प्रधान-प्रदेश है। जहाँ सदैव ध्रुव कक्षीय वातावरण रहता है। राहुल जी **'कुमाऊँ'** (पृ० ११) में लिखते हैं :

जोहार, दरमा और मल्ला दानपुर के परगने १३,००० फुट से अधिक ऊँचाई पर हैं। वहाँ का जल-वायु ध्रुवकक्षीय है। १३,००० फुट से ऊपर जाड़ा लम्बा और गरमी छोटी होती है, जिसके कारण अभी बर्फ पूरी तौर से पिघलने भी नहीं पाती कि नयी बर्फ पड़ जाती है।

गोमती को कुछ इतिहासकार गोमल कहते हैं, जो नितान्त अशुद्ध है। ऋग्वेद में तीन बार गोमती नदी का स्पष्टतः उल्लेख है। गोमती हिमवान् पर्वत से बहती थी। स्पष्ट है कि रथवीति का घर हिमवान् पर्वत में है और वह गोमती के तीर निवास करता है (ऋ० ५।६१।१,६)। **'महाभारत'** (आदि पर्व १६६।२०) में लिखा है कि गोमती और सरयू गंगा की सात धाराओं में से एक है। पुनः (अनु० पर्व ३०।१८) में लिखा है कि आर्यनरेश दिवोदास की नगरी का एक छोर

गंगा के उत्तर तट पर था और दूसरा गोमती के दक्षिण किनारे तक फैला हुआ था। अर्थात् गढ़वाल और कुमाऊँ दोनों प्रदेश आर्यनरेश दिवोदास के राज्यान्तर्गत थे। गोमती नदी आज भी **'कुमाऊँ'** से बहती है। वह बागेश्वर (अल्मोड़े) में सरयू नदी में मिल जाती है। उसके तट पर बैजनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर तथा पुरातात्त्विक महत्व के अनेक मठ स्थापित हैं। सर्व साधारण में उसका आज भी ऋग्वैदिक नाम 'गोमती' प्रचलित है।

महापंडित राहुल **'कुमाऊँ'** (पृष्ठ ३३९) में लिखते हैं:—"गोमती और सरयू के संगम पर हरे-भरे पहाड़ों से घिरे, बड़े रमणीय स्थान में बागेश्वर बसा हुआ है। गोमती और सरयू दोनों पर लोहे के सुदृढ़ झूला पुल बने हुए हैं। सरयू हिमानी से निकल कर आती है, इसलिए सम्मान और आकार में, उसे बड़ा होना ही चाहिए।"

गोमती और सरयू क्षेत्र में पुरातात्त्विक महत्व के हजारों प्राचीन मठ और मन्दिर बिखरे पड़े हैं। राहुल जी (पृ० ३३७) में लिखते हैं—"कत्यूर के मन्दिरों और मन्दिर विशेषों का वर्णन इतने से समाप्त नहीं हो सकता। वे पाँच-छः मील के भीतर, (सदानीरा) गोमती के दोनों ओर की उपत्याका में बिखरे हुए हैं। बैजनाथ (वैद्यनाथ) का पुराना नाम कार्तिकपुर (कार्तिकेयपुर) था, जिसका अपभ्रंश 'कत्यूर' आज सारी गोमती-उपत्यका का नाम है।"

यह अत्यन्त आश्चर्यजनक बात है कि इतिहासकार ऋग्वेद की ३५ नदियों में केवल एक सिन्धु नाम की नदी के कारण, अनेक प्रतिकूलताओं के बावजूद पंजाब को ही सप्तसिन्धु घोषित करते हैं। वे सरस्वती, गंगा, यमुना, मंदाकिनी, सरयू और गोमती आदि छः-सात नदियों के ऋग्वैदिक नामों की उपेक्षा कर, उनके क्षेत्र को क्यों सप्तसिन्धु घोषित नहीं करते?

डॉ० सम्पूर्णानन्द **'आर्यों का आदि देश'** (पृष्ठ २५९) में लिखते हैं कि "गंगा, यमुना सप्तसिन्धव की ही कोई छोटी नदियाँ होंगी। उस सूची में गोमती का नाम भी है। पर यह नाम उस गोमती का नहीं हो सकता है, जो आज लखनऊ-जौनपुर होते हुए काशी के पास गंगा में गिरती है। सरस्वती के सम्बन्ध में भी डाक्टर साहब ने लिखा है कि अब सरस्वती नाम तक का लोप हो गया है। घग्घर नाम रह गया है।"

ऋग्वेद में सरस्वती का सबसे अधिक चालीस बार, गोमती का तीन बार (५।६१।१९, ८।२४।३०, १०।७५।६), सरयू का चार बार, (४।३०।१८, ५।५३।९, १०।६४।८,९), मंदाकिनी का एक बार (८।११३।८) गंगा का तीन बार (३।५८।६, ६।४५।३१, १०।७५।५), यमुना का तीन बार (५।५२।१७, ७।१८।१९, १०।७५।६) नाम आया है। यदि **'नदी-सूक्त'** का दशवाँ मण्डल नवीन रचना है, तो भी

ऋग्वेद में गंगा, यमुना, सरस्वती, सरयू, गोमती और मंदाकिनी का दशवें मंडल से पहिले दो-तीन बार अर्थात् पंजाब की नदियों से अधिक बार जो नाम आयें हैं, क्या उससे भी वे पंजाब की नदियों से अधिक उपेक्षणीय प्रमाणित होती हैं ? यदि गोमती काबुल की गमाल नदी है, तो वहाँ सरयू कौन है ? मंदाकिनी कहाँ है ? स्वयं डाक्टर साहब ने (पृष्ठ २३६) गंगा के ऊँचे कछारों की भाँति लिख कर सिन्धु और सरस्वती से अधिक जिस गंगा के कछारों का ऋग्वैदिक महत्व स्वीकार किया है क्या वह सप्तसिन्धु की नगण्य नदी रही होगी ?

सिन्धु के अतिरिक्त जिस पंजाब में ऋग्वेद में वर्णित नाम की एक भी नदी नहीं है उसको बलपूर्वक आर्यों का आदि देश घोषित करना, तथा जिस प्रदेश में सरस्वती, गंगा, यमुना, गोमती, सरयू और मंदाकिनी आदि नदियाँ अपने मूल ऋग्वैदिक नाम से पूर्ववत् प्रवाहित हैं, उसे आर्यों का मूलस्थान न कहना हठ और दुराग्रह नहीं तो क्या है ? पंच-नद (पंजाब) को, आर्यों का आदि देश प्रमाणित करने के लिये गंगा, यमुना, सरस्वती, गोमती, सरयू और मंदाकनी आदि वास्तविक ऋग्वैदिक नदियों को नगण्य एवं प्रक्षिप्त बता कर उनका ऋग्वैदिक महत्व कम करने का प्रयास करना, भूगोल और इतिहास की वास्तविकता के प्रति, जान-बूझकर आँख बन्द करना नहीं तो क्या है ?

ऋग्वेद (३।५८।६) में उल्लिखित 'जह्नाव्याम' शब्द का सम्बन्ध भ श्री रामदास गौड़ के कथनानुसार जाह्नवी गंगा से है, जो उत्तरकाशी (टिहरी गढ़वाल) में आज भी उसी नाम से प्रचलित है। श्री राहुल सांकृत्यायन **'हिमालय-परिचय गढ़वाल** (पृ० १३) में तथा 'कुमाऊँ' (पृ० १२६) में लिखते हैं :

"सारा गढ़वाल गंगा का पनढर हैं। यहाँ से प्रायः सभी स्थानों को वर्षा का जल भिन्न-भिन्न नालों, गाडों या शाखा-नदियों से होकर गंगा में जाता है। गढ़वाली अपनी नदियों को किसी-किसी गंगा का नाम देते हैं। गंगा की मुख्य धारा यद्यपि गंगा (भागीरथी) को माना जाता है, किन्तु जल की मात्रा एवं लम्बाई को देखने से अलकनंदा और उसकी ऊपरी धारा 'सरस्वती' जो माना जोत से निकलती है, गंगा जानना होगा। भारत की सबसे पुनीत नदी का उद्गम स्थल होने से केदारखंड की महिमा अधिक होनी ही चाहिए।"

राहुल जी के उद्धरण से अलकनंदा के सम्बन्ध में हमारे कथन की अधिकांश पुष्टि हो जाती है। हम पाठकों का ध्यान राहुल जी की एक और बात की ओर अर्थात् 'अलकनंदा और उसकी भी ऊपरी धारा सरस्वती को जो माना जोत से निकलती है' आकर्षित करना चाहते हैं। अलकनंदा 'सिन्धु' की यही ऊपरी धारा ऋग्वैदिक आर्यों की सप्तसिन्धुओं में सबसे प्रथम, जेष्ठ (सप्त स्वसा सुज्येयेष्ठा) सरस्वती हैं। यह अलकनंदा (सिन्धु) की सबसे ऊपरी धारा है। अतः वह सिन्धु

के जल की उत्पादक सिन्धुमाता (सरस्वती) सप्तथी सिन्धुमाता (ऋ० ७।३६।६) है। इसका हम पुनः प्रसंगानुकूल वर्णन करेंगे। यह भी उल्लेखनीय है कि गंगा की सबसे ऊपरी धारा होने के कारण राहुल जी भी सरस्वती को गंगा घोषित करते हैं। इस प्रकार ऋग्वैदिक सरस्वती और सिन्धु के प्रति जिनका राहुल जी के कथनानुसार वर्तमान नाम गंगा है. ऋग्वैदिक आर्यों का जो पूज्यभाव था वह आज भी उसी प्रकार गंगा के प्रति सुरक्षित है।

यदि ऋग्वेद (३।५८।६) में 'जह्नाव्याम' से जाह्नवी एवं जह्नु देश तथा ऋग्वेद (६।५५।३१) के गांग्य से गंगा का बोध नहीं होता अथवा **'नदी सूक्त'** जैसे कुछ विद्वान् कहते हैं—नयी रचना है, उसमें बाद को गंगा का नाम जोड़ दिया गया है तो **'नदी सूक्त'** से पूर्व भी, यमुना का (ऋ० ५।५२।१७, ७।१८।१९ में) जो दा-दो बार स्पष्ट नाम आया है, उसका सम्बन्ध पंजाब प्रान्त के किस भाग से है ? वहाँ सरयू, गोमती और मंदाकिनी कहाँ है (ऋ० ५।५३,९) ? रसा नितभा, कुंभा, क्रमु और सिन्धु के साथ सरयू का उल्लेख क्यों हुआ ? तथा (ऋ० १०।६४।९१, १०।७५।६ में) सिन्धु के साथ सरयू, गोमती और सरस्वती का मेल कैसे हुआ ?

अलकनन्दा

'केदारखंड' (३८।१४०) तथा **'महाभारत'** (आदिपर्व १६९।२२) के अनुसार देवलोक की देवनदी अलकनंदा का नाम गंगा है क्योंकि उसको सुमेरु (सतोपंथ) से निकली हुई कहा गया है। सतोपंथ बदरीनाथ क्षेत्र के मल्ला पैनखंडा में २३,२४९ फुट ऊँचा पर्वत-शिखर है (**हिमालय परिचय**, ।१।, पृष्ठ १३)। गंगोत्री से निकलने वाली भागीरथी, प्राचीन गंगा नहीं, वरन् राजा भगीरथ से कई पीढ़ियों पूर्व, जिस गंगा का अस्तित्व पाया जाता है, वह अलकनंदा है। **'केदारखंड'** (गंगास्तवन अध्याय ३८) में गंगा को स्पष्टतः 'शतुद्री सरयू तथा सरस्वती शुभामोदा नन्दनाद्रिनिवासिनी' कहा गया है। अलकापुरी-नरेश-कुबेर के नन्दन कानन की भागीरथी गंगा नहीं अलकनंदा ही है। उनका बास केदार-शिखर पर है (**केदार०** ३८।४०।) उसमें पुष्करों का बाहुल्य है (**केदार०** ३८।३८) 'पुष्करा पुष्करा वासा पुष्पप्रचय सुन्दरी' (**केदार** ३८।३४) वह 'वेदान्तिनी वेदगम्या वेदान्तप्रतिपादिनी वेदान्तनिलया वैदान्तिक जनप्रिया' है (**केदार०** ३८।१०४)। वह नन्दनारण्यवासिनी' है. (**केदार०** ३८।१११) वह 'दुर्गा, दुर्गतमा, दुर्गवासिनी' गढ़वाल के गढ़ों की रहनेवाली है (**केदार०** ३८।११८)। वह 'त्रिपथगा, अत्रिप्रिया च अनुसूया त्रिमालिनी' है (**केदार** ३८। १२४)। वह पाँचों पाँडवों की माता 'कुन्ती कुन्तधराकरा' है (**केदार०** ३८।१५५)।

इस प्रकार '**केदारखंड**' के मतानुसार अलकनंदा को ही आर्यों की पुण्यतोया गंगा का गौरव प्राप्त है।

ऋग्वेद के उद्धरणों से भी स्पष्ट है कि सात नदियों में जिस नदी का नाम सिन्धु है वह पंजाब की वर्तमान सिन्धु कदापि नहीं। लोकमान्य तिलक भी पंजाब की पाँच नदियों को सप्तसिन्धु देशान्तर्गत नहीं मानते क्योंकि ऋग्वेद (१।३२।१२, १।१०२।२, १।१६१।१४, २।१२।१२, ६।७।६) में जहाँ-जहाँ सप्तसरिताओं का वर्णन है, वहाँ कहीं भी सिन्धु नदी का नाम नहीं आया है। केवल सात नदियों का ही उल्लेख है। ऋग्वेद (१।३२।१२) में सिन्धु शब्द अवश्य है परन्तु वह भी स्पष्टतः नदी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन मंत्रों के अतिरिक्त (ऋ० ६।६१।१२, ८।८५।१, ६।६।४, १०।४३।३, १०।६४।८ में) जिन सातों सरिताओं का उल्लेख है, उन सबमें भी कहीं सिन्धु का नामोल्लेख नहीं है। वहाँ पर आचार्य सायण ने 'सिन्धु' शब्द की सर्वथा उपेक्षा कर, केवल गंगा का ही प्राचीन परम्परा प्राप्त अर्थ किया है। इससे यह स्पष्ट है कि आचार्य सायण के समय (सन् १४०० ई० तक) पंजाब की सिन्धु, सप्तसिन्धु की सप्तसिन्धुओं में सम्मिलित नहीं थी, वरन् सायण और उसके पूर्वकालीन वेद-भाष्यकारों के मतानुसार, आर्यों का वह सप्तसिन्धु देश गंगा का वह क्षेत्र था जहाँ अलकनंदा (गंगा) नदी के साथ, उसकी सात, इक्कीस, नब्बे तथा निन्यानवे सहायक सरिताएँ संधि करती हैं और यह निर्विवाद तथ्य है कि आचार्य सायण के पूर्व समस्त वेद-भाष्यकारों ने सिन्धु शब्द का अर्थ गंगा किया है, और सप्तसिधु की सात सरिताओं में देव-नदी गंगा को ही प्रमुखता दी है; क्योंकि आचार्य सायण ने प्राचीन भाष्यकारों के अनुकूल परम्परा-प्राप्त ऋग्वेद के मंत्रों का अर्थ किया है।

यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि ऋग्वेद के '**सरस्वती स्तवन**' (६।६१।१२।) में भी जहाँ सरस्वती को गंगा आदि सप्त सरिताओं से युक्त कहा गया है, सिन्धु का नाम नहीं आया है। (ऋ० ६।६।४ में) भी सरस्वती के बाद गंगा आदि सात नदियों का ही उल्लेख है। सिन्धु नदी का नाम-निर्देश नहीं। गंगा और सरस्वती देवनदी कहलाती हैं परन्तु पंजाब की सिन्धु को कोई देवनदी नहीं कहता। वस्तुतः पुराणों में अलकनंदा को स्वर्ग से गिरनेवाली सप्तधाराओं से युक्त कहा गया है। अतः उसका नाम सप्तसिन्धु उचित ही है।

ऋग्वेद के प्रसिद्ध '**नदी सूक्त**' के प्रथम मंत्र के अनुसार सिन्धु त्रिपथगा है, परन्तु पंजाब की सिन्धु को आज कोई 'त्रिपथगा' नहीं कहता, वरन् त्रिपथगा गंगा का नाम है।

'**नदी सूक्त**' के मंत्र २ के अनुसार अलकनंदा (गंगा) भारत की सबसे बड़ी, सर्वाधिक पूज्य, और सब सरिताओं के ऊपर, जैसा मंत्र में कहा गया है, विराजमान

है। मंत्र ३ अनुसार उसके घोर गर्जन-तर्जन से ऐसा विदित होता है कि आकाश से घोर वृष्टि हो रही है ; क्योंकि सप्तसिन्धु पर्वत प्रदेश था। वहाँ अलकनंदा के समान बडी नदी का गर्जन-तर्जन की प्रचंडता निर्विवाद है। मंत्र ४,५,६, के अनुसार वह सप्त, त्रिसप्त, ९० और ९९ नदी-नालों से संधि करती हुई आगे बढ़ती है। मंत्र ७ के अनुसार वह नदियों में सबसे अधिक वेगवती है। मंत्र ८ के अनुसार वह हिरण्यगर्भा (स्वर्ण जिस नदी से निकलता है), नित्य तरुणी, मधुवर्द्धक एवं सदैव भाँति-भाँति के पुष्प-समूहों से आच्छादित रहती है। इसी के तट पर अलकापुरी का प्रसिद्ध नन्दन कानन प्राकृतिक पुष्पोद्यान है।

ऋग्वेद के प्रकांड पंडित श्री हरिराम धस्माना ने अलकनंदा को ऋग्वैदिक सिन्धु घोषित करके, जिस ऐतिहासिक अस्पष्टता का निराकरण किया है, वह सर्वथा युक्तियुक्त है। उनके कथनानुसार अलकनंदा का नाम सरयू भी है। उसी को अलाक्ता और शतुद्री भी कहते हैं। उनके कथनानुसार अलकनंदा में सप्त सरिताओं में सबसे प्रथम सरस्वती, जिसका भौगोलिक अस्तित्व एवं ऋग्वैदिक नामपूर्वकत्व आज भी सुरक्षित है, सर्व प्रथम संधि करती है। उसके बाद नीति घाटी से निकलने वाली नितभा, जिसको प्रियमेघ ने (ऋ० १०।७५।६) श्वेतया (धवली) कहा है और जिसको (ऋ० ८।२६।१८, १९) में श्वेतयावरी एवं 'केदारखंड' में श्वेत गंगा कहा है, अलकनंदा में संधि करती है। रसा (ऋ० ५।५३।९, १०।७५।६) ही नंदाकिनी है, जो नंदप्रयाग में गंगा से मिलती है। क्रमु 'कूर्मांचल' से निकलने वाली पिंडर नदी है, जो कर्णप्रयाग में गंगा से मिलती है। कुभा का नाम मंदाकिनी भी है, उसके तट पर वैदिक ऋषि कुम्भज (अगस्त्य-मुनि) का आश्रम था, जो आज भी अगस्त्यमुनि के नाम से प्रसिद्ध है। यह कुंभा रुद्रप्रयाग में गंगा से संधि करती है। भागीरथी देवप्रयाग में अलकनंदा (गंगा) से मिलती है। पुरिष्णी और स्वस्ता पूर्वी और पश्चिमी नयार हैं, जो व्यासघाट में गंगा से मिलती हैं।

● ●

ऋग्वैदिक सरस्वती

वैदिक साहित्य में सरस्वती नदी का सप्तसिन्धु में सबसे अधिक आदरणीय स्थान है। ऋग्वेद में लगभग ४० बार इसका नामाल्लेख है। ऋग्वेद के कई सूक्तों में बृहद्देवता के रूप में भी सरस्वती का स्तवन है। इसका स्पष्टतः अर्थ यह है कि सरस्वती का तटवर्ती प्रदेश ऋग्वैदिक आर्यों का क्रीड़ास्थल था। यह सर्व सम्मत तथ्य हैं कि वैदिक आर्यों की दृष्टि में सरस्वती के प्रति वही श्रद्धा-भक्ति थी, जो उत्तर वैदिक युग में गंगा जी को प्राप्त हुई। मैक्समूलर लिखते हैं कि इसमें सन्देह नहीं कि आर्य लोग गंगा से भी अधिक सरस्वती को मानते थे। डाक्टर सम्पूर्णानन्द 'आर्यों का आदि देश' में लिखते हैं :

"आजकल हिन्दुओं में गंगा और यमुना का महत्व है। गंगा का माहात्म्य अन्य सभी नदियों से बढ़ा-चढ़ा है। गंगा इस लोक में अभ्युदय और मृत्यु के उपरान्त मोक्ष देती है। 'गंगा, गंगा' ऐसा पुकारने से ही सद्गति प्राप्त होती है। गंगा-तट से सौ योजन (चार सौ कोस) पर पड़ा हुआ व्यक्ति भी गंगा को पुकारने से विष्णुलोक को जाता है। वैदिक काल में यह बात नहीं थी। उन दिनों सिन्धु नदी और सरस्वती का ही यशोगान होता था। उन्हीं के तट पर आर्यों की बस्तियाँ थी और ऋषियों के तपोवन थे। सरस्वती, जो किसी समय महानदी थी, आज एक छोटी-सी नदी रह गयी है। वह राजपूताने की रेत में जाकर समाप्त हो जाती है। अब सरस्वती नाम तक का लोप हो गया है। घग्घर नाम रह गया है, जो दृषद्वती के लिए भी आता है। हिन्दू लोग अपने चित्त को यों संतोष देते हैं कि सरस्वती की गुप्तधारा प्रयाग में त्रिवेणी-संगम पर विद्यमान है।"

'हिन्दी-ऋग्वेद' की भूमिका (पृ० ५१) में पं० रामगोविन्द त्रिवेदी लिखते हैं—"सरस्वती का उत्पत्ति-स्थान मीरपुर पर्वत माना गया है। अनेकों के मत से कुरुक्षेत्र के पास सरस्वती बहती थी और वह पटियाला राज्य में विलुप्त हो चुकी है। बहुतों की राय में सरस्वती बीकानेर की मरुभूमि में लुप्त हुई है। परन्तु पुराणों के अनुसार सरस्वती पृथ्वी के भीतर-ही-भीतर आकर प्रयाग में गंगा और यमुना के साथ मिल गयी है। इन्हीं तीनों का नाम त्रिवेणी है।" हिमालय से निकलने वाली सदानीरा सरस्वती को पृथ्वी से लोप हो जाने की कल्पना, उपहासास्पद है।

जिस देवनदी सरस्वती का ऋग्वैदिक सप्त सिन्धुओं में सर्वाधिक महत्व है।

ऋग्वेद में जिस नदी का लगभग ४० वार उल्लेख है। जो आर्यों के सप्तसिन्धु की, सप्तस्वसाओं में सबसे ज्येष्ठ, पर्वतों को खंड-खंड करनेवाली, प्रखर प्रवाहिणी और परम पूज्य देवनदी है। उसी के सम्बन्ध में जब प्रायः इतिहासकारों का मत इस प्रकार विवादास्पद है। जब अभी तक उस सरस्वती के भौगोलिक अस्तित्व के सम्बन्ध में, उनका ज्ञान और अन्वेषण इतना अनिश्चित और अस्पष्ट है, तो ऋग्वैदिक सिन्धु और आर्यों के सप्तसिन्धु देश के सम्बन्ध में, उनके निष्कर्ष तथ्य-पूर्ण एवं अविवादास्पद हैं, इसमें सन्देह है।

वैदिक सिन्धु यदि पंजाव की सिन्धु है तो वैदिक संस्कृति की अनुयायी आर्य-सन्तति द्वारा वह आज क्यों उपेक्षित हो गयी ? उसके तट पर, उसके तटवर्ती क्षेत्र में, वैदिक शास्त्रानुमोदित आर्यों के प्राचीन तीर्थ स्थान, तपोवन तथा अन्य आध्यात्मिक स्मारक डाक्टर सम्पूर्णानन्द के उपर्युक्त कथनानुसार क्यों नहीं है ? वैदिक सिन्धु और सरस्वती के स्थान पर गंगा नदी कव और क्यों प्रतिष्ठित हुई ? आर्य-सन्तति द्वारा, पंजाव की सिन्धु और सरस्वती क्यों इतनी उपेक्षित और विस्मृत हो गयीं ? इसके सम्बन्ध में इतिहासकार मौन हैं। वस्तुतः पंजाब में इतिहासकारों को सिन्धु नाम की एक बड़ी नदी प्राप्त हो गयी। इस सिन्धु नदी ने उनका ध्यान एक बार जिस दिशा की ओर केन्द्रित कर दिया था, वे वहाँ से इधर-उधर नहीं जा सके और उसी के आस-पास अपने आर्यावर्त्त में ही ब्रह्मावर्त्त की सप्तसिन्धु और ऋग्वैदिक सरस्वती का भी अन्वेषण करते रहे हैं, तथा वहाँ सरस्वती, सरयू, गोमती आदि अन्य ऋग्वैदिक नदियों के अभाव में उनके अस्तित्व की स्थापना के लिए भी अनेक निराधार कल्पनाएँ करते रहे हैं।

ऋग्वेद (७।३६।६) में सरस्वती को सिन्धु की भी माता कहा गया है। उसको अंवितमा (माताओं में श्रेष्ठ) तथा सप्तसिन्धु की सरिताओं में शीर्ष स्थान पर बहने वाली, सबसे जेष्ठ कहा (नदीतम) गया है (ऋग्वेद, २।४१।१६, ६।६१।१०)। प्रथम मंडल के तीसरे सूक्त के मंत्र १०, ११ और १२ के अनुसार नदियों द्वारा सप्तसिन्धु में जो जल-राशि है उसकी उत्पादक स्पष्टतः सरस्वती बतायी गयी है। उसको (गंगा और सिन्धु की भाँति) त्रिलोकव्यापिनी (त्रिपथगा) अर्थात् पृथ्वी, आकाश और द्यु-लोक में बहने वाली कहा गया है (ऋ० ६।६१।१२)।

उत्तराखंड में बदरी क्षेत्र से निकलने वाली सरस्वती नदी अलकनन्दा (गंगा) और उससे मिलने वाली धौली, नंदाकिनी, पिंडर, मंदाकिनी, भागीरथी और नयार आदि अन्य सप्तसरिताओं में सबसे ऊपरी धारा, सबके शीर्षस्थान पर है। इन सप्त सिन्धुओं की सबसे ऊपरी धारा होने के कारण, वह अंवितमा, नदीतमा और स्पष्टतः सप्तस्वसा सुजुष्ठा ही नहीं, वरन् सबकी जननी भी है; सिन्धु

(अलकनंदा) की भी माता है । इस प्रकार अलकनंदा (गंगा) में मिलने वाली इन सब सप्त सरिताओं में जो जलराशि है, सरस्वती उसकी उत्पादक, जननी स्वयं सिद्ध है । अलकनन्दा सरस्वती का विशाल रूप है । जल के परिमाण से वह सबसे बड़ी नदी है, । उसमें सरस्वती के बाद, इस क्षेत्र की अन्य अनेक नदियाँ, जिनको यहाँ सर्वत्र गंगा ही कहा जाता है, संधि करती हैं । अतः उसका ऋग्वैदिक नाम सिन्धु और सरस्वती तथा पौराणिक नाम गंगा सर्वथा उपयुक्त है ।

सरस्वती इन सप्तसिन्धुओं की सबसे ऊपरी धारा होने के कारण सबसे प्रथम है । गंगा और भागीरथी तथा गढ़वाल की अन्य अनेक गंगाओं का जल भी सम्पूर्णतः उसमें विलीन है । अतः ऋग्वेद काल में सिन्धु और सरस्वती का जल जिस प्रकार पूजित और प्रतिष्ठित था, उसी प्रकार अपने उद्गम स्थल से आगे गंगा के नाम से, उसका पावन जल आज भी आर्य-संतति द्वारा यदि पूजित और प्रतिष्ठित है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है । ऋग्वेद में सरस्वती, सिन्धु और गंगा को जो त्रिपथगा कहा गया है, उससे हमारे मत की पूर्णतः पुष्टि हो जाती है । आज तक इन तीनों देवनदियों का जल, स्थान और अध्यात्मिक महत्व अपरिवर्तित है । वस्तुतः जब आर्य सप्तसिन्धु (गढ़वाल) में थे तो सिन्धु (अलकनन्दा) की सहायक नदियों को पृथक्-पृथक् देखते और उन्हें पृथक्-पृथक् नाम से पुकारते थे । जलप्लावन में विष्णुप्रयाग से नीचे आर्यों के सप्तसिन्धु की समस्त नदियों के संधिस्थल प्रलय-जल में विलीन हो गये थे केवल उनके सबसे ऊपर शीर्ष स्थान पर बहने वाली सरस्वती और उसका उन्नत तटवर्ती प्रदेश उनके सम्मुख था अतः वे वहाँ अपने समस्त निवास काल में, सप्तसिन्धु के स्थान पर सरस्वती और उसके तटवर्ती प्रदेश ब्रह्मावर्त्त को ही सब कुछ समझने लगे थे । परन्तु देवासुर संग्राम के बाद, जलप्लावन के अवतरण पर, जब वे ब्रह्मावर्त्त से बाहर, आर्यावर्त्त में आकर बस गये तो उन्होंने वहाँ सरस्वती, सिन्धु और गंगा तीनों को एक सम्मिलित रूप में पाकर उसको देवनदी गंगा या गंगाजल के रूप में स्मरण किया। ब्रह्मावर्त्त से जाने के बाद, गंगा के मैदान में बसने वाले नये-नये आर्य ग्रंथकार सरस्वती के भौगोलिक अस्तित्व के सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएँ करने लगे ।

पंजाब एवं कुरुक्षेत्र की सरस्वती ऋग्वेद के कथनानुसार सिन्धु-माता नहीं है । वह पंजाब की सप्त सरिताओं के जल की उत्पादक नहीं है । वह पंजाब की सप्त सरिताओं में सबसे ऊपर शीर्षस्थान पर नहीं है । वह पर्वतों को खंड-खंड कर बहने वाली प्रखर प्रवाहिनी नहीं है । उसके जल की पवित्रता अप्रामाणिक है । मनु कहते हैं कि सरस्वती नदी के दूसरी ओर म्लेच्छों का देश है; परन्तु पंजाब की सरस्वती के दूसरी ओर म्लेच्छों का देश नहीं है (मनु २।२३) ।

ऋग्वेद (३।२३।४) में अग्निदेव का स्तवन करते हुए, उनसे दृषद्वती, आपया

और सरस्वती के तटों पर रहने वाले मनुष्यों के घरों को दीप्त करने के लिये प्रार्थना की गयी है। श्री रामगोविन्द त्रिवेदी 'हिन्दी ऋग्वेद' में राजपूताने की सिकता में विनष्ट घग्घर नदी को दृषद्वती, आपया को कुरुक्षेत्रस्थ नदी, और सरस्वती को कुरुक्षेत्रीय सरस्वती घोषित करते हैं। कुरुक्षेत्र तथा राजपूताने के उष्ण प्रदेशों में विलीन नदी तटों पर रहने वालों के लिये भी, अग्नि का महत्व है; परन्तु हिमाच्छादित पर्वत प्रदेश के निवासियों को अग्नि बारहों महीने, रात और दिन, जितनी मंगलमय, अभीष्ट फलदायक, पूजनीय और नमस्कार योग्य है, उतनी किसी को नहीं। इसीलिए दूसरे मण्डल के लगातार २६ सूक्तों में नहीं, वरन् ऋग्वेद में अग्निदेव की प्रार्थना के लिए सबसे अधिक सूक्तों की रचना हुई है। ऋग्वेदकाल में कुरुक्षेत्रस्थ नदी-तटों पर आर्य-निवासों की सम्भावना भी नहीं थी। इससे स्पष्ट है कि मंत्रों का उद्देश्य, हिमालय के शीत-प्रधान प्रदेशों में प्रवाहित नदी-तटों पर रहने वालों से हैं। त्रिवेदी जी ने इस मंत्र के प्रथम भाग में लिखा है कि 'हे अग्नि ! सुदिन की प्राप्ति के लिये पृथ्वी के उत्कृष्ट स्थान में हम तुम्हें स्थापित करते हैं।' पृथ्वी का उत्कृष्ट स्थान, स्पष्ट है कि कुरुक्षेत्र नहीं, वरन् सर्वोच्च पर्वतीय प्रदेश में ही है।

ऋग्वेद (७।६१।१२) के अनुसार गंगा आदि सप्त सरिताओं से युक्त-सरस्वती की पंजाब की पाँच नदियों के साथ की कल्पना निराधार है। इससे यह प्रमाणित होता है कि सप्त भगिनियों से युक्त सरस्वती सिन्धु में गिरती थी, समुद्र में नहीं। सरस्वती को कुमारिका नदी भी कहते हैं, क्योंकि वह अपने स्थान से निकल कर सीधे समुद्र में नहीं गिरती। हिमालय से नीचे निकृष्ट स्थानों में उसका प्रवेश अप्रमाणित है (ऋ० ७।६१।१४); क्योंकि सरस्वती ही गंगा की सब भगिनियों में जेष्ठ है, इस दृष्टि से इस भाव में गंगा के नाम से सरस्वती का समुद्र में गिरने का अर्थ भी निहित है; क्योंकि गंगा गढ़वाल में सर्व प्रथम सरस्वती के नाम से, फिर अलकनन्दा के नाम से, और गढ़वाल से बाहर केवल गंगा के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार गंगा की सहायक नदियों में सबसे जेष्ठ होने के कारण, उसी के पावन जल में आगे चलकर सप्त सरिताएँ भी क्रमशः संधि करती हैं। इसीलिए कुछ विद्वानों का यह अनुमान है कि सरस्वती को ऋग्वेद में सिन्धु भी कहा गया है, सर्वथा युक्तिसंगत है।

'सरस्वती सूक्त' (मण्डल ६, ६१ सूक्त के समस्त १४ मंत्रों) में १७ वार सरस्वती नाम आया है, परन्तु किसी भी मंत्र में सरस्वती के साथ सिन्धु का उल्लेख नहीं है, क्योंकि आगे चलकर सप्त सरिताओं के संयोग से स्वयं सरस्वती ही सिन्धु बन जाती है। इसी सूक्त के मन्त्र १२ में आचार्य सायण ने उसको त्रिलोकव्यापिनी गंगा आदि सप्त सरिताओं से युक्ता कह कर, उसके साथ गंगा

का जो नाम दिया है वह अकारण नहीं है। उससे भी गंगा (अलकनन्दा) के साथ सरस्वती की भौगोलिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार प्राचीन आर्यों द्वारा सरस्वती जिस नैतिक एवं आध्यात्मिक स्थान पर प्रतिष्ठित थी, उनकी सन्तति द्वारा वह आज भी गंगा जी के नाम से अपने उसी मूलस्थान पर प्रतिष्ठित है।

सरस्वती नदी के इस पावन क्षेत्र का समस्त वेदज्ञ विप्रों को ज्ञान था। समय-समय पर वेदमाता सरस्वती के पावन तट पर, इसी बदरीनाथ और नर-नारायण आश्रम में आर्य-ऋषियों का आवागमन इस क्षेत्र की विशेष आध्यात्मिक महत्ता का सूचक है। इसी देवनदी के पावन तट पर (ऋग्वेद मण्डल ६, सूक्त ३५, ३६) ऋषि नर और ऋषि नारायण का आश्रम था। इस स्थल पर कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने वेद की चारों संहिताओं का संकलन कर, अपने चारों शिष्यों, पैल को ऋग्वेद, जैमिनी को साम, वैशम्पायन को यजु तथा सुमन्तु को अथर्व का अध्ययन कराया था। यहीं अरणीसुत शुक भी रहते थे। इसी के तट पर शांडिल्य ने नारद आदि को शात्वत शास्त्र का उपदेश दिया था। इसके पावन क्षेत्र में भगवान् कृष्ण ने सायंगृह मुनि होकर दस हजार वर्ष तक निवास किया था। इसी क्षेत्र में 'वेदिनी बुग्याल' नामक प्रसिद्ध चरागाह भी है, जिसके नाम के साथ प्राचीन काल से वेदों के संकलन की जनश्रुति जुड़ी हुई है। हो सकता है कि यह चरागाह ऋग्वैदिक आर्यों का भी चरागाह रहा हो। इस दृष्टि में विद्वानों का यह अनुमान कि सरस्वती के तटवर्ती क्षेत्र में ही वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हुई है, असंगत नहीं है।

ऋग्वेद के '**कौषीतकी ब्राह्मण**' (७।६। में वर्णन है कि उत्तरी भू-भाग में, वाणी की देवी सरस्वती का वास है। इसीलिए सरस्वती के अध्ययन के लिए जो लोग वहाँ जाते हैं उनका उपदेश लोग श्रद्धापूर्व सुनते हैं। सरस्वती नदी का यह तटवर्ती भू-भाग अष्ठ वसुओं, सप्त ऋषियों का तपस्थान और वैवस्वत मनु का भी शरणस्थल था। इसीलिए आर्यों ने इस भूमि को स्वर्ग भी कहा है। देवनदी सरस्वती का यह पावन क्षेत्र प्राचीन आर्यों के अनेक यज्ञ-यागों की देवभूमि है।

ऋग्वेद (६।६१।२) में सरस्वती को अपनी प्रबल और वेगवाती तरंगों से ऊँचे पर्वतों को तोड़नेवाली तथा दोनों तटों का विनाश करनेवाली बताया गया है। 'नदी रूप में प्रकट हो कर सरस्वती ने अपनी वेगवाती और विशाल तरंगों से ऊँचे पर्वतों को इस प्रकार विदीर्ण कर दिया है, जिस प्रकार जड़ों को खोदने वाले मिट्टी की ढेरों और टीलों को तोड़ डालते हैं। आओ! हम अपनी रक्षा के लिए, स्तुति और यज्ञ द्वारा दोनों तटों का विनाश करने वाली इस सरस्वती

की परिचर्या करें।'

इसी सूक्त के मंत्र ७ में सरस्वती को भीषण, हिरण्यमय रथ पर आरूढ़ और शत्रुघातिनी कहा गया है। मंत्र ८ में उसको अपरिमित, अकुटिल, दीप्त और अप्रतिहत-गति, जलवर्षक-वेग एवं प्रचंड शब्द कर विचरने वाली बताया गया है। प्रचंड शब्द कर बहने वाली होने के कारण पुराणों में सरस्वती को गंगा की सौत कहा गया है।

ऐसी प्रखर प्रवाहवाली एवं प्रचंड शब्द कर बहनेवाली सरस्वती नदी का अस्तित्व समतल पंजाब-प्रांत में, राजपूताने एवं कुरुक्षेत्र में तथा प्रयागराज में स्थापित करना उपहासास्पद है।

ऋग्वैदिक सरस्वती के भौगोलिक अस्तित्व की पुष्टि में हम सरस्वती के अन्वेषकों का ध्यान महापंडित राहुल सांकृत्यायन-रचित **'हिमालय-परिचय'** (१। पृष्ठ १३) की ओर भी आकर्षित करते हैं। वे स्वयं सरस्वती-तट पर उपस्थित होकर, लिखते हैं कि—"गंगा की मुख्य धारा यद्यपि गंगा को माना जाता है परन्तु जल की मात्रा एवं लम्बाई को देखने पर अलकनंदा और उसकी भी ऊपरी धारा सरस्वती को, जो माना जोत से निकलती है, गंगा जानना होगा। भारत की सबसे पुनीत नदी का उद्गम-स्थल होने से, केदारखंड की महिमा अधिक होनी ही चाहिए।" राहुल जी पुनः (पृष्ठ ४७९ में) लिखते हैं—"माना गाँव से आगे सरस्वती (अलकनंदा की सबसे बड़ी और सबसे ऊपरी शाखा) पर एक चट्टान पुल की तरह पड़ी हुई है। लोगों ने इसका नाम भीमसेन का पुल रख लिया है। एक ऐसा ही पुल कुछ दूर आगे भी है। तिब्बत का रास्ता सरस्वती के किनारे-किनारे जाता है। सरस्वती के उस पार तिब्बत 'हूणदेश' है।" राहुल जी की इस घोषणा में जहाँ सरस्वती की प्रखरता एवं गंगा की सबसे ऊपरी धारा होने की पुष्टि होती है, वहाँ उनके इस कथन से मनु के उस कथन को कि सरस्वती के उस पार म्लेच्छों का देश है (म्लेच्छ देशस्ततः परः) इस की भी पुष्टि हो जाती है, तथा इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वैदिक सरस्वती ही आज गंगा नाम से विख्यात है। राहुल जी ने 'कुमाऊँ' (पृ० २६) में भी शब्दशः अलकनंदा के प्रति यही उद्गार प्रकट किये हैं।

सारांश यह है कि ऋग्वेद में चित्रित सरस्वती अपनी प्रखर-तरंगों से आज भी उसी प्रकार पर्वत-तटों को विदीर्ण कर, मिट्टी के ढेरों और चट्टानों को पूर्ववत् खंड-खंड करती हुई बह रही है। जिसके द्वारा प्रवाहित इतने विशाल प्रस्तरखंड उसके ऊपर पुल का काम दे रहे हों, उसका रौद्र रूप एवं प्रचंड प्रवाह स्पष्ट है। पर्यटकों को बधिर कर देने वाला उसका गर्जन-तर्जन वहाँ आज भी

ज्यों-का-त्यों है। इसीलिए पुराणों में लिखा है कि गंगा और सरस्वती दोनों सौत हैं। श्री हरि ने झगड़ती हुई गंगा और सरस्वती का हाथ पकड़ कर दोनों को प्रेमपूर्वक अपने समीप बैठा लिया (**देवी भागवत**, सप्तम स्कन्ध, अ० ६)। केशवप्रयाग अलकनंदा (गंगा) और सरस्वती के संगमस्थल पर, ऊपर से परस्पर झगड़ती हुई दोनों सरिताएँ शान्त हो जाती हैं, यह स्पष्ट है (**केदार** ५८।६६)।

'महाभारत' (शल्य पर्व) में सात सरस्वतियों का उल्लेख है, जिनमें दो विशाला और विमलोदका हिमालय की उपत्यकाओं में बहती हैं। विशाला के निकट बहनेवाली यही सरस्वती है। '**महाभारत**' में अर्जुन ने बदरीकाश्रम में सरस्वती के तट पर स्पष्टतः भगवान् कृष्ण द्वारा, बारह वर्ष कठिन तपस्या करने का उल्लेख किया है।

'**महाभारत**' (वन पर्व १११।१०,११ तथा १६१।४३,५१) के अनुसार कैलास में, गन्धमादन पर्वत पर सरस्वती का अभिषेक किया गया था। शल्य पर्व (२७।२८,३१) में स्पष्टतः इसी सरस्वती नदी के तट पर कुबेर द्वारा कुबेरतीर्थ में देवत्व प्राप्त करने का उल्लेख है। भीष्म पर्व (६।२८,५०), में लिखा है कि ब्रह्मलोक से उतर कर त्रिपथगामिनी गंगा सात धाराओं सप्तसिन्धुओं में विभक्त हुई। इन सातों में सिन्धु और अलकनंदा व सरस्वती सम्मिलित हैं। '**महाभारत**' (आदि पर्व १६।१६,२१) और (भीष्म पर्व ६।४८) में लिखा है कि सरस्वती गंगा की सात धाराओं में एक है। उसके जल पीने से पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। भीष्म पर्व (६।१४) के अनुसार सरस्वती उन पवित्र देवनदियों में एक है, जिनका जल भारतवासी पीते हैं। यह स्पष्ट है कि भारतवासी गंगा-जल पीते हैं, जो स्वयं सरस्वती नदी भी है। प्रयागराज में, कुरुक्षेत्र में तथा राजपूताने की मरुभूमि में सरस्वती नदी का जल जो इतिहासकारों को अब तक दिखायी तक नहीं दिया; भारतवासी नहीं पीते। सरस्वती ब्रह्मसर में प्रकट होती है, (शल्य पर्व ४२।२६)। सरस्वती और अलकनंदा के संगम पर (केशवप्रयाग) में देवता भगवान् केशव की उपासना करते हैं (वन पर्व ८२।१२५,१२७)। ऋग्वैदिक सरस्वती की इस भौगोलिक स्थिति को पूर्णतः स्पष्ट करने के लिए, भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास का प्रमाण भी पर्याप्त है। वे प्रसिद्ध 'व्यासगुफा' में बैठकर '**महाभारत**' (जयकाव्य) का आरम्भ करते हुए, इस क्षेत्र के मुख्य-मुख्य अधिष्ठाताओं, ऋषि नर और नारायण, एवं पास बहती हुई, इस पुण्यतोया सरस्वती नदी को सर्वप्रथम नमस्कार करते हुए लिखते हैं :

नारायणं नमस्कृत्य नरंचैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

प्रयागराज, कुरुक्षेत्र, पंजाब एवं राजपूताने में प्रवाहित अदृश्य सरस्वती के तट पर व्याससेवित नर और नारायण का आश्रम कहाँ है ?

१–गढ़वाल की सरस्वती अत्यन्त शीतप्रधान प्रदेश में बहती है। २—वह (सप्त स्वसा सुज्येष्ठा) सप्त सरिताओं में सबसे शीर्ष स्थान पर है। ३—वह ब्रह्मावर्त्त की सीमान्त नदी है। ४–उसके दूसरी ओर म्लेच्छ देश है। ५—वह सप्त- सिन्धुओं के जल की उत्पादक, सिन्धु माता है। ६—वह प्रखर प्रवाहिनी है। ७—उसके तटवर्ती क्षेत्र केदारखंड-बदरीकाश्रम का आज भी प्राचीन आध्यात्मिक महत्व पूर्ववत् सुरक्षित है। ८—वह त्रिपथगा है। गंगाजल के नाम से आज भी उसका जल सर्वत्र आर्य-संतति द्वारा, उसी प्रकार पूजित और प्रतिष्ठित है।

सरस्वती और अलकनन्दा के संगम स्थल केशवप्रयाग तक, जल के परिमाण एवं लम्बाई के अनुपात से सरस्वती अलकनन्दा से बड़ी नदी है। इस दृष्टि से सरस्वती अलकनन्दा से संधि नहीं करती, वरन् अलकनन्दा सरस्वती में संधि करती है। राहुल जी **'हिमालय परिचय'** (१) (पृ०४६६) से लिखते हैं—"यदि किसी नदी की मुख्य शाखा वही हो सकती है जो सबसे बड़ी लम्बी हो और जिसमें पानी अधिक आता हो तो इसमें सन्देह नहीं कि हमारी गंगा की मुख्य धारा अलकनन्दा है, और माना के पास मिलने वाली दो धाराओं में भी **अलकनन्दा (मुख्य धारा) नहीं, बल्कि सरस्वती को मुख्य धारा मानना पड़ेगा,** जो कि माना डांडे से आती है।"

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि सरस्वती मुख्य नदी है और अलकनन्दा (गंगा) गौण है। इसीलिए ऋग्वेद में, सबसे अधिक ४० बार सरस्वती का उल्लेख किया गया है और गंगा का गौण; क्योंकि सबकी माता सरस्वती है और उसी में अलकनन्दा-गंगा आदि सप्त सरिताओं का जल विलीन हो जाता है।

सरस्वती नदी के भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं आध्यात्मिक महत्व के प्रतिपादन में हम इससे पूर्व कई ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का मत उद्धत कर चुके हैं। भगवान् मनु ने **'मनुस्मृति'** में सरस्वती के भौगोलिक अस्तित्व के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसका भी उल्लेख यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा। मनु **'मनुस्मृति'** में लिखते हैं कि देवनदी सरस्वती और दृषद्वती के बीच ब्रह्मावर्त्त देश है। सरस्वती उसकी उत्तरी सीमा पर और दृषद्वती दक्षिण में बहती है। दृषद्वती की भौगोलिक स्थिति, एवं उसकी प्रामाणिकता अस्पष्ट एवं विवादास्पद है। इतिहासकारों द्वारा सरस्वती की भाँति दृषद्वती की स्थापना केवल अनुमान पर आधारित है। यह अधिक सम्भव है कि वह दक्षिण गढ़वाल में, हरिद्वार के आस-पास बहने वाली कोई नदी हो। **'लाट्यायन श्रौतसूत्र'** के अनुसार इसका

उद्गम पर्वत पर है। यह वर्षावहा नदी थी और सरस्वती की सहायक। इससे स्पष्ट है कि वह हिमाच्छादित पर्वत से नहीं, वरन् दक्षिण गढ़वाल में हरिद्वार से ऊपर किसी पर्वत-शिखर से निकलती थी। उसका भी उद्गम स्थल देवनिर्मित देश में था, क्योंकि मनु ने उसको भी देवनदी कह कर सम्मानित किया है। मनु के कथनानुसार इन दोनों नदियों के बीच का देश-देव-निर्मित देश ब्रह्मावर्त्त था :

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥

मनु के कथनानुसार कुरुक्षेत्र से ऊपर देवनिर्मित देश ब्रह्मावर्त्त है, जिसकी उत्तरी सीमा पर देवनदी सरस्वती बहती है। उस देश की सीमा से बाहर म्लेच्छों का देश है। यह यज्ञदेश है। यहाँ का परम्परा से सदाचार प्रसिद्ध है। यहाँ से उत्पन्न ब्राह्मणों से पृथ्वी के सब मनुष्यों को सदाचार सीखना चाहिए :

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ।

इस प्रकार यह ब्रह्मावर्त्त देश, जिसकी वेद और पुराणों द्वारा अद्वितीय आध्यात्मिकता आज तक सर्वमान्य है, जहाँ आर्यों की देवनदी गंगा और सरस्वती आदि सप्त सरिताएँ प्रवाहित होती हैं, आर्यजाति की स्वर्गभूमि एवं उनकी परम पूजनीय योनि देवकृतं (ऋ० ३।३३।४) देश स्पष्टतः गढ़वाल है। यही ब्रह्मावर्त्त देश ब्रह्मा द्वारा निर्मित परम पूजनीय यज्ञदेश तथा आदि देश है। **'केदारखंड'** के कथनानुसार भी स्पष्ट है कि भगवान् ने ब्रह्ममूर्ति धारण कर सर्व प्रथम जिस देश की रचना की उसी का नाम ब्रह्मावर्त्त एवं केदारखंड है।

सारांश यह है कि सरस्वती ऋग्वैदिक काल से आज तक ज्यों-की-त्यों अपने आदि स्थान पर अवस्थित है। उसका प्राचीन स्थान और आध्यात्मिक मूल्य एवं गुण-गरिमा अपरिवर्तित है। ऋग्वेद के अनुसार वह आज भी उसी प्रकार सप्तसिन्धु अलकनंदा की जलराशि की उत्पादक है, सिन्धु की माता है, प्रखर प्रवाहिनी है, सप्त स्वसाओं में सबसे प्रथम, सबसे ऊपर शीर्षस्थान पर है। वह आज भी इस देवनिर्मित देश, ब्रह्मावर्त्त की सीमान्त नदी देवनदी है, जिसके उस पार म्लेच्छ देश हूणदेश है। जिसके पावन तट पर भोजपत्र के वृक्षों का वन है, जिनकी छाल या पत्रों पर प्राचीन आर्य-ऋषियों ने सर्व प्रथम अपने आदि-ग्रन्थों को लिपिवद्ध करने का प्रयत्न किया था। **'केदारखंड'** (४८।१) के अनुसार उस देवनदी के दर्शनमात्र से, उसकी एक-एक बूंन्द से पापियों के सब पाप नष्ट हो जाते हैं :—

अस्मिन्नेव महाक्षेत्रे सरस्वत्याश्च वैभवम् ।
यस्या दर्शनमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ॥

● ●

ऋग्वैदिक ऋषि और गढ़वाल

ऋग्वेद में लिखा है कि पर्वत-गह्वरों, पर्वत-उपत्यकाओं में सरिताओं के संगम-स्थलों पर बुद्धिमान् ऋषियों का जन्म हुआ (ऋ० ८।६।२८)। महीधर ने '**ऋग्वेद-भाष्य**' में उसका अर्थ स्पष्टतः पर्वतीय प्रदेश में गंगा तट पर किया है।

प्राचीन वैदिक आर्य-मनीषियों में स्थितप्रज्ञ सप्तर्षियों का स्थान सर्वोपरि है। अब तक छः मन्वन्तर हो चुके हैं, सातवां चल रहा है और आठवां अब आरम्भ होगा। इन आठों मन्वन्तरों में सब में सप्तर्षियों के नामों का उल्लेख है। ये प्रातःस्मरणीय ऋषि आर्य-जाति के पूर्वज, संरक्षक और अधिष्ठाता थे। समस्त वैदिक वाङ्मय उनके उच्चतम मौलिक चिन्तनों से ओतःप्रोत है। वेद उनकी तेजस्विनी वाणी है। उनके द्वारा पर्वत-उपत्यकाओं में सरिता-संगमों पर स्थापित अनेक आश्रम, उनकी विशेष विचार-धाराओं के प्रमुख शिक्षा-केन्द्र थे।

आदि स्वायंभुव मनवन्तर के सप्तर्षियों में मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ थे। '**महाभारत**' और पुराणों में लिखा है कि ये सातों ऋषि सदैव उत्तर दिशा में निवास करते थे (**केदार०** ६।७।)। हरिद्वार से चार मील दूर ऋषिकेश-मार्ग में सप्तर्षियों के आश्रम हैं। सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर में अत्रि, वशिष्ठ, गौतम, कश्यप, विश्वामित्र, भरद्वाज और यमदग्नि ऋषि के नामों का उल्लेख हैं। इनमें से भी प्रायः सब वेदों के मंत्रद्रष्टा ऋषि हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उत्तर वैदिक काल में सहस्रों वर्षों की दीर्घकालीन अवधि के पश्चात् भी, इन ऋषि नामों में अनेक आचार्यों का पुराण '**महाभारत**' और '**रामायण**' में अस्तित्व पाया जाता है, जो काल-क्रमानुसार असम्भव है। परन्तु यह एक निर्विवाद तथ्य है कि आश्रमों में प्राचीन ऋषि-कुल परम्परानुसार, आदि गुरु एवं प्रथम आचार्य के नाम से ही शिष्य-परम्परा प्रचलित है। कुलपति एवं प्रधानाचार्य के पद पर प्रतिष्ठित होने पर सारी शिष्य-परम्परा अपने आदि प्रवर्तक के नाम से ही (जो बाद को आश्रम की एक उपाधि बन गयी थी) सम्बोधित होती रही है। वस्तुतः प्रत्येक ऋषि कण्व, अत्रि, भृगु, वशिष्ठ अंगिरा, अगस्त्य, कश्यप, विश्वामित्र, भारद्वाज, इन्द्र और शिव एवं व्यास आदि आचार्यों की एक स्वतंत्र ऋषि-कुल-परम्परा स्थापित हो गयी थी, जिसमें दस हजार से अधिक तक ऋषि-पुत्र, पौत्र-प्रपौत्र एवं सैकड़ों शिष्य-प्रशिष्य सम्मिलित

होकर ज्ञानार्जन करते थे और उनका प्रधानाचार्य 'कुलपति' कहलाता था, जिस पर सारे ऋषि-कुल के भरण-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का उत्तरदायित्व रहता था।

यह ऋषि-कुल-परम्परा वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक, कई हजार वर्ष तक प्रचलित रही है।

प्राचीन भारत में उत्तराखंड भारत की तपोभूमि के नाम से भी प्रसिद्ध था। अनेक ऋषि-मुनियों ने इस भू-भाग में समय-समय पर तपस्या की है। इन ऋषि-मुनियों में कुछ ऐसे भी थे जो विशिष्ट विचारधाराओं के प्रवर्तक रहे हैं। इस प्रकार इनके द्वारा स्थापित आश्रम विविध शिक्षा-केन्द्र थे, जिनमें प्रत्येक अपनी विशेषता के लिए प्रसिद्ध था। इन आश्रमों में जीवन की विविध समस्याओं पर चिन्तन एवं मनन करते हुए यह ऋषि-मुनि उनके समाधान के सरल एवं सुगम मार्गों की खोज में व्यस्त रहते थे।

इन महत्वपूर्ण आश्रमों में लगभग प्रत्येक आश्रम में एक गद्दी की स्थापना भी की गयी थी, जिससे आश्रम का जीवन निरन्तर प्रवाहित होता रहे और आश्रम के संस्थापक ने जो ज्ञान अर्जित किया था उसका प्रसार निरन्तर होता रहे। यह गद्दी आश्रम के संस्थापक के नाम पर ही स्थापित की जाती थी। इस गद्दी को स्थायी रखने के लिए गुरु-शिष्य-सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता था।

हिमालय के इस क्षेत्र में, हरिद्वार से ऊपर, यत्र-तत्र पर्वत-उपत्यकाओं, गिरि-कन्दराओं एवं सरिता-संगमों पर उन प्राचीन आर्य-ऋषियों के अनेक स्मारक सुरक्षित हैं। सप्त सरिताओं के अतिरिक्त अनेक देव-नदियाँ जिस अलकनन्दा में सन्धि करती हैं, उन संधि-स्थलों पर वेद-वाणी प्रकट करने के लिये आर्य मनीषियों ने ऋषि-आश्रमों के अतिरिक्त अनेक पंच-तीर्थों (विष्णु प्रयाग, नंद प्रयाग, कर्ण प्रयाग, रुद्र प्रयाग और देव प्रयाग आदि पाँच प्रयागों) का सृजन किया। यद्यपि सन् १८०३ के भयंकर भूचाल एवं प्राचीन काल मे समय-समय पर हिमालय के अनेक भौतिक विप्लवों के कारण, गढ़वाल के वे प्राचीन ऐतिहासिक अवशेष अधिकांश समाप्त हो गये हैं; किन्तु वैदिक-विद्वानों, पुरातत्त्वान्वेषियों को खोज करने पर आज भी वेद और पुराणों द्वारा प्रतिपादित अनेक ऋषि-आश्रम, यज्ञ-वेदियाँ एवं अन्य ऐतिहासिक स्मारक सर्वत्र उपलब्ध हो सकते हैं। '**महाभारत**' (वन पर्व) में लिखा है 'कि हे सौम्य! यह शीतल और पावन जल वाली अलकनन्दा बह रही है। यह बदरीकाश्रम से ही निकलती है। देवर्षि-गण इसका सेवन करते हैं। आकाशचारी बालखिल्य और गंधर्व-गण इसके तट पर आते हैं। यहाँ मरीचि, पुलह, भृगु और अंगिरा आदि मुनि गण शुद्ध स्वर से सामगान किया करते हैं।' नन्दकारण्यवासिनी अलकनन्दा के तट पर ऋषियों द्वारा वेदवाणी प्रकटित हुई। इसीलिए गंगा को वेद माता

(केदार० ३८।३४) वेदान्तिनी, वेदगम्या, वेदान्तप्रतिपादिनी, वेदांतनिलया, वेदत्रयी वेदवदान्या (केदार० ३८।११) और वेदान्तिक जनप्रिया कहा गया है।

अंगिरा—ऋग्वेद के प्रसिद्ध ऋषि अंगिरा ब्रह्मा के मानसपुत्रों में से एक थे। वे अथर्वा अंगिरा के नाम से भी प्रसिद्ध है। इनके पुत्र बृहस्पति देवताओं के पुरोहित थे। इनका आश्रम अलकनन्दा गंगा के तट पर था (महा०, वन पर्व १४२।६)। ये छन्दवेद के गायक थे। अंगिराओं के लिए इन्द्र ने जिस क्षेत्र में गायों को खोज निकाला था, वह सुदृढ़ पर्वत-प्रदेश था (ऋ० ३।३१।५,६,७)। ऋषि अंगिरा ने सरस्वती नदी के इसी तटवर्ती शीलप्रधान प्रदेश में सर्व प्रथम अग्नि को प्रज्ज्वलित कर उत्पन्न किया था (ऋ० १।३१।१)।

कश्यप—मरीचि ऋषि के पुत्र और आर्य-नरेश दक्ष की, (जिनकी राजधानी कनखल थी) अदिति, दिति, कद्रू और विनता आदि तेरह कन्याओं के पति थे। ये उत्तर दिशा का आश्रय लेकर रहते थे (महा० १५०।३८।३९)। वहाँ इनसे देव और असुर एवं नागों की उत्पत्ति हुई। ये हरिद्वार में रहते थे इसीलिए अलकनन्दा क्षेत्र का (केदार० ३८।३५) स्तवन किया गया है। गालव को हिमालय की तराई में इनका आश्रम मिला था (महा० उद्योग १०७।३।१५)। ये गन्धमादन पर्वत पर भी तप करते थे (महा० आदि० ३०।१०) और बहुशास्त्रविद थे।

पुलह—ब्रह्मा के मानसपुत्रों में से एक थे, जो अलकनन्दा के तट पर तपस्या करते थे (महा० वन० १४२।६)।

यमदग्नि—भृगुपुत्र यमदग्नि ने गोवंश की रक्षा पर ऋग्वेद (मं० ८ सूक्त ९०) में १५, १६ मंत्रों की रचना की है। मं० ९ सू० ६२, ६५ में सोम पर भी उनके मंत्र हैं। ये आयुर्वेद के कर्त्ता और चिकित्साशास्त्र के भी पंडित थे और टिहरी गढ़वाल में उत्तरकाशी के निकट, नकुरी नामक स्थान में रेणुका सहित तपस्या करते थे। नकुरी में अपने पिता के आदेशानुसार परशुराम ने अपनी माता रेणुका का वध किया था और इस कठिन कार्य के फलस्वरूप जब यमदग्नि ने उन्हें वर माँगने के लिये कहा तो परशुराम ने इसी स्थान पर पुनः अपनी माता को जीवित करने की प्रार्थना की थी। इस क्षेत्र के दर्शनमात्र से सात जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं (केदार० ९०।१५)। यहाँ पर रेणुका देवी का मन्दिर है। परशुराम जी का मन्दिर भी उत्तरकाशी और फराशू (श्रीनगर के निकट) है। पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रियहीन करने के बाद परशुराम तपस्या करने यहाँ चले आये थे (यमदग्नि सुतो यत्र तपस्तेपे सुदुष्करम्—केदार० ९३।१५)।

वशिष्ठ—ऋग्वेद मं० ७ के मंत्रद्रष्टा ऋषि आर्य-पुरोहित वशिष्ठ ब्रह्मा के मानस-पुत्र और सप्तर्षियों में एक थे। वे अरुन्धती सहित टिहरी की 'हिमदाव' पट्टी में स्थित प्रसिद्ध वशिष्ठाश्रम में रहते थे। विसोन पर्वत की एक खोह में 'वशिष्ठ गुफा' और 'वशिष्ठ कुंड' के नाम से उनका स्मारक विद्यमान है। ऋषिकेश और देवप्रयाग में वशिष्ठाश्रम है (केदार० ४७।१७-१८)।

हिमदावाश्रम में वशिष्ठ जी का अपनी पत्नी अरुन्धती सहित कई बरसों रहने का उल्लेख है। जब श्रीराम रावण को मार कर लंका से लौटे तो उन्होंने लक्ष्मण जी को इस कैलास-क्षेत्र में जहाँ भी वशिष्ठ जी मिलें उन्हें खोज लाने के लिये भेजा था। हिमालय के इस अगम्य पर्वत-प्रदेश को कैलास अथवा मेरु भी कहा गया है। '**महाभारत**' (आदि ९९।६,७) के अनुसार गिरिराज मेरु के पार्श्व-भाग में वशिष्ठ ऋषि का आश्रम था। महाकवि कालिदास ने भी '**रघुवंश**' में हिमालय में गंगा तट पर एक गुफा में महर्षि वशिष्ठ के रहने का उल्लेख किया है। राजा दिलीप अपनी रानी सहित पुत्र-प्राप्ति की आशा से हिमालय के इस भाग में जहाँ कुलपति वशिष्ठ अरून्धती सहित निवास करते थे, पहुँचे थे।

अत्रि—हिम से सताए हुए ऋषि अत्रि का आश्रम परगना नागपुर (अहिर्बुध्न) में है। सप्तर्षियों में अत्रि ब्रह्मा के मानसपुत्रों में से एक हैं। ये ऋग्वेद के पांचवें मंडल के अधिकांश सूक्तों के ऋषि हैं। ये चन्द्रवंश (जो उस युग में चान्दपुर क्षेत्र में रहता था) के प्रवर्तक भी हैं। इनका वंश-वृत्त इस प्रकार है—अत्रि-प्रजापति-चन्द्र-बुध-पुरूरवा और ऐल।

अत्रि आयुर्वेद के भी आचार्य थे। इनका आश्रम, मंडल-चट्टी से ३ मील तथा उनकी पत्नी अनुसूया देवी के मन्दिर से एक मील की दूरी पर एक असाधारण स्थान पर अवस्थित है। यह परम रमणीक स्थान भारी शिला-खंडों से आच्छादित अमृतगंगा के लगभग ३०० फुट ऊँचे जल-प्रपात के भीतर सघन-लता कुंजों से आवृत है। उसके नीचे निर्मल जल से परिपूर्ण एक अमृतकुंड है। आश्रम सुदृढ़ दुर्ग की तरह है, जिस पर ऐसी प्राकृतिक छत बनी है कि प्रचंड तूफान के समय भी जल की फुहार उसके भीतर प्रवेश नहीं कर सकती। अत्रि को ऋग्वेद में सप्तवध्री (सात हिजड़ा) कहा है (ऋ० ५।७८।५,६) इसीलिए अत्रि ऋषि अपनी पत्नी से दूर रहते थे। '**महाभारत**' (अनु० १४।९५,९८) में लिखा है कि अनुसूया अपने पति से रुष्ट होकर उनसे अलग रह कर तप करती थी। अत्रि उन्हें नवयौवन प्रदान करने और शत्रुओं के बन्दीगृह से मुक्त करने के लिए अश्विद्वयों का स्तवन करते हैं (ऋ० १०।१३३।१,२)। किसी दैत्य ने उन्हें एक अगम्य स्थान में, अग्निकुंड में डाल दिया था, जहाँ वे निम्नाभिमुख होकर

लम्बी अवधि तक फँसे रहें ।

अत्रिपुत्र पुनर्वसु । इस अगम्य स्थल से उन्हें मुक्त करने के लिए (ऋ० ५।७३। ६,७ ५।७८।४,५,६) अश्विनीकुमारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं । ऋग्वेद (१।११६।८) के अनुसार अत्रि को अश्विनीकुमारों ने हिम या जल द्वारा इसी सौ द्वार वाले पीड़ा-यंत्र-गृह से मुक्त किया था । **'महाभारत'** (अनु० १६५।४४) और **'पद्मपुराण'** (११८।६१।७६) में उत्तर दिशा में हिमालय पर अत्रि-ऋषि के आश्रम का उल्लेख हैं ।

अत्रिपुत्री आपाला द्वारा ऋग्वेद के ऋ० ८।६० सूक्त की रचना हुई । आपाला भी शारीरिक रोग के कारण पति-परित्यक्ता थी । अत्रिपुत्र पुनर्वसु (आग्नेय) भी आयुर्वेद-शास्त्र के असामान्य आचार्य हुए हैं । इसी अत्रि-आश्रम के निकट अत्रिपत्नी अनुसूया देवी का प्राचीन मन्दिर भी सात हजार फुट ऊँचे एक परम रमणीक पर्वत-शिखर पर अवस्थित है । देवी अनुसूया ने जिस प्रकार पुत्र-प्राप्ति के लिए यहाँ पर कठोर तपस्या की थी, उसी प्रकार आज भी प्रति वर्ष कई निस्संतान स्त्रियाँ पुत्र-प्राप्ति की कामना से हाथों में जलता हुआ दीपक लेकर इस स्थान पर तपस्या करती हैं ।

नर और नारायण—ऋग्वेद मंडल ६, सूक्त ३५,३६ के ऋषि नर और मंडल १० के प्रसिद्ध **'पुरुष सूक्त'** ९० के ऋषि नारायण बदरीनाथ क्षेत्र के अधिष्टाता हैं । ये ऋषिद्वय धर्म और मातामूर्ति देवी के पुत्र रत्न हैं, जिनकी स्मृति में आज भी प्रतिवर्ष वहाँ मेला लगता है ।

बदरीक्षेत्र में नर-नारायण-आश्रम एवं नर और नारायण नामक क्रमशः १०२१० और १०७५० फुट ऊँचे पर्वत-शिखर, जहाँ प्राचीनकाल में नर और नारायण ऋषि तप करते थे, उनके अमर स्मारक के रूप में सुरक्षित है । पुराणों में कई स्थलों पर इस प्राचीन आश्रम का अत्यन्त श्रद्धापूर्वक वर्णन है । **'देवी भागवत'** (अध्याय ६) में भी इसका विस्तारपूर्वक विवरण है । **'केदारखंड'** (५७।२०;५८।१०३,१०४) में भी उसका वर्णन है ।

प्राचीन काल में बदरीकाश्रम विद्या और सदाचार का प्रमुख शिक्षा-केन्द्र था । वेदान्त ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए, ऋषि नारायण ने एक विशाल बदरी वृक्ष के नीचे इस आश्रम की स्थापना की थी । इसी आश्रम के निकट, कैलास क्षेत्र में शिव के आचार्यत्त्व में एक महत्वपूर्ण विद्या-केन्द्र भी स्थापित था; परन्तु वेदान्त-विषयक विशेष विचार धारा के प्रचार-प्रसार में इस आश्रम का योग-दान, शिवाश्रय से कम महत्वपूर्ण नहीं था ।

नर और नारायण दोनों भागवत धर्म एवं नारायण धर्म के मूल प्रवर्तक थे । **'महाभारत'** (वन पर्व १४५।२२।२४ तथा २७२।२६) में लिखा है कि

गन्धमादन विशाला (बदरीकाश्रम) में नर और नारायण का आश्रम है। शान्ति पर्व (३३४।६,१०) में भी इस आश्रम का उल्लेख है। '**महाभारत**' में भगवान् शंकर अर्जुन से कहते हैं :

नरत्वं पूर्वदेहे वै नारायण सहायवान् ।
बदर्यातप्तवानुग्रं तपोवर्षान्युतान् बहून् ।।

हे अर्जुन ! तुम पूर्व जन्म में नर थे। उस समय तुमने अपने बड़े भाई नारायण के साथ कई हजार बरसों तक बदरीकाश्रम में तपस्या की थी। नर-नारायण लोक-कल्याणार्थ सदैव बदरीकाश्रम में निवास करते हैं। इसीलिए पुराणों में बदरीकाश्रम को नर-नारायणाश्रम भी कहा गया है :

तत्रापि भारते खंडे बदर्याश्रमसंज्ञके ।
नृनारायणरूपेण तिष्ठति परमेश्वरः ।।

बदरीनाथ के इस चेत्र को नारदीय क्षेत्र भी कहा जाता है। नारद मुनि 'पांचरात्र मत' के संस्थापक थे, जिनके अधिष्ठाता भी नारायण ही थे। इस क्षेत्र में नारद पांचरात्र-पद्धति-द्वारा अपने उपास्य भगवान् नर-नारायण की पूजा करते थे। इस नर-नारायण-आश्रम के निकट देवनदी सरस्वती बहती है, जिसके पावन तट पर जय (**महाभारत**) महाकाव्य का आरम्भ करते हुए महर्षि वेदव्यास ने सर्व प्रथम इस चेत्र के मुख्याधिष्ठाताओं, नर और नारायण एवं देवनदी सरस्वती को नमस्कार करते हुए लिखा है :

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ।।

पराशर—ऋग्वेद प्रथम मंडल ६५ से ७४ सूक्त तक के ऋषि वशिष्ठ के पुत्र शक्ति से उत्पन्न व्यास पिता पराशर कहे जाते हैं। इस पावन चेत्र में पिता और पुत्र के द्वारा वेद-शास्त्रों का प्रणयन स्पष्ट है।

भरद्वाज—ऋग्वेद षष्ठ मंडल के ऋषि गुरुदेव वृहस्पति के पुत्र भरद्वाज अनेक दिव्य शास्त्रों के आचार्य थे। हाल ही में उनका एक '**यंत्र-सर्वस्व**' नामक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है, जिसमें विमानों के निर्माण, प्रयोग एवं उनके सफल संचालन के सम्बन्ध में अनेक रहस्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। '**महाभारत**' (आदि० १२९।६) के अनुसार हरिद्वार में इनका आश्रम था। ये आयुर्वेद के भी आचार्य थे। परम आयुर्वेदज्ञ ऋषि धन्वन्तरी इनके शिष्य थे। इन्हीं के नेतृत्व में ५२ आयुर्वेदज्ञ ऋषियों ने हिमालय के इस चेत्र में एकत्र होकर आयुर्वेद-विशेषज्ञ स्वर्गाधिपति इन्द्र से आयुर्वेद का त्रिस्कन्धात्मक ज्ञान प्राप्त किया था।

विश्वामित्र—ऋग्वेद तृतीय मंडल के क्रांतिदर्शी ऋषि विश्वामित्र का

आश्रम भी 'महाभारत' (शान्ति० ३०८।३३,३५) एवं वाल्मीकि 'रामायण' बालकांड) के अनुसार हिमालय के इसी भाग में अवस्थित था। विश्वामित्र को वेदमंत्र का सर्व प्रथम द्रष्टा कहा जाता है। इनके पश्चात् इनके शिष्य वामदेव द्वारा अन्य ऋषियों को वेद-मंत्र द्रष्ट हुए। आयुर्वेदाचार्य सुश्रुत इनके पुत्र कहे जाते हैं। 'केदारखंड' (१६४।३३) के अनुसार केदार और मंदाकिनी के मध्य में सूर्यप्रयाग से एकवाण की दूरी पर इनका तपस्थल था।

गौतम—सप्तर्षियों में महर्षि गौतम का आश्रम भी हिमालय में मन्दाकिनी के तट पर था। 'महाभारत' (शान्ति० २०८।३३) में भी लिखा है कि उत्तर-दिशा में इनका आश्रम था। गौतम न्याय, धर्मशास्त्र और आयुर्वेद के प्रकांड पंडित थे।

अगस्त्य—ऋग्वेद प्रथम मंडल १६५ सूक्त से १६१ सूक्त के मंत्रद्रष्टा ऋषि हैं। उनका अपनी पत्नी लोपामुद्रा के साथ भी सूक्त १७९ में कथोपकथन है। रुद्रप्रयाग से १२ मील दूरी पर मन्दाकिनी नदी के तट पर, 'अगस्तमुनि' नामक स्थान में उनके आश्रम की स्मृति आजतक सुरक्षित है। 'महाभारत' (वन० ८७।२०, ९६।१) से भी इस आश्रम की पुष्टि होती है। 'केदारखंड' (४७।२०, १९७।८) में लिखा है :

मन्दाकिन्यास्तटे रम्ये नानामुनिजनाश्रमे।
अगस्त्यादिन्महाभागास्तथा विप्रोनलाश्रमे ॥

ऋषि अगस्त्य ने बदरीकाश्रम में भी तपस्या की थी (केदार० ५८।७१) यहाँ अलकापुरी-नरेश और मणिमान नामक राक्षस को इन्होंने शाप दिया था (महा० वन० १६१।६०)। इसी क्षेत्र में इन्द्र से स्वर्ग का राज्य हस्तगत करने पर नागराज नहुष ने जब इन्हें अपने रथ में जोता था, तो अगस्त्य के शाप से नहुष का स्वर्ग से पतन हुआ। 'महाभारत' (अनु० ९९।१००, शान्ति० ३४२।५१, महा० (वन० ९७।११) के अनुसार इन्होंने अपनी पत्नी लोपामुद्रा सहित हरिद्वार में भी तप किया था। जलप्लावन के अवतरण पर जब किसी भौगर्भिक परिवर्तन के कारण, तराई-भावर का समुद्र सूख गया तो ऋषि अगस्त्य के नेतृत्व में उत्तर-गिरि प्रदेश से, आर्यों का पुनः दक्षिण की ओर अभियान, तराई-भावर को पार कर. आर्यावर्त्त से होता हुआ, विन्ध्याचल पर्वत से उतर कर दक्षिण भारत तक चला गया।

'महाभारत' (वन० पर्व १०४, १०५) अगस्त्य द्वारा समुद्र के शोषण करने और विन्ध्याचल पर्वत को बढ़ने से रोकने का जो उल्लेख है उसमें यही भाव है। भारत के सुदूर दक्षिण में पहुँच कर अगस्त्य ने उत्तर गिरि प्रदेश के आर्य-धर्म

एवं आर्य-संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए वहाँ की स्थानीय भाषा का अध्ययन किया और तमिल-भाषा में सर्व प्रथम व्याकरण की रचना की। उत्तर भारत और दक्षिण भारत के धार्मिक एवं सांस्कृतिक साम्य का यही प्रमुख कारण है। मैत्रावरुणि वशिष्ठ भी अगत्स्य के सहोदर कहे जाते हैं।

भृगु—ब्रह्मा के मानसपुत्र और ऋग्वेद के ऋषि हैं। इनकी दो पत्नियों में एक हिरण्यकशिपु की पुत्री दिव्या थी। इनका पुत्र उशना कवि जिसको **'ब्रह्मांडपुराण'** (३।१।७६) में असुरों का गुरु आचार्य शुक्र भी कहा जाता है, ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषि थे। उत्तर गढ़वाल 'भृगुपन्त' स्थान में इनका आश्रम था। इन्होंने हिमालय के उत्तर-पार्श्व में स्थित उक्त उत्कृष्ट लोक की विलक्षणता का **'महाभारत'** (शान्ति० १९२) में प्रतिपादन किया है। ये दोनों पिता-पुत्र सर्व-विद्या-विशारद थे (**महा०** वन० ९०।३०३)।

इन्द्र—ऋग्वेद के देवताओं और मंत्रद्रष्टाओं में इन्द्र का महत्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद मंडल १० के सूक्त ४९, ८६, ११९ के ऋषि इन्द्र हैं। ऋग्वेद इनकी पूजा एवं प्रशंसाओं से ओतःप्रोत है। चारों ओर नाग और असुर राज्यों से घिरी हुई इनकी राजधानी अमरावती हिमालय के गन्धमादन-पर्वत-प्रदेश में थी। इसी को सुमेरु एवं सतोपंथ भी कहते थे। स्वर्ग के तीन विभागों (त्रिविष्टप) में इन्द्र स्वर्ग के जिस विभाग के अधिपति थे, वह वेद और पुराणों के कथनानुसार उत्तर-गढ़वाल का वह भू-भाग है, जहाँ बदरीकाश्रम और गन्धमादन पर्वत अवस्थित हैं। ऋग्वेद (१०।१०४।८, ३।१०९।८, ८।८५।१,२, और ८।६।२८) के अनुसार इन्द्र उस पर्वत का निवासी था, जहाँ २१ पर्वत थे और जहाँ सप्त सिन्धुओं के अतिरिक्त ९९ नदियाँ बहती थीं। आचार्य सायण ने इसे स्पष्टतः गंगा का क्षेत्र घोषित किया है। पांडवों के वनवास-काल में अर्जुन ने गन्धमादन पर्वत-प्रदेश से ही इन्द्र के स्वर्ग-राज्य में प्रवेश किया था। चारों ओर शत्रु-राज्यों से घिरा होने के कारण इन्द्र सदैव भयभीत रहता था और इन क्षेत्रों में किसी भी शक्तिशाली असुर अथवा देव का प्रवेश तथा उनकी शक्ति-सम्पन्नता उसे असह्य हो उठती थी। इन्द्र आयुर्वेद आदि कई विद्याओं के भी आचार्य थे। उनके आश्रम में कई स्नातक विद्याध्ययन के लिए आते थे। **'चरकसंहिता'** (सूत्रस्थान १।११।१४) के अनुसार रोग-शमन का सर्वांगपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक बार हिमालय के इस पवित्र धाम में स्वर्गाधिपति इन्द्र के घर पर महर्षि भरद्वाज के नेतृत्व में ५२ आयुर्वेदज्ञों का एक बृहद् ऋषि-सम्मेलन हुआ था।

पुराणों में कई इन्द्रों का उल्लेख है। मालूम होता है कि इन्द्र स्वर्गाधिपति की उपाधिमात्र थी और स्वयं राज्य का प्रत्येक उत्तराधिकारी इन्द्र कहकर सम्बोधित किया जाता था।

शची—ऋग्वेद (१०।१४५।१,२,३,४,५) के मंत्रों की द्रष्टा हैं। यह पुलोमा असुर की पुत्री और देवराज इन्द्र की पत्नी थीं।

पुरूरवा और उर्वशी—ऋग्वेद मं० १० सूक्त ९५ के ऋषि पुरूरवा और उर्वशी का स्वर्ग मन्दाकिनी और अलकनन्दा का यही तटवर्ती प्रदेश है। इसी सूक्त के मंत्र ४२ में स्पष्ट लिखा है कि जहाँ मन्दाकिनी आदि नदियाँ बहती हैं वहीं स्वर्गभूमि है। ऋग्वेद (१।३१।४) से भी विदित होता है कि जिस स्वर्गभूमि में अग्नि ने मनु और पुरूरवा को अनुगृहीत किया था, वह शीत-प्रधान प्रदेश था। चन्द्रवंशी सम्राट् पुरूरवा मनु पुत्री इला के गर्भ से उत्पन्न महर्षि बुध के पुत्र थे, जिनका आश्रम बधान (बुध-अयन) में था। बुध चन्द्रवंश के मूल प्रवर्तक चन्द्र (सोम) के पुत्र और महर्षि अत्रि के पौत्र थे। पुरूरवा की राजधानी जोशीमठ (प्राग्ज्योतिषपुर) थी। पुरूरवा के बाद चन्द्रवंश की राजधानी चन्द्रपुर (वर्तमान चान्दपुर) चली आयी। प्रयागराज के निकट प्रतिष्ठानपुर (झूंसी) का जिसको पुरूरवा की राजधानी कहा जाता है, ऋग्वेद-काल में अस्तित्व भी नहीं था।

उर्वशी को ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषि नारायण ने, जिनका आश्रम गन्धमादन पर्वत पर बदरी-क्षेत्र में ही है, अपने उरू भाग को ताड़न कर उत्पन्न किया था (**देवी भागवत**, च० स्क० अ० ६)। ऋषि नारायण ने उसको इसी स्वर्ग क्षेत्र के अधिपति इन्द्र की सेवा के लिए समर्पित कर दिया था (**देवी भागवत चतुर्थ स्क० अ० ५, ६**)। अतः पुरूरवा और उर्वशी का क्रीड़ाक्षेत्र वह स्वर्ग भूमि, मन्दाकिनी और अलकनन्दा का तटवर्ती यही पर्वत प्रदेश है। **'मत्स्य पुराण'** (अध्याय ११६ से १२० तक) में हिमालय के इस क्षेत्र में—प्रकृति श्री से सम्पन्न इस क्रीड़ास्थली का विस्तारपूर्वक वर्णन है। **'केदारखंड'** (५८।१३६–१३७) में भी लिखा है :

पश्चिमे क्रोशखंडार्द्धे बदरीनाथधामतः।
उर्व्वशीकुंडमाख्यातं सर्वसौंदर्यदायकम् ॥
पुरा पुरूरवा यत्र रेमे वत्सरपंचमे।
उर्व्वश्या सह वामाक्षिजनयामास वै सुतान् ॥

अर्थात् बदरीनाथ धाम से पश्चिम, आध कोस की दूरी पर सम्पूर्ण सुन्दरता प्रदान करने वाला 'उर्वशी कुंड' विद्यमान है। इसी कुंड के निकट पुरूरवा ने पाँच वर्ष तक तिरछी चितवन वाली उर्वशी से रमण कर पुत्र उत्पन्न किये थे। महाकवि कालिदास के **'विक्रमोर्वशीयम्'** का क्रीड़ाक्षेत्र, पुरूरवा और उर्वशी की वह स्वर्ग भूमि, भी अलकनन्दा-मंदाकिनी का यही तटवर्ती प्रदेश है।

बालखिल्य—नागपुर गढ़वाल में अवस्थित 'बालखिल्य तीर्थ' बालखिल्य

नदी और बारणावत पर्वत ऋग्वेद के 'बालखिल्य' नामक ११ सूक्तों के ऋषि वालखिल्य का स्मरण दिलाते हैं (यत्र वै बालखिल्यास्ते तपस्तेपुः सुदुष्करम् केदारखंड ६६।३)। 'महाभारत' (आदि० ३०।१८) से भी इसकी पुष्टि स्पष्ट है।

देवल—ऋग्वेद मंडल ६ सूक्त ५ से लेकर २४ तक के मंत्रद्रष्टा ऋषि देवल हैं। गढ़वाल में 'देवल' नाम के अनेक गाँव प्रसिद्ध हैं। पुराने श्रीनगर से वर्तमान 'शंकरमठ' के निकट 'देवल' ऋषि का तपस्थान था (**केदारखंड** १८४।२)।

मान्धाता—ऋग्वेद मं० १० के सूक्त १३४ के ऋषि मान्धाता हैं। बदरीकाश्रम में अवस्थित मुचकुंद-आश्रम और मुचकुंड-गुफा में मान्धाता और उसके पुत्र मुचकुंद की स्मृति सुरक्षित है (केदारखंड १६।६,६; ५८।१६४)।

कण्व—ऋग्वेद आठवें मंडल के ऋषि कण्व का आश्रम प्राचीन हस्तिनापुर से लगभग ५० मील की दूरी पर चौकी घाटा (कोटद्वार) के निकट गढ़वाल की अजमेर पट्टी से निकलने वाली मालिनी नदी के तट पर है। '**महाभारत**' (आदि० ६६) के अनुसार मेनका द्वारा त्यागी गयी भरत-जननी शकुन्तला महर्षि कण्व को हिमालय पर्वत में मालिनी नदी के तट पर प्राप्त हुई थी (प्रस्थे हिमवते रम्ये मालिनीमभितो नदीम्, महा० ७२।१०)। कण्वाश्रम हस्तिनापुर से पर्याप्त दूर, बेर, आक, खैर, कपित्थ एवं धव के वृक्षों से आच्छादित एक रमणीक वन में था। उसकी भूमि ऊँची-नीची थी और इसमें पर्वत से लुढ़के हुए प्रस्तर खंड इधर-उधर पड़े थे। वह निर्जन वन-प्रदेश कई योजन तक फैला हुआ था (महा० आदि ६६।१७,१८)। उस वन में मलिनी नदी से लगा हुआ काश्यप गोत्रीय कुलपति कण्व ऋषि का आश्रम है।

महाकवि कालिदास ने '**अभिज्ञान शाकुन्तलम्**' में मालिनी नदी के तट पर पर्वत और समभूमि के सन्धि-स्थल पर अवस्थित इस कण्वाश्रम की पुष्टि की है। जो लोग पर्वत प्रदेश से दूर बिजनौर जिले की समभूमि में कण्वाश्रम की पुष्टि करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि दुष्यन्त समभूमि में नहीं, वरन् पर्वत-प्रदेश में आखेट कर रहे थे। उन्हें उनके सेनापति ने इसीलिए 'गिरिचर इव नाग' कहकर सम्बोधित किया है। आखेट-स्थल गिरि और समतल भूमिभाग के निकट था जहाँ हिरणों के साथ भालू आदि वनपशु गिरि-नदी मालिनी में जल पीने आते थे (गिरिनदी जलानि पीयन्ते, २।१)। नदियाँ पर्वतों से निकलती हैं परन्तु पर्वत प्रान्त से दूर किसी समभूमि में बहने वाली नदी को कोई 'गिरिनदी' के विशेषण से सम्बोधित नहीं करता। वहाँ वह केवल नदी कहलाती है। उस स्थान पर गिरि-नदी मालिनी के पर्वतीय प्रवाह की प्रखरता में भी कमी नहीं आयी थी; क्योंकि नदी के वेग से बहने के कारण वहाँ पर लताएँ टेढ़ी-मेढ़ी हो गयी थीं (नदी-वेगस्य तत्र कारणम्)।

कुलपति कण्व का आश्रम पर्वत और समभूमि के संधि स्थल पर मालिनी नदी के तट पर था (१।१३)। पर्वत-प्रदेश के अत्यन्त पास होने के कारण इस स्थल की भूमि भी ऊँची-नीची थी जिसके कारण सारथी ने रास खींचकर रथ का वेग कम कर दिया था। उसके तुरन्त बाद, कण्वाश्रम की भूमि दिखायी देती है। यदि पर्वत-प्रदेश नितान्त निकट न होता तो कालिदास को समदेश कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

यह सर्व विदित तथ्य है कि पर्वत और समदेश के संधिस्थल पर गिरि—नदी की प्रखरता में न्यूनता आ जाने के कारण भारी वस्तुएँ धीरे-धीरे छूटने लगती हैं। आश्रम में यत्र-तत्र पड़े हुए चिकने प्रस्तर-खंडों से भी उक्त स्थल, पर्वत-प्रान्त से निकटतम विदित होता है। वहाँ पानी की गूलों से वृक्षों की सफेद जड़ें धुली हुई प्रतीत हो रही थीं। यह स्पष्ट है कि समदेश में प्रवाहित मालिनी से गूल निकालने की कल्पना नहीं की जा सकती। इसका अर्थ यह है कि आश्रम के निकट मालिनी नदी इतने ऊँचे स्थान से उतरती थी कि उससे गूलें निकाली गयी थीं।

'**अभिज्ञान शाकुन्तलम्**' में वर्णित ऋषियों का अन्न नीवार और श्यामाक (कोदा और झंगोरा) गढ़वाल का आज भी प्रमुख खाद्यान्न है। शकुन्तला का अपने कंधे पर गांठ देकर, वल्कल वस्त्रों (भ्यूँल और भाँग की छाल से बने हुए त्यूँखों) के पहनने का ढंग एवं उसके इधर-उधर नंगे पैरों विचरने से भी गढ़वाली परम्परा का परिचय मिलता है।

कण्वाश्रम हिमालय के ऐसे निम्नतम छोर पर अवस्थित था जिसके एक ही ओर नहीं, वरन् दोनों ओर हिमालय की तलहटी थी। इस क्षेत्र को मुगल इतिहासकारों ने 'दामनेकोह' कहा है। इसका वर्तमान नाम 'तराई-भावर' है। षष्ट अंक में शकुन्तला के विरह में व्याकुल दुष्यन्त और कण्वाश्रम में शकुन्तला की क्रीडास्थली का मनोरम चित्र अंकित किया गया है :

'अभी मालिनी नदी बनानी है, जिसकी रेती में हंस के जोड़े बैठे हों। उसके दोनों ओर हिमालय की वह तलहटी भी दिखानी है, जहाँ हरिण बैठे हुए हों।' पुनः दुष्यन्त को कण्व के शिष्य अपना परिचय प्रस्तुत करते हुये स्पष्ट कहते हैं कि वे हिमालय की उपत्यका में रहने वाले वनवासी महर्षि कण्व का आदेश लेकर स्त्रियों सहित उपस्थित हैं। बिजनौर जिले के निवासियों को 'हिमगिरि-रुपत्यकारण्यवासिनः' नहीं कहा जा सकता है।

'**केदारखंड**' (५७।१०) में कण्वाश्रम से लेकर नन्दागिरि पर्वत पर्यन्त केदार क्षेत्र की सीमा कही गयी है, उससे भी कण्वाश्रम गढ़वाल के दक्षिणी सीमान्त पर विदित होता है।

क्योंकि तराई-भावर ग्रीष्मकाल में असह्य तापमान के कारण अवयस्कों, छात्रों के लिए अस्वास्थ्यकर हो जाता है। अतः नन्दप्रयाग में कुलपति कण्व का सम्भवतः ग्रीष्मकालीन तथा कोटद्वार के निकट मालिनी नदी के तट पर शीतकालीन आश्रम था।

कुलपति कण्व के पुत्र-प्रपौत्र एवं शिष्य-प्रशिष्य भी ऋग्वेद के अनेक मंत्रों के ऋषि हैं। कण्वाश्रम के कुलपति-पद पर प्रतिष्ठित समस्त आचार्यों को कण्व कहा गया है। ऋग्वेद मं० ३ में ३६ से ४३ सूक्त तक के ऋषि घोर के पुत्र कण्व हैं। प्रथम मंडल १२ से २३ तक के ऋषि कण्व के पुत्र मेधातिथि तथा प्रथम मंडल ४४ से ५० सूक्त तक के ऋषि कण्व के द्वितीय पुत्र प्रस्कण्व हैं। कण्व के लगभग २७ शिष्यों-प्रशिष्यों (काण्वों) द्वारा भी वेद-मंत्रों का विस्तार हुआ है। स्मरण रहे कि इन आश्रमों के उत्तराधिकारी आचार्य, जहाँ मूल आचार्य की पदवी से सम्बोधित होते रहे हैं, वहाँ उनका कभी-कभी, कहीं अपने निजी नाम से भी उल्लेख होता रहा है।

रुद्र—ऋग्वैदिक देवताओं में रुद्र का महत्वपूर्ण स्थान है। रुद्र कुटिलगति, अभीष्ट फलदायक, क्रोधी और मेधावी थे (ऋ० १।११४।४)। वे जटाधारी, वीरों के विनाशक, आयुर्वेद के आचार्य थे। मनु को उन्होंने कई रोगों और भयों से मुक्त किया था (ऋ० १।११४।२)। देवतागण उनसे स्वास्थ्य-लाभ की कामना करते हैं (ऋ० १।११४।१)। वे अनेक ओषधियों के ज्ञाता थे (ऋ० १।४३।४६ १।११४।५)। वे कई विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों में भी पारंगत थे (ऋ० १।११४। १०)। ऋग्वेद प्रथम मंडल, सूक्त ११४ के सम्पूर्ण ११ मंत्रों में उनका स्तवन है। देवताओं और असुरों दोनों पर उनकी समान कृपा-दृष्टि थी। दोनों के लिए उनकी दया का द्वार सदैव उन्मुक्त रहता था, परन्तु उनके कट्टर उपासकों में असुरों की संख्या देवताओं से अधिक थी। इसलिए देवता बार-बार उनसे अपनी और अपने कुटुम्बियों की प्राण-भिक्षा माँगते हैं (ऋ० १।११४।७,८)। उनकी स्तुति कर कहते हैं, कि हमारे पक्ष में कहो, हमें सुख दो (ऋ० १।११४। १०)। कैलाश क्षेत्र में स्थापित इनका आश्रम सुर और असुर-स्नातकों से परिपूर्ण अनेक विद्याओं का प्रमुख शिक्षा-केन्द्र था।

रुद्र प्रकृति से उग्र रूप के देवता थे। उनका निवासस्थान पृथ्वी और अन्तरिक्ष (कैलास) पर था। वे पृथ्वी और कैलास के अधिपति बताये गये हैं (ऋ० ६।११४।१०, १०।६४।१)। सुरभि और प्रजापति कश्यप से जिन एकादश रुद्रों की उत्पत्ति हुई थी उनमें रुद्र (शिव) सबसे तेजस्वी थे। नागपुर परगने में कोलपर्वत से जहाँ मंदाकिनी और गंगा का संगम होता है, रुद्र का क्षेत्र है (केदारखण्ड १६४।१०)।

'गढ़वाल में जितने कंकर हैं, उतने शंकर हैं' की कहावत प्रचलित है, परन्तु केदारनाथ, तुंगनाथ, रुद्रनाथ, रुद्रप्रयाग नामक तीर्थों द्वारा गढ़वाल में अभी तक ऋग्वैदिक रुद्र की स्मृति सुरक्षित है।

गोपेश्वर से आगे ऋग्वैदिक ऋषि अत्रि और उनकी पत्नी अनुसूया देवी के मन्दिरों से जो मार्ग जाता है, उससे लगभग १० मील की चढ़ाई के उपरान्त ११५०० फुट की ऊँचाई पर रुद्रनाथ का प्राचीन तीर्थ स्थान है।

विष्णु—अदिति के बारह पुत्रों में इन्द्र सबसे बड़े और विष्णु सबसे छोटे थे। ऋग्वेद में कई स्थानों पर श्रद्धापूर्वक उनका स्मरण किया गया है। वे ऋग्वेद (१।२२।१६) के अनुसार देवताओं के लोक, सुरलोक (स्वर्ग अर्थात् गन्धमादन पर्वत क्षेत्रान्तर्गत) विष्णुप्रयाग में रहते थे। उत्तर गिरि प्रदेश में सरस्वती नदी के तट पर मनु (ऋ० ८।३१।१०), नदी के सुख, पर्वत के सुख और देवताओं के साथ विष्णु के सुख की भी कामना करते हैं। इससे स्पष्ट है कि मनु का निवास स्थान पर्वत-प्रदेश में प्रवाहित सरस्वती नदी के तट पर था, जहाँ विष्णु का निवासस्थान भी था। यह स्थान विष्णुप्रयाग या केशवप्रयाग है। ऋग्वेद (१०।६५।१) में इन्द्र, विष्णु, रुद्र, सोम और सरस्वती का स्थान स्पष्टतः स्वर्ग एवं अंतरिक्ष में बताया गया है। विष्णुप्रयाग के निकट जोशीमठ में भी विष्णु भगवान् का एक भव्य मन्दिर है, जिसमें सात स्त्री-मूर्तियों पर टिकी हुई एक सात फुट ऊँची काले पत्थर की उच्च कलात्मक विशाल विष्णु-मूर्ति स्थापित है (**गढ़वाल गजेटियर्स**, पृ० १६६)। जलप्लावन के समय, हरिद्वार से समुद्रजल अलकनन्दा उपात्यका से होता हुआ विष्णुप्रयाग के निकट तक पहुँच चुका था।

दक्ष प्रजापति—ऋग्वेद (१।८९।३, ३।२७।१०, १०।७२।५) में दक्ष के नाम का उल्लेख है। उन्हें ब्रह्मा की अमैथुनी सृष्टि से उत्पन्न कहा गया है। दक्ष की कन्याओं से देव, दानव नाग और आदित्यों का प्रादुर्भाव हुआ। इससे पूर्व मानसी सृष्टि थी, जिसकी उत्पत्ति श्रवण और दर्शन से हुई (**केदार** ७६।४०, ४१)। दक्ष ने सर्व प्रथम सृष्टि-उत्पन्न करने के निमित्त सहस्त्र पुत्र उत्पन्न किये (**केदार** ८।२)। दक्षकन्या अदिति से आदित्य (सूर्य), से वैवस्वत मनु और मनु से इक्ष्वाकु (ऋ० १०।६०।४) आदि पुत्रों और चन्द्रवंश की वृद्धि करने वाली इला उत्पन्न हुई (**केदार** ११।१०)।

दक्ष ब्रह्मा जी के दाहिने अंगूठे से और उनकी पत्नी बाँये अँगूठे से उत्पन्न हुई थीं। इनसे समस्त प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं। इसी से ये सम्पूर्ण लोक के पितामह हैं। इनकी दस कन्याएँ धर्म को, तेरह कश्यप को और सताईस चन्द्रमा को ब्याही गयीं थीं (आदि ७५।७)। इनकी आठ कन्याएँ ब्रह्मर्षियों को ब्याही गयी थीं, जिनसे अनेक प्रकार के जीव-जन्तु तथा देवता-मनुष्य आदि उत्पन्न हुए

(शांति० १६६,१७)। इनकी साठ कन्याओं में जो अंतिम दस थीं वे मनु को ब्याही गयी थीं (शाँति ३४२,५७)। इन्होंने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ किया और उस स्थान के लिए वर दिया कि यहाँ मरने वालों को स्वर्ग मिलेगा (वन० १३०।२)। गंगा द्वार में इनके आवाहन करने पर सरस्वती वहाँ आयी और सुरेणु नाम से विख्यात हुई (शल्प ३८, ३६)। कनखल में शिवजी द्वारा इनके यज्ञ का विध्वंस हुआ (शांति २८३,३२)।

दक्ष सर्व प्रथम आर्य-नरेश थे और उनकी राजधानी हरिद्वार से ढाई मील दूर दक्षिण गढ़वाल में ऋषिकेश के निकट 'कनखल' थी; जहाँ गंगातट पर दक्ष-प्रजापति का प्राचीन मन्दिर है। इस प्रकार वेद और पुराणों तथा वर्तमान भू-गर्भशास्त्रियों के कथनानुसार भी इस क्षेत्र से सर्व प्रथम मनुष्य एवं जीवधारियों की उत्पत्ति हुई। जब आदि सृष्टि में अविद्यमान से विद्यमान उत्पन्न हुआ तो सर्व प्रथम दक्षपुत्री अदिति से देवों (मित्र, वरुण, धाता, आर्यमा, अंश, भग, विवस्वान् और सूर्य) की उत्पत्ति हुई।

महर्षि जह्नु—ऋग्वेद (१।११६।१६) में महर्षि जह्नु का नाम आया है। जह्नु का आश्रम टिहरी गढ़वाल में जाह्नवी के तट पर है। जब राजा भगीरथ गंगा जी को, स्वर्णभूमि, जिस नाम से प्राचीन युग में गढ़वाल प्रसिद्ध था, में ले गये तो जह्नु आश्रम में, गंगा जी को महर्षि ने उदरस्थ कर दिया (**केदार०** ३७।१०)। भगीरथ ने पुनः कठिन तपस्या कर महर्षि जह्नु को प्रसन्न कर जाह्नु-प्रदेश से पुनः गंगा जी को प्राप्त किया। तब से गंगा जी का नाम जाह्नवी (ऋ० ३।५८।६) भी हो गया।

वैवस्वत मनु—ऋग्वेद के १०।१५ एवं आठवें मंडल के २७, २८, २६, ३० और ३१ सूक्तों के रचयिता हैं। उनका राज्य आज से भारतीय काल-गणना-नुसार बारह करोड़ पाँच लाख तैंतीस हजार वर्ष पूर्व था। हरिद्वार से ऊपर समस्त सप्तसिन्धु उनके शासनान्तर्गत था। सप्तसिन्धु के दक्षिण में जलप्लावन से पूर्व उनकी राजधानी कनखल के आस-पास कहीं थी। जलप्लावन के समय सप्तर्षियों सहित वे नाव में बैठकर दक्षिण गिरि-प्रदेश से उत्तर गिरि-प्रदेश की ओर भागे। समुद्रजल से आप्लावित अलकनन्दा उपत्यका से होती हुई उनकी नाव बदरीनाथ के निकट सरस्वती के तटवर्ती क्षेत्र में जा लगी। उन्होंने वहाँ पहुँच कर निकटवर्ती किसी पर्वत शिखर पर अपनी नाव बाँध दी। चालीस वर्ष से अधिक समय तक ब्रह्मक्षेत्र में उनका निवास स्थान रहा। ऋग्वेद (६।११३।६) के अनुसार स्वर्ग में, उत्तम लोक में, जहाँ मन्दाकिनी आदि नदियाँ बहती हैं, मनु का आश्रम था। मनुपुत्री इला (ऋ० २।०४।५, १०।६५—१०) जो मनुपुत्र सुद्युम्न के नाम से अलकनन्दा के उत्तरी क्षेत्र में रहती थी (**केदार०** १२।७६)।

उससे बधाण (बुध-अयन) में, चन्द्रमा के पुत्र बुध ने चन्द्रवंश के प्रवर्वक राजा पुरूरवा को जन्म दिया। स्वयं पुरूरवा अपनी पत्नी उर्वशी सहित इसी चान्दपुर क्षेत्र में रहते थे।

दक्ष की दस कन्याएँ वैवस्वत मनु को व्याही गयी थीं (शांति पर्व ३४२।५७)। मनु के दस पुत्रों में राजा वेन बड़ा अत्याचारी प्रमाणित हुआ। उसकी राजधानी हरिद्वार में थी। कनिंघम (ए० ज्यो, पृ० २९५, २९६, २९७) के अनुसार आज भी वहाँ गंगा नहर के तट पर राजा वेन के दुर्ग के खंडहर हैं, जो ७५० फीट लम्बी और इतनी ही चौड़ी भूमि पर फैला हुआ था। आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व तक इस क्षेत्र में टूटी-फूटी ईटों के ढेरों से ढके हुए अनेके ऊँचे टीलों के रूप में अनेक प्राचीन महत्वपूर्ण ऐतिहासिक अवशेष सुरक्षित थे। वेन अत्याचारी होने के कारण राज्यच्युत किये गये थे। उनके स्थान पर उनके पुत्र पृथु प्रजा द्वारा गद्दी पर बैठाये गये, जो आर्य-साहित्य में प्रथम नरेश के नाम से विख्यात हैं।

वेदव्यास—भगवान् वेदव्यास महर्षि पराशर के औरस और दासराज-कन्या सरस्वती के गर्भ से उत्पन्न वेदों के प्रथम संहिताकार होने के कारण आर्य-ग्रन्थों में उनका स्थान वैदिक ऋषियों से किसी प्रकार कम नहीं है। पुराणों के अनुसार कृष्ण द्वैपायन से पूर्व अट्ठाईस व्यास हो चुके थे, परन्तु जिन्होंने वेदों का चार संहिताओं में व्यास (विभाजन) किया था, जिनका वर्ण काला था, जो द्वीप में जन्मे थे, वे ही प्राचीन भारतीय वाङ्मय में कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास के नाम से प्रसिद्ध हुए (महाभारत, आदि ६३।८४)।

क्रांतिदर्शी व्यास सर्वविद्याविशारद थे। उनकी असाधारण दर्शनिकता, आध्यात्मिकता और विद्वता से 'महाभारत' अष्टादश पुराण 'ब्रह्मसूत्र' आदि ग्रन्थ-रत्न ओतःप्रोत हैं। उनकी प्रत्येक कृति आकार और प्रकार, भाव और भाषा की दृष्टि से विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। जीवन का कौन ऐसा क्षेत्र है, जिस पर उन्होंने अधिकृत रूप में सर्वांगपूर्ण शब्द-चित्र प्रस्तुत न किये हों! उनका एक ही ग्रन्थ 'महाभारत' विश्व-साहित्य में अतुलनीय है, ज्ञान का अगाध भंडार है। उन्हीं के शब्दों में :

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभः।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्॥

भारत का समस्त प्राचीन और अर्वाचीन वाङ्मय व्यास की अमर रचनाओं से गौरवान्वित है। उनके एक-एक कथानक, एक-एक परिच्छेद को लेकर एकांकी, अनेकांकी, दृश्य और श्रव्य अनेक महाकाव्यों और खंडकाव्यों की रचना हो चुकी है। कई हजार बरसों से भारतवासियों का सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्र भारत की नगर और ग्रामीण सभ्यता, संस्कृति एवं साहित्य व्यास की

रचनाओं से अनुप्राणित हैं।

गढ़वाल में चार स्थान व्यास-आश्रम के नाम से प्रसिद्ध हैं। दो बदरीकाश्रम के निकट बदरीनाथपुरी से दो मील उत्तर की ओर माणा गाँव के पास सरस्वती नदी के तट पर अवस्थित व्यास-आश्रम और व्यास-गुफा; तृतीय मैखंडा (महिषखंड) पर्वत की एक गुफा में तथा चौथा देवप्रयाग के निकट नयार और अलकनंदा के संगमस्थल व्यासघाट में।

बदरीनाथ क्षेत्र में व्यासगुफा के सामने, नर-नारायण-पर्वत शिखर हैं, जिनके सामने ऋग्वैदिक आर्यों की पुण्यतोया सरस्वती नदी प्रचंड वेग से बह रही हैं। यहाँ पर इसी व्यासगुफा में बैठकर (**महाभारत** आदि० १।२८) तथा इसी पावन-क्षेत्र के मुख्य अधिष्ठाताओं नर-नारायण एवं देवनदी सरस्वती को सर्व प्रथम नमस्कार कर भगवान् व्यास ने जय-काव्य (**महाभारत**) के प्रथम पद का आरम्भ करते हुए लिखा था :

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

'**केदारखण्ड**' (६१।३४-३६) में लिखा है कि कैलास में गन्धमादन पर्वत पर श्री बदरीनाथ का आश्रम है। पराशर-पुत्र व्यास अपने शिष्यों और ब्राह्मणों को साथ लेकर वहाँ गये। वहाँ पर उन्होंने तीन वर्ष में (आदि पर्व ६२।७१,४२) '**महाभारत**' के साठ लाख श्लोकों की रचना की। व्यास-रचित वह पुस्तक अभी तक वहाँ विद्यमान है। '**श्रीमद्भागवत**' (७।२।३) के अनुसार भी ब्रह्मनदी सरस्वती के पश्चिम तट पर बदरीकाश्रम में महर्षि व्यास का आश्रम है।

पर्वतों में श्रेष्ठ, सिद्ध और चारणोंसे सेवित मेरु-पर्वत पर, जो हिमालय की उपत्यका में है, व्यास का आश्रम था। अन्यत्र इसको ही बदरीकाश्रम या बदर्य्याश्रिम कहा है। इस बदरीकाश्रम में निवास करते हुए शांडिल्य ने मृकंड नारद आदि को सात्वत शास्त्र का उपदेश दिया था। इसी बदर्य्याश्रिम में व्यास के चारों शिष्य और अरणी-सुत-पुत्र शुक रहते थे। चारों शिष्यों के नाम सुमन्तु, जैमिनी, वैशम्पायन और पैल था। उन दिनों वेदव्यास अपने चारों शिष्यों को वेदाध्ययन कराया करते थे (आदि पर्व ६३।८६,९०)।

वेदव्यास आवश्यकता पड़ने पर इन्द्रप्रस्थ आदि स्थानों में भी भ्रमण करते थे, परन्तु उनके साहित्यिक जीवन का अधिकांश भाग हिमालय क्षेत्रान्तर्गत गढ़वाल की इन्हीं उपत्यकाओं में व्यतीत हुआ, इसमें सन्देह नहीं हैं। '**महाभारत**' (आदि० ११४।२४) में भी लिखा है कि गान्धारी के पुत्रों की रक्षा-व्यवस्था करके व्यास जी तपस्या करने के लिए हिमालय पर चले गये थे। व्यास का शरीरान्त भी इसी क्षेत्र में हुआ। '**महाभारत**' (सभा० ५६।१त) में राज्यारोहण पर धर्मराज

युधिष्ठिर को उपदेश देने के पश्चात् उनका पुनः कैलास की ओर प्रस्थान करने का उल्लेख है ।

बदरीकाश्रम में 'व्यासगुफा' के पास 'गणेशगुफा' भी है। व्यास '**महाभारत**' के काव्यकार और गणेश उसके लेखक थे। दोनों महापुरुष असाधारण क्षमताशाली थे। व्यास आशु कवि और गणेश आशु लेखक थे। तत्कालीन ऋषि-महर्षियों की प्रार्थनानुसार भगवान् व्यास ने जब '**महाभारत**' को लिपिबद्ध करने के लिए उनसे एक आशु लेखक की माँग की तो, इसके लिए गणेश जी का नाम प्रस्तुत किया गया (आदि० १।५५।७४)। गणेश जी ने इस शर्त पर कि यदि व्यास जी द्वारा छन्द-रचना में किंचित् भी विलम्ब हुआ और उनकी लेखनी कुछ क्षण के लिए भी निरर्थक रुकी रह गयी तो वे कलम-दावात छोड़ कर तुरन्त चले जायेंगे। गणेश जी को भी उनका एक अनुरोध स्वीकार करना पड़ा कि यदि किसी पद्य का अर्थ उनकी समझ में न आये तो वे व्यास जी से बिना उसका स्पष्टीकरण कराये उसको लिपिबद्ध न करें (आदि० १।७५।८३)। इस प्रकार आशु कवि और आशु लेखक द्वारा जय-भारत की काव्य-रचना तथा उसको लिपिबद्ध करने का श्रीगणेश हुआ। व्यास छन्द-रचना करते जाते थे और गणेश जी उसको तुरन्त लिपिबद्ध कर देते थे। कहते हैं कि छन्द-रचना में किंचित् विलम्ब की सम्भावना होती तो व्यास जी उससे पूर्व कई कूट श्लोकों की रचना कर देते थे, जिनका अर्थ समझने के लिये गणेश जी को कुछ देर तक लेखनी को अवकाश देना अनिवार्य हो जाता था। इस बीच व्यासदेव कई नये श्लोक छन्दोबद्ध कर चुकते थे। ग्रन्थ-रचना के उपरान्त व्यास जी अपनी व्यासगुफा में और गणेश जी अपनी गणेशगुफा में ध्यानावस्थित हो जाते थे।

इस प्रकार इसी व्यासतीर्थ में (आदि० ६३।८९,९६) व्यास और उनके शिष्यों सुमन्तु, जैमिनी, वैशम्पायन और पैल द्वारा वेदों का चार संहिताओं में संकलन और विभाजन किया गया था।

'**केदारखंड**' (२०१।११) के अनुसार मैखंडा (महिषखंड) परगना नागपुर में एक विस्तृत गुफा में भी महामुनीश्वर व्यास का निवास-स्थान है

जाड़े के दिनों में बदरीक्षेत्र हिमपात के कारण पूर्णतः ढक जाता है। अतः वहाँ के निवासी छह महीने के लिए नीचे अलकनंदा की उष्ण-उपत्यकाओं में उतर आते हैं। व्यासघाट देवप्रयाग से आगे ९ मील की दूरी पर हरिद्वार की ओर अलकनन्दा और नयार के संगमस्थल पर एक मनोरम उष्ण उपत्यका में अवस्थित है। पुराणों में इस स्थान का नाम 'इन्द्रप्रयाग' है। यहाँ पर इन्द्र ने वृत्रासुर के वध के लिए शिवजी की तपस्या की थी। स्थानीय किम्बदन्ती के अनुसार जाड़ों में व्यास जी शिष्यों सहित बदरी क्षेत्र से यहाँ चले आते थे। यद्यपि बिरही

नदी की बाढ़ से हमारे प्रायः अधिकांश प्राचीन ऐतिहासिक स्मारक समाप्त हो गये हैं तो भी अलकनन्दा के उस पार, उस सघन-वन-उपत्यका में व्यास-आश्रम की प्राचीन यज्ञ-वेदियों के अवशेष आज भी सुरक्षित हैं। इस प्रकार बदरीकाश्रम के व्यासतीर्थ और व्यासगुफा तथा मैखंडा की व्यासगुफा वेदव्यास के ग्रीष्मकालीन और व्यासघाट उनका शीतकालीन निवास स्थान था।

अनेक ऋषि-महर्षियों, महात्मा, सन्तों और ज्ञानमना महापुरुषों द्वारा सेवित गढ़वाल की पवित्र भूमि का परम्परा से अपना ऐतिहासिक तथा धार्मिक महत्व रहा है। पग-पग पर अधिष्ठित उसके तीर्थ और प्रयाग उसके असाधारण अध्यात्मिक गौरव के परिचायक हैं। आज भी सहस्रों धर्मप्राण नर-नारियाँ, साधु-सन्त प्रति वर्ष वहाँ की यात्रा करके अपने जीवन को धन्य मानते हैं। आधुनिक युग के साहित्य-स्रष्टाओं ने मुक्त कंठ से उसकी प्रशंसा की है और परम्परा द्वारा धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, ऐतिहासिक दृष्टि से भी उसका अपना महत्व है। पुरातन भारतीय इतिहास-लेखन के लिए वहाँ से मौलिक सामग्री प्राप्त हो सकती है।

● ●

आर्य ऋषियों की तपोभूमि गढ़वाल

मध्य हिमालय का यह क्षेत्र हरिद्वार से लेकर बदरीकाश्रम तक वैदिक परम्परा के अनुयायी समस्त आर्य ऋषियों और महापुरुषों की तपोभूमि रहा है। ऋषिकेश और बदरीकाश्रम के निकट दो गाँव—आज भी 'तपोवन' कहलाते हैं। आठवीं-नवीं शताब्दी, स्वामी शंकराचार्य तक इस क्षेत्र की उस अविच्छिन्न आध्यात्मिक परम्परा से, प्राचीन आर्य-साहित्य ओतःप्रोत है।

त्रेतायुग में रावण-कुम्भकर्ण को वध करने के पश्चात् कुछ वर्ष अयोध्या में राज्य कर, पुरुषोत्तम राम ब्रह्महत्या के निवारणार्थ सीता और लक्ष्मण जी सहित देवप्रयाग में अलकनन्दा और भागीरथी के संगम पर तपस्या करने आये थे (**केदारखंड १५०।८७**) :

> **पुनर्देवप्रयागे वै यत्रास्ते देव भूसुरः।**
> **आययौ भगवान् विष्णू रामरूपात्मकः स्वयम् ॥**

'केदारखंड' (अध्याय १५८।५४,५५) में भी दशरथात्मज रामचन्द्र जी का लक्ष्मणसहित देवप्रयाग आने का उल्लेख है :

> **त्रेतायुगे दाशरथी रामो लक्ष्मणसंयुतः।**
> **आयास्यति तदा तत्र दर्शनं प्राप्स्यसि प्रिय ॥**
> **अथ त्रेतायुगांते वै आगतो रामलक्ष्मणौ।**
> **देवप्रयागके क्षेत्रे यत्र सा पुष्पमालिके ॥**

अध्याय १६२।५० में भी रामचन्द्र जी के देवप्रयाग आने और विश्वेश्वर लिंग की स्थापना करने का उल्लेख है :

> **रामो भूत्वा महाभाग गतो देवप्रयागके।**
> **विश्वेश्वरं शिवं स्थाप्य पूजयित्वा यथाविधि ॥**

इतना ही नहीं, देवप्रयाग से आगे श्रीनगर में, रामचन्द्र जी द्वारा प्रतिदिन सहस्र कमल-पुष्पों से कमलेश्वर महादेव जी की पूजा करने का वर्णन है (**केदारखंड**, १८८।८८)।

श्रीनगर ही नहीं वरन् अगस्त मुनि तक रामचन्द्र जी के जाने की लोकोक्तियाँ हैं।*

---

* Philosophy of Vasista Confirms Rama's Visiting these localities—Garhwal Ancient and Modern, page 159.

यज्ञ में बैठे हुए इन्द्रजीत का वध करने के कारण दशरथ-तनय लक्ष्मण जब राजयक्ष्मा से पीड़ित हुए तो उन्होंने लंका-विजय के बाद, ब्रह्महत्या-निवारणार्थ इस क्षेत्र में आकर बारह वर्ष तक शिव की आराधना की थी।

'**रामायण**' के अनुसार सीता जी के दूसरे वनवास के समय लक्ष्मण जी द्वारा सीता जी को ऋषियों के तपोवन में छोड़ आने का उल्लेख है। गढ़वाल में आज भी दो स्थानों का नाम (एक जोशीमठ से १ मील दूर नीती मार्ग पर और एक ऋषिकेश के निकट) तपोवन हैं। '**केदारखंड**' (१५०।८७ और १४६।३५) में रामचन्द्र जी का सीता और लक्ष्मण जी सहित देवप्रयाग-क्षेत्र में पधारने का वर्णन है (इत्युक्त्वा भगवन्नाम तस्थौ देवप्रयागके। लक्ष्मणेन सह भ्राता सीतया सह पार्वती)। राज्याभिषेक से बाद श्रीरामचन्द्र जी का दो बार सीता और लक्ष्मण सहित देवप्रयाग-क्षेत्र में पधारने के उल्लेख से इसी क्षेत्र में सीता के दूसरे वनवास की भी पुष्टि होती है। देवप्रयाग से दो-तीन मील पर सीताकुटी (बिदाकुटी) नामक स्थान है। मालूम होता है कि इसी स्थान पर श्रीरामचन्द्र जी ने किसी उपयुक्त ऋषि-आश्रम में सीता जी को छोड़ आने के लिए, लक्ष्मण जी के साथ विदा किया था। सीताकुटी (बिदाकुटी) से कुछ मील आगे, 'मुछयाली' गाँव में सीता जी का मन्दिर है। मुछयाली गाँव से ऊपर सीतावन-स्यूँ और सल्ड गाँव में सीता जी का प्राचीन मन्दिर है। सल्ड गाँव से ४, ५ मील आगे एक परम रमणीक, समतल एवं विस्तृत भू-भाग है, जिसका नाम सीता जी के नाम पर सीतावनस्यूँ है। इस क्षेत्र में सीता जी और लक्ष्मण जी का ग्यारह मन्दिरों से घिरा हुआ एक प्राचीन मन्दिर है, जहाँ प्रति वर्ष स्थानीय जनता द्वारा सदियों से सीता जी के पृथ्वी-प्रवेश की घटना की स्मृति में दीवाली के बाद एकादशी के दूसरे दिन बड़ा मेला लगता है। सीता जी और लक्ष्मण जी इस क्षेत्र के आराध्य देव हैं। गाँव के लोग ढोल बजाते हुए, स्थानीय दहेज (दूण-कंडी) के साथ सीता जी की गुड्डी बना कर एक विस्तृत खेत के मध्य में (संभवतः जहाँ पर श्रीरामचन्द्र जी ठहरे हुए थे, और जहाँ पर स्थानीय लोकगाथा के अनुसार सीता जी पृथ्वी में प्रविष्ट हुई थीं) ले जाते हैं। प्रचलित लोक-गाथानुसार जब सीता जी धरती में धँस रही थीं, तो राम ने उन्हें पृथ्वी-गर्भ से बाहर निकालने के लिए उनकी चोटी पकड़ ली, परन्तु उनके हाथों पर सीता जी के केवल बाल ही रह गये और सीता जी पृथ्वी-गर्भ में समाधिस्थ हो गयीं। मेले की समाप्ति पर यात्री सीता जी के पवित्र बालों की स्मृति में, बावड़ की एक रस्सी बट कर, उसके तृणों को नोच कर उन्हें सिर पर रख कर ले जाते हैं। इस समाधिस्थल की पूजा के लिए प्राचीन काल से पुजारी नियुक्त हैं। उत्सव के दिन, लक्ष्मण जी के मन्दिर से—लक्ष्मण जी के विशाल ध्वज फहराते हुए आते

हैं और उसके पश्चात् सीता जी के समाधिस्थल की विधिवत् पूजा की जाती है। प्राचीन किम्बदन्ती के अनुसार इस क्षेत्र के बीच में वाल्मीकि-आश्रम था, जहाँ पर एक प्राचीन मन्दिर आज भी अवस्थित है।

'रामायण' में भागीरथी के तट पर वाल्मीकि-आश्रम का वर्णन है। वाल्मीकि-आश्रम में गंगा जी से अधिक जाह्नवी और भागीरथी का उल्लेख किया है। महाकवि कालिदास ने भी **'रघुवंश'** में (भागीरथी तीर तपोवनानि) भागीरथी के तट पर स्थित तपोवन की पुष्टि की है। सीतावनस्यूं के इस क्षेत्र से भागीरथी और अलकनन्दा नदी केवल ४, ५ मील दूरी पर हैं। हमारे इस कथन की पुष्टि में प्रस्तुत कागजी शहादतें एवं प्राचीन काल से प्रचलित लोक-गाथाएँ राम, लक्ष्मण और सीता जी से सम्बन्धित इस क्षेत्र की ऐतिहासिक वास्तविकता को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

आर्यों के आराध्य पुरुषोत्तम राम, लक्ष्मण और सीता जी ही नहीं, द्वापर युग में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जी ने भी इस क्षेत्र में आकर, हिमालय की उपत्यका में, गंगातट पर कठिन तपस्या कर रुक्मिणी के गर्भ से प्रद्युम्न को जन्म दिया। इसीलिए गंगा जी को 'प्रद्युम्नस्यैकजननी' कहा गया है। **'महाभारत'** (सौप्तिक० १२।३०,३१ ; वन पर्व १२।११) में भगवान् कृष्ण द्वारा गन्धमादन पर्वत पर दस हजार वर्ष तक तपस्या करने का उल्लेख है :

> **दशवर्ष सहस्राणि यत्र सायंगृहो मुनिः।**
> **व्यचरस्त्वं पुरा कृष्ण पर्वते गन्धमादने॥**
> **दशवर्ष सहस्राणि दशवर्ष शतानि च।**
> **पुष्करेष्ववसः कृष्ण त्वमपो भक्षयन् पुरा॥**

अर्जुन कहते हैं कि 'हे कृष्ण! आपने गन्धमादनपर्वत पर स्वयं गृहमुनि के रूप में दस हजार वर्ष तक विचरण किया, ग्यारह हजार वर्ष तक पुष्कर तीर्थ में जल पीकर निवास किया। विशालापुरी के बदरीकाश्रम में दोनों भुजायें उठाये केवल वायु का आहार करते हुए सौ वर्ष तक एक पैर के सहारे खड़े रहे। आपने सरस्वती नदी के तट पर उत्तरीय वस्त्र तक का त्याग कर बारह वर्ष तक यज्ञ करते हुए अपनी देह को सुखा डाला।'

अर्जुन ने भी गन्धमादन पर तपस्या की (महा० वन० ३७।४१) थी। देवर्षि नारद ने यहाँ एक हजार वर्ष तक व्रत-अनुष्ठान किया था (वन० ११।८,९)। इसी पर्वत पर देवर्षि नारद का आश्रम है (शांति० ३४६।३)। बदरी क्षेत्र में व्यासगुफा में बैठकर व्यास अपने शिष्य सुमन्तु, जैमिनी, पैल तथा वैशम्पायन को वेद पढ़ाया करते थे (शांति ३२७।२,२७)।

महाराजा पांडु ने कुन्ती और माद्री सहित पांडुकेश्वर में, गन्धमादन क्षेत्रान्तर्गत

तपस्या की थी (आदि० ११८।४८) और यहीं पाँचो पांडवों का जन्म और नामकरण संस्कार हुआ (आदि० १२३) । यहीं पांडु की मृत्यु तथा अपने मृतपति के साथ माद्री सती हुई (आदि० १२४) 'विष्णु पुराण' में यदुवंश के पतन पर भगवान् कृष्ण ने इस क्षेत्र को पृथ्वी में पवित्रतम बतलाते हुए अपने प्रिय सखा उद्धव को बदरीकाश्रम में चले जाने का उपदेश दिया था :

यद्बदर्याश्रमं पुण्यं गन्धमादनपर्वते ।
नरनारायण स्थाने तत्पवित्रं महीतले ॥

'उद्धव चौंरी' के नाम से बदरीकाश्रम में उनकी प्राचीन स्मृति आज भी सुरक्षित हैं । इसी उत्तराखंड में ऋषीकेश के निकट गान्धारी, कुन्ती, संजय और विदुर ने भागीरथी के पावन-तट पर कठिन तप करते हुए दावानल में भस्म हो कर शरीर त्याग किया (आश्रम० १८।१६०।२०, १६।१८) था। उनके भस्म हो जाने के पश्चात् संजय आगे हिमालय में चले गये (आश्रम० ३७।३३।३४) । इसी प्रदेश में श्रीकृष्ण जो ने महात्म ।उपमन्यु का आश्रम देखा था (अनु० १४)। महामुनि शुकदेव ने ऊर्द्धलोक में गमन करने के लिए इसी पर्वत-प्रदेश में पदार्पण किया था (शांति ३३३।५।१०) । पर्वतराज हिमवान का यह शैल-शिखर शिव और उमा का निवास स्थान है (उद्योग० १११।५) । यहीं कुमार कार्तिकेय का जन्म और अभिषेक हुआ था (शल्य० ४५।१४, १८) । योगाचार्य भगवान् सनत्कुमार ने यहीं **कनखल** के पास गंगा-तट पर मोक्ष प्राप्त किया (वन० १३५।५) । ऋषि देव शर्मा, जो जन्मेजय के सर्प-सत्र के सदस्य थे, **देवप्रयाग** में रहते थे (अनु० १६५।४६) । शेषनाग यहीं तपस्या करते थे (आदि० ३६।३७) । बदरीकाश्रम में चार्वाक ने तपस्या की थी (शांति० ३६।३) ।

यहीं कैलाश पर राजा सगर और भगीरथ ने घोर तप किया (वन पर्व १०६, १०८) । महावीर हनुमान जी भी इसी गन्धमादन क्षेत्र में (हनुमान चट्टी) के निकट निवास करते थे (वन० १४७) । हिमालय के इसी क्षेत्र में ऋषि अष्टावक्र भी रहते थे (अनु० १६।२७।४०, ४१) । सुरभि ने यहीं तपस्या की (अनु० ८३।३८) । भृगुतुंग पर महर्षि भृगु ने तप किया (वन० ६०।८३) । महर्षि भृगु ने (शांति० १६२) हिमालय के उत्तर पार्श्व में स्थित इस उत्कृष्ट लोक की विलक्षणता और महत्व का प्रतिपादन किया है ।

अगस्तमुनि स्थान से ६ मील दूर, स्वामी कार्तिकेय का प्राचीन मन्दिर है । यहाँ पर उन्होंने तपस्या की थी । इसी कारण इस पर्वत का नाम कार्तिकेय पर्वत है (केदार ४२।३६) । उत्तरकाशी में महर्षि यमदग्नि अपनी पत्नी और पुत्र के साथ तपस्या करते थे (केदार० ६४।१५) । यहीं पर परशुराम जी ने अपने पिता की आज्ञानुसार माता रेणुका का वध किया था । यहीं पर कार्तवीर्य ने यमदग्नि

ऋषि का वध कर, कामधेनु का हरण किया था। परगना दशोली में नन्दप्रयाग से सात मील दूर 'वैरासकुंड' में दशमौलि रावण ने अपने दशों शिर, दशों मौलियों की आहुति देकर महादेव जी को प्रसन्न किया था।

इस क्षेत्र में हरिद्वार से कैलासपर्वत तक स्थान-स्थान पर पर्वत-उपत्यकाओं में, सरिता-संगमों पर कई प्रयागों एवं ऋषि-आश्रमों की स्थापना कर प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने वैदिक संस्कृति का प्रचार-प्रचार किया था।

कनखल—हरिद्वार से २ मील नीचे, गंगा जी के दाहिने तट पर है। यह प्राचीन काल में दक्ष-प्रजापति की राजधानी थी। इस स्थान पर राजा दक्ष ने दक्ष-यज्ञ किया था।

हरिद्वार—यहाँ से बदरीनाथ यात्रा का मुखद्वार है। अतः इसे हरिद्वार कहते हैं। यहाँ प्रतिवर्ष लाखों हिन्दू-यात्री, हर की पैड़ी में स्नान करने आते हैं। अंग्रेजों के आने से पूर्व हरिद्वार और कनखल गढ़वाल राज्यान्तर्गत थे। अब जिला सहारनपुर में हैं। हरिद्वार में कश्यप ऋषि (कश्यप संहिता) और ऋषि भरद्वाज रहते थे (महा० आदि० १२६।६)।

ऋषीकेश—हरिद्वार से १५ मील की दूरी पर, प्राचीन काल में सप्तऋषियों की की तपोभूमि रही है। यहाँ भरत जी का मन्दिर है। इसके कुछ दूर पर तपोवन है। प्राचीन काल में ऋषि-महर्षि यहाँ आकर तपस्या करते थे। इस क्षेत्रान्तर्गत स्वर्गाश्रम है, जहाँ आज भी कई विद्वान् साधुओं के आश्रम हैं। यही लक्ष्मणझूले में लक्ष्मण जी ने भी तपस्या की थी। आज मन्दिर के रूप में वहाँ उनका स्मारक है।

इन्द्रप्रयाग—अलकनन्दा और नावालिका (नयार) के संगमस्थल व्यासघाट में प्राचीन काल में वृत्र का वध करने के लिये इन्द्र ने शिव की तपस्या की थी। इसी स्थान पर अलकनन्दा के दाहिने पार्श्व में, उस पार महर्षि व्यास का शीतकालीन आश्रम भी था (**केदारखंड** १६४। १०)।

> **इन्द्रप्रयाग इति वै सर्वतीर्थोत्तमोत्तम।**
> **आराधितस्तत्र देव इन्द्रेण शिव उत्तम॥**

देवप्रयाग—भागीरथी और अलकनन्दा के संगमस्थल देवप्रयाग में रघुकुल तिलक राम ने ब्रह्महत्या के निवारणार्थ तपस्या की थी (केदारखंड १५०।८७):

> **इत्युक्त्वा भगवान्राम तस्थौ देवप्रयागके।**
> **लक्ष्मणेन सह भ्राता सीतया सह पार्वती॥**

शिवप्रयाग—अलकनन्दा और खांडवनदी के संगम पर विल्वकेदार चट्टी के पास 'शिवप्रयाग' नामक प्रसिद्ध तीर्थ है। वहाँ पर अर्जुन ने भिल्लवकेश्वर महादेव की तपस्या कर महादेव जी से पाशुपत अस्त्र प्राप्त किया था (केदारखंड १८१।९७) :

शिवप्रयाग इति वै गंगाखांडवयोर्युतौ।
आरराध शिवं यत्र खांडवो नाम वै मुनिः॥
ग्रहाण मन्त्रसहितं शस्त्रं पाशुपतं मम।
तेनैव शत्रुसैन्यानि जेस्यसि त्वं न संशयः॥

रुद्रप्रयाग—अलकनन्दा और मन्दाकिनी के संगम स्थल रुद्रप्रयाग में जो सब तीर्थों से उत्तम है (सर्वतीर्थोत्तम शुभे) नारद जी ने शिव को सन्तुष्ट कर, उनसे संगीत शास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया था (केदार० ६३।१६)।

प्राप्तं तत्सर्वमखिलं रागाख्यां परमं शिवम्।

कर्णप्रयाग—अलकनन्दा और पिंडर (क्रमू) के मिलनस्थल कर्णप्रयाग में राजा कर्ण ने भगवती उमा की शरण में सूर्य भगवान् की आराधना कर उनसे कवच-कुण्डल प्राप्त किये थे।

नंदप्रयाग—अलकनन्दा और नन्दाकिनी के संगमस्थल नंदप्रयाग में राजा नन्द ने भगवान् नारायण की आराधना की (५८।१)। यहाँ पर महा-तेजस्वी कण्व का आश्रम भी था (केदार० ५७।११)।

कण्वो नाम महातेज महर्षिर्लोकविश्रुतः।
तस्याश्रमपदे नत्वा भगवन्तं रमापतिम्॥

विष्णुप्रयाग—गन्धमादन पर्वत क्षेत्रान्तर्गत धवली और अलकनन्दा के संगम पर विष्णुप्रयाग में नारद जी ने अष्टाक्षरी मन्त्र द्वारा भगवान् विष्णु को प्रसन्न किया था। यहाँ पर भगवान् विष्णु का मन्दिर है (केदार० ५८।५०)।

विष्णुकुंडे प्रयागे तु यत्र विष्णुः सनातनः।
आराधितो नारदेन प्रत्यक्षामगमत्पुरा।
सर्वज्ञत्वं ददौ तस्मै सन्तुष्ठो भगवान् हरिः।

केशवप्रयाग—अलकनन्दा और सरस्वती के संगमस्थल पर केशवप्रयाग तीर्थों में उत्तम है (केदार० ५८।६६)।

केशवप्रयागतीर्थः क्षेत्राणा परमं मतम्।
मणिभद्राश्रमस्तत्र महाविष्णुश्च तत्र वै॥

सूर्यप्रयाग—केदार और मन्दाकिनी के मध्य में सूर्यप्रयाग नामक पवित्र तीर्थ है

(केदार १६४।११)। यहाँ प्राचीन काल में सप्त ऋषियों ने सूर्य की आराधना की थी(१६४।४)। मन्दाकिनी नदी के तट के ऊपर संगम से एक बाण की दूरी पर महर्षि विश्वामित्र का तपस्थल है, जो सब पापों का नाश करने वाला है (केदारखंड १६४।३३) :

मंदाकिन्यास्तटे चोर्द्धं संगमाच्छरसम्मिते ।
भूमि भागे परं तीर्थं विश्वामित्र तपः स्थलम् ।।
विश्वामित्राख्य तीर्थं तु सर्व पाप प्राणाशनम् ।

इस प्रकार इस केदार क्षेत्र में गौरीप्रयाग (केदार १८०।६०), विश्वप्रयाग (१०२।६१)। मुक्तिप्रयाग (१८०।८६) आदि अनेक प्रयागों का महात्म्य प्रतिपादित है।

इस प्रकार पुरातन अतीत से आर्य ऋषियों ने उत्तराखण्ड को अपनी साधना और साहित्य-सृजन का केन्द्र बनाया। उनके नाम से अधिष्ठित आश्रम तथा पीठ आज भी उनकी पुण्यस्मृति को अमर बनाये हुए हैं। ये स्मारक धर्मप्राण और ज्ञानमना भारतीय जनता के प्रेरणा-स्रोत हैं। भारतीय इतिहास के वे आधार-स्तम्भ हैं। उनकी सुरक्षा और उनका जीर्णोद्धार होना आवश्यक है। स्थानीय जनता और सरकार, दोनों को ही इस ओर ध्यान देना चाहिए। इस देश की महान् राष्ट्रीय थाती के रूप में उनकी देख-रेख होनी परमावश्यक है।

● ●

गढ़वाल का आध्यात्मिक महत्व

ऋग्वेद के अनुसार पर्वत-प्रान्त में उसके सरिता-तटों, नदियों के संगमस्थलों पर यज्ञ-क्रियाओं से वेदज्ञ विप्रों का जन्म हुआ है। आचार्य सायण, जिन्होंने वेदों का परम्परागत अर्थ किया है, सप्तसिन्धु की सप्त सरिताओं में गंगा जी को प्रमुखता देते हैं भाष्यकार महीधर ने भी पर्वत-प्रान्त में गंगा-तट पर ही आर्य विप्रों द्वारा अनेक तीर्थों और प्रयागों की स्थापना का प्रतिपादन किया है। पंजाब में सिन्धु नदी और उससे सन्धि करने वाली किसी भी सरिता-तट पर आर्य-जाति द्वारा स्थापित कहीं कोई महत्वपूर्ण तीर्थस्थल नहीं है। सप्तसिन्धु के प्रति आर्यों ने वेद और पुराणों में असीम श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित की है। उसका वर्तमान पंजाब-प्रान्त के प्रति हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों में सर्वथा अभाव है।

पंजाब आज तक भी पूर्ववत् वैदिक परम्परा के कट्टर अनुयायी आर्यों के आर्यावर्त्त के ही अन्तर्गत रहा है। वहाँ तब से आज तक अविच्छिन्न रूप से हिन्दुओं का ही तो निवास स्थान रहा है। यदि वह ऋग्वैदिक आर्यों का सप्तसिन्धु होता तो प्राचीन ऋग्वैदिक पंजाब और अर्वाचीन पंजाब की जलवायु में, उसकी भौगोलिक स्थिति में तथा उसके आध्यात्मिक महत्व में आज आकाश-पाताल का क्यों अन्तर पड़ गया है? सदियों के भौतिक परिवर्तनों के कारण उसकी जलवायु में भले ही परिवर्तन हो गया हो, परन्तु आर्यों की परम आराध्या जननी जन्मभूमि पंजाब और उसकी वेद-वन्दिता सिन्धु नदी के प्रति वैदिक परम्परा के कट्टर समर्थक आर्य-सन्तति के परम धर्म-परायण हृदयों में आज उस धार्मिक श्रद्धा का क्यों सर्वथा लोप हो गया है? गढ़वाल में गंगा, यमुना, गोमती, सरयू, सरस्वती और मंदाकिनी जहाँ आज भी अपने ऋग्वैदिक नाम से पुकारी जाती हैं, वहाँ आर्य जाति द्वारा पंजाब की नदियों के ऋग्वैदिक नाम क्यों सर्वथा विस्मृत हो गये? वेदों पर आधारित हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों में एवं पौराणिक गाथाओं में पंजाब के किसी भी स्थल का क्यों आदरणीय उल्लेख नहीं किया गया है? इसके सम्बन्ध में श्री अविनाशचन्द्र दास, श्री नारायण पावगी तथा डाक्टर सम्पूर्णानन्द ने, जो पंजाब को आर्यों का सप्तसिन्धु देश घोषित करते हैं, कहीं कोई स्पष्टीकरण प्रस्तुत नहीं किया है।

'आर्यों का आदि देश' के लेखक एवं पंजाब सप्तसिन्धु के प्रबल समर्थक डॉ० सम्पूर्णानन्द जी सन् १९५८ में, जब वे मुख्य मंत्री उत्तर प्रदेश की हैसियत

से गढ़वाल पधारे थे 'त्रिपथगा' के 'हिमालय अंक' में अपनी इस यात्रा के विवरण में लिखते हैं :

"कश्मीर अपने प्राकृतिक सौंदर्य के लिए विश्व में विख्यात है। कश्मीर की तुलना यहाँ नहीं, परन्तु मेरी अनुभूति (सम्भव है दूसरों की प्रतीति कुछ और हो) कश्मीर में प्रकृति-शृंगार की ओर झुकाती है, इस क्षेत्र में शान्तरस की ओर। शृंगार को ब्रह्मानन्द का सहोदर कहा है, परन्तु शान्तरस साक्षात् ब्रह्मानन्दमय है।

परन्तु यहाँ केवल सुन्दर प्राकृतिक विषयों का आकर्षण नहीं है। इस भूमि से पदे-पदे हमारी पुरानी कथाओं और अनुश्रुतियों के झंकार उठते हैं। नदियों और पुलिनों से, पहाड़ों की चोटियों से, हमारा पुराना इतिहास बोलता है। सप्तसिंधव निवासी ऋषियों ने जिस संस्कृति को अंकुरित किया था, वह यहाँ पल्लवित हुई। सिन्धु हमसे छूट गयी। सरस्वती अन्तर्हित हो गयी। परन्तु गंगा, यमुना अब भी हैं। यह पावन भूखंड अब भी हमको अपना अमर सन्देश देता रहता है। आज भी विरल भारत की यही इच्छा होती है कि वह हिमालय के प्रांगण में तप और भगवादाराधन में अपना कालयापन कर सके और यहीं शरीर-त्याग करे। आज भी लाखों श्रद्धालु इस प्रदेश के मन्दिरों में दर्शन करके अपने जीवन को पवित्र बनाने की लालसा रखते हैं। न जाने कितने ममुक्षु साधु-महात्माओं की खोज में यहाँ आते हैं!"

गढ़वाल की भूमि को सप्तसिन्धु की ऋग्वैदिक संस्कृति को पल्लवित करने का श्रेय देकर, उसकी अद्वितीय आध्यात्मिकता से प्रभावित होते हुए भी उसके स्थानीय ऐतिहासिक एवं भौगोलिक तथ्यों से अपरिचित रहने के कारण माननीय सम्पूर्णानन्द गढ़वाल को स्पष्टतः सप्तसिन्धु स्वीकार नहीं कर सके। वेद और उसके अनुयायियों की परम आराध्या सिन्धु और सरस्वी उनसे क्यों छूट गयी; उनके स्थान पर आर्य जाति ने गंगा (अलकनन्दा) को उसके समकक्ष आदरणीय स्थान क्यों प्रदान किया, इसका उन्होंने अन्य जिज्ञासाओं की तरह कोई तर्क-संगत समाधान प्रस्तुत नहीं किया है। अपने यात्राकाल में व्यक्तिगत अनुभूति के आधार पर यद्यपि उपर्युक्त विवरण द्वारा वे गढ़वाल को सप्तसिंधु के समकक्ष आध्यात्मिक सौन्दर्य से सम्पन्न घोषित कर चुके हैं, तो भी यदि वे गढ़वाल की भौगोलिक एवं ऐतिहासिक वास्तविकताओं का कुछ अधिक विस्तृत अध्ययन एवं मनन करते तो वे गढ़वाल को निस्संदेह आर्यों का आदि देश सप्तसिन्धु स्वीकार कर लेते।

स्व० वी० एन० दातार भी जो केन्द्रीय मंत्री थे, अपनी बदरी-केदार तीर्थ-यात्रा (१९६१) में लिखते हैं :

गढ़वाल का सारा क्षेत्र ही ऋषियों और महात्माओं को समर्पित आश्रमों,

समाधियों तथा देवमन्दिरों से वस्तुतः भरा पड़ा है। इनमें से बहुत से मुझे इस मार्ग में देखने को मिले। इस क्षेत्र में विचरण करने से ऐसा अनुभव होता है, मानों अत्यन्त प्राचीन काल के महान् भारतीयों के कार्यों द्वारा पुण्यकृत इस भूमि में घूम रहे हों।"

वेद और पुराणों में प्राचीन महत्वपूर्ण स्थानों, विषयों और व्यक्तियों का विशद ऐतिहासिक एवं आध्यात्मिक जीवन-वृत्त अंकित है। सूत्ररूप में वर्णित वैदिक घटनाओं का पुराणों में विस्तारपूर्वक विवेचन एवं प्रतिपादन है, परन्तु उनमें पंजाब और उसकी नदियों की आध्यात्मिक विशेषताओं का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। पंजाब में सिन्धु नदी के तट पर हिन्दुओं का न तो कोई उल्लेखनीय तीर्थ स्थान है और न धार्मिक दृष्टि से वहाँ हिन्दू शास्त्रानुमोदित कोई महत्वपूर्ण प्राचीन धार्मिक स्मारक ही प्राप्त होते हैं। अतः भौतिक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से पंजाब आर्यों का आदि देश प्रमाणित नहीं होता। इसके विपरीत आर्य-मनीषियों द्वारा आर्य साहित्य में पंचनद पंजाब के प्रति कई स्थलों पर घोर घृणाभाव व्यक्त किया गया है; उसको पतित प्रदेश कहा गया है।

'**महाभारत**' में लिखा है कि पंचनद देश जहाँ पाँच नदियाँ बहती हैं, बहिर्गत देश है। यहाँ के निवासियों का आचार अत्यन्त निन्दित है। यह पापी देश है। अन्य सभी देशों में पुराण-धर्म के अनुयायी हैं, साधु-सन्तों का निवास है, केवल मद्र और कुटिल पंचनद के निवासियों में धर्म का सर्वथा अभाव है। जब ब्रह्मा की सृष्टि से सब देश शाश्वत धर्म का पालन करने लगे, तब पंचनद देश के धर्म को देख कर स्वयं ब्रह्मा ने कहा कि इस देश को धिक्कार है (कर्ण पर्व २७।७७१-७९, अध्याय २०)।

कुछ विद्वानों के कथनानुसार, यूनानी-यवनों के सम्पर्क में आकर पंचनद देशवासी आचार-भ्रष्ट हुए, परन्तु '**महाभारत**' के इस कथन से सृष्टि में सर्वत्र शाश्वत धर्म की स्थापना पर सृष्टि-उत्पत्ति के समय ही, आर्योद्भवकाल में ब्रह्मा ने स्वयं पंचनद देश में, आर्य धर्म के विरुद्ध आचार के दर्शन कर लिये थे। अतः यह देश आर्यों का पितृ देश नहीं हो सकता।

जो इतिहासकार, कुरुक्षेत्र को भी देव-निर्मित देश—ब्रह्मावर्त्त कहते हैं और जहाँ आर्यों की देवनदी सरस्वती की स्थापना करते हैं, उस कुरुक्षेत्र को जो बाह्लीक देश का एक भाग है '**महाभारत**' में आर्य जाति के लिए वर्जित-देश कहा गया है :

आर्यों को यहाँ एक से दो दिन रहना ठीक नहीं है।

'**महाभारत**' तीर्थ यात्रा पर्व में तीर्थयात्रियों के लिए उपदेश है कि वे कुरुक्षेत्र में एक दिन से अधिक न रहें। यदि वे एक दिन से अधिक वहाँ बसेंगे तो

जो दिन में, देखा है रात्रि में ठीक उससे उलटा आचार पायेंगे। मनु ने जिस सरस्वती के देश (ब्रह्मावर्त्त) का आचार, आर्य-जाति के लिए अनुकरणीय कहा है, वह देश कुरुक्षेत्र कदापि नहीं है।

कश्मीर का प्राचीन काल भी भौतिक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से प्राचीन आर्य-मनीषियों के समक्ष विशेष उल्लेखनीय रहा है, यह भी प्रमाणित नहीं होता। उसकी प्राकृतिक श्री-सम्पन्नता भी, बिल्कुल अर्वाचीन कृति है। यद्यपि अलंघ्य पर्वत मालाओं से आच्छादित होने के कारण गढ़वाल में सर्व-साधारण का प्रवेश, कश्मीर की तरह सुविधाजनक नहीं रहा है, तो भी उसका प्राकृतिक सौन्दर्य, मीलों तक फैले हुए उसके प्राकृतिक पुष्पोद्यान, उसके नन्दन-कानन कश्मीर से किसी प्रकार कम आकर्षक नहीं हैं; जो लोग काश्मीर को पृथ्वी का स्वर्ग कह कर उसको आर्यों का आदि देश घोषित करते हैं, वे भी, वेद और उसके अनुवर्ती साहित्य में कश्मीर आर्य-जाति द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से क्यों सर्वथा उपेक्षित रहा है, इसका युक्तियुक्त समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके।

गढ़वाल सप्तसिन्धु है। वह मनु के कथनानुसार 'देवनिर्मित देश' आर्यजाति का पितृदेश है। उसकी देवनदियों, सरस्वती, गंगा और मंदाकिनी में ऋग्वैदिक सिन्धु को सम्पूर्ण भौतिक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक भाव आज भी आर्य-जगत् में उसी प्रकार सुरक्षित हैं। आर्य जाति के सप्तसिन्धु इस उत्तरा खंड की आध्यात्मिक परम्परा ऋग्वेद-काल से लेकर आज तक आर्यावर्त्त के समस्त भू-भागों में सर्वविदित है। ऋग्वेद में वर्णित उसकी भौगोलिक परिस्थिति एवं जलवायु अपरिवर्तित हैं। सदियों से इस दुर्गम पर्वत प्रदेश में उसकी देवनदियों के तटों पर, उसके पवित्र तीर्थों, प्रयागों की यात्रा करता हुआ, भारतवर्ष के प्रत्येक भू-भाग से लाखों तीर्थ-यात्रियों का जनसमूह इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं। समस्त हिन्दू साहित्य, वेद और पुराण इस स्वर्ग-भूमि का स्तवन करते नहीं अघाते। इस पर्वत-प्रान्त की यातायात-सम्बन्धी अनेक विषमताओं के बावजूद, अनेक आर्य-ऋषियों ने आयावर्त्त के विभिन्न भू-भागों से यहाँ आकर ब्रह्मानंद प्राप्त किया। आज भी अंतिम समय गंगा-जल पीकर प्रत्येक हिन्दू अपने को धन्य समझता है। आज भी हिन्दू-सन्तति सुदूर देशों से आकर हरिद्वार गंगा जी में अपने पितरों की भस्मी एवं अास्थि-विसर्जन कर जीवन सफल समझती है। आज भी जो प्रत्येक हिन्दू यह कामना करता है कि वह 'गंगातीरे हिमगिरि-शिलाबद्धपद्मासनस्य' कह कर जीवन-यापन करे, उसका कारण अपने इस पितृदेश के प्रति आर्यजाति का वह परम्परागत पूज्य भाव नहीं तो क्या है?

आचार्य शंकर ने सुदूर दक्षिण देश से पैदल चल कर दो बार बदरी-केदार

की यात्रा की और अन्त में ज्योतिर्मठ की स्थापना के बाद बत्तीस वर्ष की आयु में केदारक्षेत्र में आकर ही समाधिस्त हुए। केदारनाथ के मन्दिर के पीछे लगभग एक फर्लांग की दूरी पर उनका समाधिस्थल है (**गढ़वाल गजेटियर्स**, पृ० ५६)। उन्होंने व्यासतीर्थ में चार वर्ष तक रहकर '**ब्रह्मसूत्र**', '**भगवद्गीता**' और उपनिषदों पर विशद भाष्य लिखे। आर्य-मनीषियों द्वारा बार-बार इस अलंघ्य पर्वत-प्रदेश की इतनी असह्य कष्ट-साध्य यात्रा क्या अकारण, केवल मनोरंजनार्थ थी ? ऐसी आशा नहीं की जा सकती है।

कुछ लोगों का यह कथन है कि आचार्य शंकर द्वारा, ज्योतिर्मठ की स्थापना के बाद इस बदरी-केदार-क्षेत्र की आध्यात्मिकता की श्री-वृद्धि हुई है, निराधार है। स्वामी शंकराचार्य से पूर्व भी वैदिक काल से आर्य जाति द्वारा, बदरी-केदार का अविच्छिन्न यात्रा-क्रम जारी रहा है। प्राचीन काल में इस क्षेत्र की परम आध्यात्मिकता से प्रभावित जिन आर्य-ऋषियों ने यहाँ आकर तपस्या की और मोक्ष-लाभ किया उनका वेद और पुराणों में लिपिबद्ध वर्णन है। आचार्य शंकर से हजारों वर्ष पूर्व, ऋग्वैदिक ऋषि नर और नारायण यहीं निवास करते थे। हजारों ब्राह्मणविद्वानों एवं वेदज्ञ ऋषियों के साथ महर्षि वेद व्यास ने, वेद, '**महाभारत**' और पुराण ग्रन्थों की यहीं रचना की की। स्वयं आचार्य शंकर की यात्रा उसी प्राचीन आर्य-परम्पराओं का अनुकरण है। इस अलंघ्य हिम-आच्छादित पर्वत-प्रदेश में जीवन-यापन एवं यातायात की अनेक विघ्न-बाधाओं के बावजूद अंग्रेजी-राज्य में भी बदरीनाथ के यात्रियों की लिपिबद्ध संख्या केवल छह महीने की, ५० हजार से लेकर दो लाख तक थी। अंग्रेजी-राज्य के आरम्भ में—सन् १८२० में ट्रल साहब ने बदरीनाथ जाने वाले यात्रियों की संख्या सत्ताईस हजार बतलायी है ; पौ साहब सन् १८८४ में अपनी '**सेटलमेंट रिपोर्ट**' (पृष्ठ ७३) में लिखते हैं कि "बदरीनाथ के यात्रियों की संख्या ४० हजार से ५० हजार तक हैं, परन्तु जिस वर्ष हरिद्वार में कुम्भ का मेला लगता है, यात्रियों की संख्या एक लाख तक पहुँच जाती है।" स्मरण रहे कि यात्रियों की यह संख्या केवल छह महीने की है। क्योंकि छह महीने के बाद अत्यन्त हिमपात से ढक जाने के कारण उक्त यात्रा-मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। लिपिबद्ध यात्रियों के अतिरिक्त ऐसे भी अनेक यात्री होते हैं, जिनका लेखा-जोखा नहीं होता।

क्या यात्रियों की यह सर्वाधिक संख्या आर्यों के इस पितृदेश की असामान्य आध्यात्मिकता के प्रतिपादन के लिए पर्याप्त नहीं है ?

"**महाप्रस्थानेर पथे**' आदि प्रसिद्ध यात्रा-वर्णनों के लेखक बंगला के विख्यात साहित्यकार श्री प्रबोध कुमार सान्याल ('**ज्ञानोदय**' मार्च ६४)

लिखते हैं :

"ब्रह्मपुरा जितना हिमालय का और कोई भी अंचल भारतवासियों को प्रिय नहीं है; इसी से यात्रियों के कल-कंठ से ब्रह्मपुरा सदा मुखरित रहता है। इसीलिए आचार्य शंकर की आध्यात्म प्रतिभा की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति यहीं हुई। उनके पहले भी युग-युगान्तर से भारतीय जनता इस गंगावतरण-पथ पर यात्रा करती रही है। भारत के लोग जुग-जुग यही कहते आये हैं कि ब्रह्मपुरा का जोड़ भारत में दूसरा कोई नहीं है।

देवतात्मा हिमालय के रहस्यलोक अलकापुरी को देखने के लिए मर्त्यलोक के तीर्थयात्री दौड़े आते हैं। इस कड़ी चढ़ाई के रास्ते में कितनों ही की छाती फट गयी, कुछ साँस न ले सकने के कारण मर गये, कुछ बर्फ के अंधड़ से हताहत हुए। कितने ही रोगपथ श्रम और उपवास न सह सकने से भी मर गये—इतिहास में इनकी गिनती नहीं है, कहीं भी। फिर भी ब्रह्मपुरा के गंगापथ के रम्य आकर्षण से किसी भी युग के लोगों को स्थिर नहीं रहने दिया। दर्रे के अन्दर से दौड़ती उन्मादिनी गंगा की दुरन्त धारा के समान ही उसी के किनारे-किनारे तीर्थ-यात्रियों की अजेय प्राण-धारा भी अनिवार गति से दौड़ती रही है। कभी आँधी, वर्षा, कड़ी सर्दी कुहरा, महासूर्य की आग बरसाने वाली तेज धूप से वे परेशान होते हैं, तो कभी ऋतुराज के नव घनश्याम वसन्तोत्सव से मुग्ध हो जाते हैं।

ब्रह्मपुरा के पथ पर आजकल भी तीर्थयात्री चलते हैं। प्यासे, थके-माँदे आँखों में सपने सँजोये, उत्कंठित; कौतूहल से गर्दन ऊँची किये चींटियों की कतारों-सा उनका कारवाँ चला जा रहा है। वे कभी भागीरथी के किनारे चलते हैं, तो कभी अलकनंदा पर और कभी मंदाकिनी, नंदाकिनी और विष्णु गंगा पर, कभी पिंडर और नयार में, तो कभी मूलगंगा और नीलधारा में पहुँचते हैं। कोई अपनी खोई हुई संस्कृति खोजने आया है, तो कोई जीवनज्वाला शान्त करने आया है। शायद, पति ने दूसरी बार शादी की है, इसलिए पहली पत्नी तीर्थ-यात्रा करने आयी है। संतान न होने से सारी सम्पत्ति रसातल जाने वाली है। बहुत बड़े जमीन्दार सन्तान-कामना से आये हैं। संसार के किसी भी अखाड़े में जगह नहीं मिली, गुसाईं जी वैष्णवी को साथ लेकर यात्रा पर निकले हैं। एकमात्र योग्य सन्तान की मृत्यु हो गयी है, रोती-कलपती माँ अपनी सारी वेदना को हिमालय में प्रसारित करने आयी है। विश्वास-घातिनी नारी का मोह त्याग कर निराश प्रेमी दूर-दूरान्तर की ओर चल पड़ा है। संशयाच्छन्न दार्शनिक आत्मशुद्धि के लिए आया है, वैरागी आत्म-ताड़ना के लिए। इन सबके साथ चले हैं घूमते-फिरते व्यापारी, फकीर एवं बकने-झकने वाली स्त्रियाँ,

निष्ठावाली गृहिणी, नायक और नायिका, पंजाबी और दक्षिणी, गुजराती और मराठी, साधु और संन्यासी; कोई घर-द्वार छोड़कर आया है; कोई सुख-शय्या छोड़ कर आया है, तो किसी ने मोह-बंधन काट कर इधर की ओर कदम बढ़ाये हैं।

इतिहास की कोई तिथि तो नहीं मालूम, पर श्रुति और स्मृति के अतिरिक्त यह कोई नहीं जानता शायद कि विशाल भारत की राष्ट्र-संहति एवं ऐक्य-साधना इसी ब्रह्मपुरा में शुरू हुई थी। पहले-पहल किसी को नहीं पता कि इसी ब्रह्मपुरा में बैठकर महाकवि व्यास ने समग्र वेदशास्त्र को चार अंशों में विभाजित किया था। ब्रह्मपुरा वही आदिम कसौटी है, जिस पर युग-युग में हिन्दू जाति के विभिन्न सम्प्रदाय विभिन्न अध्यात्मदर्शन, मतवाद और श्रद्धा-विश्वास कसे जाते रहे हैं। कन्याकुमारी से कश्मीर का कृष्णगिरि, द्वारका से ब्रह्मदेश, इस विस्तीर्ण अंचल को लेकर अखंड भारत का जो क्षुद्रमहादेश बनता है, वे सभी गंगापथ में पहुँचते हैं। इसी ब्रह्मपुरा गढ़वाल में यहाँ के तपोवनों और मन्दिरों में सारे मत और सारे मार्ग मिल गये हैं। इसी गंगा-भागीरथी, अलकनंदा-मन्दाकिनी के किनारे-किनारे।"

• •

जलप्लावन और मनु का शरणस्थल

विश्व इतिहास में जलप्लावन

विश्व के प्राचीन ग्रन्थों में जल-प्रलय का वर्णन आता है। कोई इसको अत्यधिक तुषारापात, कोई अति वर्षा और कोई समुद्री बाढ़ कहते हैं। भारतीय वाङ्मय में समुद्री बाढ़, '**बाइबिल**' में घोर वृष्टि और '**अवेस्ता**' में अत्यधिक हिमपात इसका कारण बताया गया है। कुछ विद्वानों के कथनानुसार एक समय अटलांटिक महासागर द्वारा यूरोप और एशिया के पश्चिमी भाग, जो अत्यन्त समृद्धिशाली थे और जहाँ प्राचीन काल में घनी मानव-बस्तियाँ थीं, जलमग्न हो गये और उसका जो प्रलयंकर प्रभाव तत्काल एशिया के पश्चिम देश-वासियों के जीवन पर पड़ा, वही प्राचीन-ग्रन्थों में वर्णित जल-प्रलय है। परन्तु कुछ इतिहासकार भूमध्य-सागर के इर्द-गिर्द ही इस प्रलय का अनुमान करते हैं। उनका कहना है कि एक समय था, जब भूमध्य-सागर एक साधारण झील के रूप में था। जिब्राल्टर के पास अटलांटिक महासागर का प्रवाह भूमि को तोड़ भूमध्य सागर की ओर बड़े वेग से बढ़ गया, जिसके फलस्वरूप भूमध्य सागर की साधारण झील महासागर में परिणत हो गई[1]। उनके मतानुसार इसी जल-प्रलय का '**बाइबिल**', '**कुरान**' और '**जेन्द अवेस्ता**' में उल्लेख है। चाल्डिया के डैल्यूज-टेबलेट में भी यह प्रलयकृत वर्णित है। यूनान, बैबिलोन और मिश्र के प्राचीन कथा-साहित्य में भी थोड़ा-बहुत अन्तर के साथ यह प्रलय-कथा प्रचलित है।

जलप्लावन की कथा का मूल स्रोत

इस प्रलय-वृत्त का परम्परागत मूल प्रेरणा-स्रोत विश्व के किस प्राचीन धर्म का आदि ग्रन्थ है, जहाँ से यह आख्यान ससम्मान उद्धृत होता हुआ चला गया, यह विचारणीय प्रश्न आर्य जाति के आदि देश के विवादास्पद शंकाओं का भी समाधान प्रस्तुत करता है। इतिहासकारों का कथन है कि आर्य जाति का मूल-स्थान एक ही था। उनके पूर्वज जहाँ-जहाँ गये, वे अपने साथ अपने हृदय-पटल पर अंकित इस भयंकर घटना की भी स्मृति ले गये, वही उनके प्राचीन साहित्य-ग्रन्थों में सुरक्षित है। भाषा-साम्य एवं अन्य मौलिक एकताओं के कारण उक्त विद्वानों का यह अनुमान निराधार भी नहीं है, परन्तु यूरोपीय इतिहासकारों की

१—पिता के पत्र पुत्री के नाम—नेहरू जी

यह घोषणा कि मध्य यूरोप अथवा मध्य एशिया से आर्यों का अभियान पूर्व की ओर अग्रसर हुआ और वह भारतवर्ष पहुँचा, युक्ति संगत नहीं।

लोकमान्य तिलक **'आर्कटिक होम इन दि वेदास'** (पृष्ठ ३८७) में भी लिखते हैं कि जिस जलप्लावन की कथा **'शतपथ ब्राह्मण'** के समान प्राचीन ग्रन्थ में मिलती है उसका समय ईसा पूर्व २५०० वर्ष का अनुमान किया जाता है। क्योंकि उक्त ग्रन्थ से यह बात स्पष्ट होती है कि तब कृतिकाएँ पूर्व में उदय होती थीं। अतः यह तथ्य निर्विवाद है कि यह प्रलय-वृत्त आर्यों द्वारा सर्वप्रथम वर्णित हैं और ऐसी दशा में **'अवेस्ता'** और वैदिक ग्रन्थों में जलप्लावन का जो विवरण है, उसका आदि स्रोत वैदिक ग्रन्थों में ढूँढना उचित है।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में अनेक स्थलों पर उक्त प्रलयवृत्त वर्णित है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में सबसे प्राचीन **'शतपथ ब्राह्मण'** हैं जो ईसवी पूर्व २५०० की रचना मानी जाती है। 'शतपथ' (१।८।६) के अनुसार प्रलय के दिन सातवें मनु ने, जिन्हें वैवस्वत मनु भी कहा गया है, मत्स्य भगवान् के आदेशानुसार हिमवान पर्वत के उत्तर-गिरि-प्रदेश में मनोरवसपर्णम् स्थान पर प्रलय-जल से त्राण पाने के लिए, एक वृक्ष पर अपनी नाव बाँधी। मत्स्य ने फिर मनु से कहा। मैंने तुम्हारी रक्षा कर दी, वृक्ष पर नाव बाँध दो, परन्तु पर्वत पर निवास-काल में तुम्हारा सम्बन्ध जल से छूटने न पाये। ज्यों-ज्यों जल नीचे उतरेगा त्यों-त्यों तुम भी नीचे उतर सकते हो।'

'अथर्ववेद' (१९।३९।८), **'महाभारत'** (वन पर्व, अ० १८७), **'अग्निपुराण'** (२।४।१५), **'मत्स्यपुराण'** (२।१६।१९) और **'श्रीमद्भागवत'** (८।२४) में जल-प्लावन की कथा इसी प्रकार है। वैवस्वत मनु ने मत्स्य के निर्देशानुसार प्रलय के दिन नाव में बीजादि रखकर सप्तर्षियों के साथ, ब्राह्मी-निशा में, हिमवान के उत्तर-गिरि-प्रदेश में जिस शिखर पर नाव बाँधी उसको **'शतपथ ब्राह्मण'** में 'मनोरवसर्पण,' **'महाभारत'** और पुराणों में **'नौ बंधन'** और **'अथर्ववेद'** में 'नाव-प्रभंशन' कहा गया है। **'शत-पथ'** में 'मनोरवसर्पण' स्थान पर नौका को वृक्ष पर (पर्वत-शिखर पर नहीं) बाँधने का उल्लेख है। **'अग्निपुराण'** में भी उक्त प्रलय-विवरण दिया गया है।

फारसी धर्मग्रन्थ **'जेन्दअवेस्ता'** के अनुसार प्रलय के दिन अहुरमज्द ने कहा "हे विघनघत के पुत्र यिम! (विवस्वान के पुत्र यम) भौतिक विश्व में अब भयंकर शीत पड़ने वाली है; अत्यधिक हिमपात होगा जिससे समस्त वन-पर्वत और निम्न स्थानों के निवासी और पशु नष्ट हो जायेंगे। अतः तुम जाकर एक बाड़ा बनाओ और उसमें मनुष्य, पशु, पक्षी तथा अन्य सभी प्रकार के वृक्षों के थोड़े-थोड़े बीज रखो।" इसी प्रकार ईसाइयों के धर्म-ग्रन्थ **'बाइबिल'** में भी लिखा

है कि ईश्वर के आदेशानुसार हजरत नूह (मनु) ने नाव में अपने परिवार के सात सदस्यों (सप्तर्षियों) और सभी जीवों का एक-एक जोड़ा रखा। चालीस दिन और रात निरन्तर मूसलाधार वर्षा से पृथ्वी, समुद्र और आकाश जलमग्न हो गये। चालीस दिन के बाद वर्षा थमी और नूह की किश्ती अरारात-पर्वत-शिखर पर ठहर गयी।

यूनान के प्राचीन इतिहास में भी लिखा है कि जब लिकाओन के पचास राक्षस-पुत्रों के पाप से पृथ्वी भर गयी तो जिअस ने क्रोधित होकर जल-प्रलय उत्पन्न कर दिया। नौ दिन-रात तक अविराम भयंकर जल-वृष्टि से समस्त यूनान जल-मग्न हो गया। शरणार्थियों ने सबसे ऊँचे पर्वत-शिखरों पर, जो डूबने से बचे हुए थे, शरण ली। ड्यूकालियन को उसके पिता ने पहले से जलप्लावन की सूचना देकर सावधान कर दिया था। इसलिए उसने एक बड़ी नाव में बैठ कर नौ दिन-रात इधर-उधर चक्कर काटते हुए परनास पर्वत-शिखर पर आश्रय लिया।

मनु और जलप्लावन

जलप्लावन की घटना का मुख्य नायक वैवस्वत मनु है। विश्व के आर्य एवं आर्येतर धर्म-ग्रन्थों में मनु कई नामों से विख्यात है। कई विद्वानों के कथनानुसार मिश्र देश के प्रथम नरेश मेनीज और क्रीट-डीप सम्राटों की संज्ञा 'मैनोस' का उत्पत्ति-स्रोत मनु है। **'बाइबिल'** और **'कुरान'** में उसको ही आदम **'आदिम'** आदमी अर्थात् आदि मनु कहा गया है। अंग्रेजी का **'मैन'** शब्द भी मनु का ही अपभ्रंश है। मनु शब्द 'मनुज' की आदि उत्पत्ति का बोधक है। 'मनु' किस प्राचीन साहित्य की मौलिक देन है, यह जानने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में मनु का जितना विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है उतना विश्व कि अन्य धर्म-ग्रन्थों में नहीं। मनु मानव सृष्टि का प्रवर्तक, आदि पुरुष, समस्त मानव जाति के पिता माने जाते हैं (ऋ १।८०।१६, ११४।२, २।३३।१३, ८।६३।१)। ऋग्वेद में बीस बार मनु का नाम आया है। वहाँ सर्वत्र इन्हें आदि पुरुष मानव जाति का पिता कहा गया है। सर्वप्रथम स्वायम्भुव मनु हुए। उनके बाद छः बार जलप्लावन हुआ, जिसमें सृष्टि विनष्ट होती गयी। शायद प्रलय कथा करने के लिए दो-चार मनुष्य ही शेष जीवित रह सके। प्रत्येक मन्वन्तर में सृष्टि का आदि पुरुष 'मनु' नाम से प्रसिद्ध हुआ। पुराणों में इनकी वंशावली मिलती है, परन्तु वैवस्वत मनु के अतिरिक्त, उनसे पूर्व के अन्य मनुओं का सम्पूर्ण जीवन-वृत्त नहीं मिलता, जिनके जीवन काल में वैवस्वत मनु से, हजारों वर्ष पूर्व छह मन्वन्तर व्यतीत हो चुके थे।

छह बार प्रलय होने के बाद, वैवस्वत मनु हुए जो प्रलयोत्तर कालीन मानव समाज के आदि पुरुष माने जाते हैं एवं पुराणों में निर्दिष्ट सारे राजवंश इन्हीं से प्रारम्भ होते हैं। वैदिक काल के प्रारम्भ में उन्हें यम भी कहा गया है। कुछ इतिहासकारों ने मनु वैवस्वत का राज्यकाल ईसा पूर्व ३११० वर्ष माना है। बैविलोन साहित्य में निर्दिष्ट मेसोपोटामिया के जल-प्रयल का समय भी ईसा पूर्व ३१०० वर्ष माना जाता है। **'शतपथ ब्राह्मण'** में वर्णित मनु वैवस्वत का जल-प्रलय भी इसी समय में हुआ था। मनु सरस्वती नदी के तट पर रहते थे (**प्राचीन चरित्र कोश**, पृ० ६०५, ६११, ६१२)। इस प्रकार केवल वैवस्वत मनु के जीवन काल के आधार पर आर्य जाति की प्राचीनता का अनुमान तर्क संगत नहीं है। वैवस्वत मनु से पूर्व उत्पन्न मनुओं के सम्बन्ध में भी इतिहासकारों के अनुमान अविवादास्पद हैं, इसमें सन्देह है।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में आठ मनुओं, मन्वन्तरों का उल्लेख है। प्रत्येक मन्वन्तर आर्य-नरेश मनु से आरम्भ हुआ है प्रथम मनु स्वायम्भुव के समय से पीढ़ियों तक समस्त क्षेत्र में एक ही व्यवस्था रही, जिसका नियमन प्रजापतियों द्वारा होता रहा। पाँचवी पीढ़ी में व्यवस्था में बाधा उत्पन्न हुई और आर्यों का विशाल संगठन छिन्न-भिन्न होने लगा। २९वीं से ३५वीं पीढ़ी तक के प्रजापतियों के नाम भी पुराणों में नहीं मिलते। इसके पश्चात् प्रियव्रत शाखा समाप्त हुई और उत्तानपाद शाखा के चाक्षुष को मनु पद प्राप्त हुआ। चाक्षुष के पुत्रों, उर और पुर ने सुमेर में अपने नाम पर दो नगर बसाये। पुर को विलोचिस्तान में 'पहरा' नामक गाँव के पास कहा जाता है। सिकन्दर के साथ आने वाले इतिहासकारों ने उर से पुर तक की ६० दिन की यात्रा बतायी है।

चाक्षुस मनु से ३५ पीढ़ी पहले लगभग ४२८६ ई० पू० पुराणों के अनुसार आर्यों का संगठन भूमध्यसागर तक फैल चुका था। सुषा और किश (वैविलोनिया) और सुमेरियन-सभ्यता आर्य-सभ्यता के प्रधान केन्द्र बन चुके थे।

सिन्धु से सुमेर तक प्राचीन काल में एक ही सभ्यता थी और इसकी प्रवर्तक मूल जाति भी एक ही थी। ३३००ई० पू० के लगभग इसी क्षेत्र के समीप पुर नामक नगर बसाया गया था। जिसका सम्बन्ध सुमेर के उर नामक नगर से बराबर रहा। ये दोनों नगर उत्तानपाद शाखा के चाक्षुस मनु के पुत्रों के नाम पर बसाये गये थे। फ्रांसीसी विद्वान् एम० लूई जैकोलियट **'बाइबिल इन इंडिया'** में लिखते हैं

हम भारत के शब्द-शास्त्रियों के समक्ष उनके परिश्रम के लिए आभारी हैं क्योंकि हमारे वर्तमान भाषा-शब्दों के मूल और उनकी धातुओं का परिचय प्राचीन भारतीय साहित्य में मिलता है। मिश्री, हिब्रू, ग्रीक और रोमन कानूनों

पर मनु का प्रभाव स्पष्ट है।

भारतीय वाङ्मय में वर्णित मन्वन्तरों में आज तक प्रथम स्वाम्यभुव, द्वितीय स्वारोचिष, तृतीय उत्तम, चतुर्थ तामस, पंचम रैवत, षष्ठ चाक्षुष और सप्तम वैवस्वत नाम के सात मनु और सात मन्वन्तर हो चुके हैं। स्वायम्भुव मनु को मानव का आदि पुरुष, राज्य-व्यवस्था का प्रथम प्रवर्तक एवं धर्म का प्रथम संस्थापक कहा गया है। '**बाइबिल**' और '**कुरान**' में इन्हें ही 'आदम' कहकर स्मरण किया गया है। स्वायम्भुव मनु ही प्रथम आर्य नरेश थे, जिन्होंने विश्व में मानव-स्वभाव के नैसर्गिक भेदों के अनुसार, उनके गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर विभिन्न वर्णों में समन्वयात्मक संतुलन के निमित्त '**मनुस्मृति**' द्वारा सर्व प्रथम प्रजातंत्रात्मक वर्ण-व्यवस्था स्थापित की। '**मनुस्मृति**' के रूप में मनु की वह धर्म-व्यवस्था आज भी हिन्दू साहित्य में पूर्णतः सुरक्षित है।

स्वायम्भुव मनु के समय भी उत्तर भारत के तराई क्षेत्र में समुद्र था। अतः स्वायम्भुव मनु का निवास-स्थान भी उसके ऊपरी भाग शिवालिक पर्वत-माला के आस-पास के क्षेत्र में ही निश्चित है। स्वायम्भुव मनु के साथ जिन सप्तर्षियों का उल्लेख है, उनके आश्रम वेद और पुराणों के कथनानुसार हरिद्वार के पास हिमालय के इसी पर्वत-प्रदेश में थे।

वैवस्वत मनु

भारतीय साहित्य में इस जलप्लावन की घटना के साथ जिस मनु का सम्बन्ध हैं वे सप्तम मनु हैं। सप्तम मन्वन्तर को आरम्भ हुए भारतीय काल-गणनानुसार १२०५३३०६३ वर्ष हो चुके हैं। सप्तम मनु विवस्वान के पुत्र थे (ऋ० १०।१४।१, ऋ० १०।५८।१, ऋ० १०।६०।१०)। इसलिए उन्हें वैवस्वत मनु भी कहा जाता है। उनको यम, धर्म, गन्धर्व भी कहते हैं (ऋ० १०।५३।५३)। वे दक्ष-कन्या श्रद्धा के पति थे, इसलिए उनका उप नाम श्रद्धादेव भी है।

मनु को '**जेन्दअवेस्ता**' में विघनघत एवं विवह्वान यिम और वैवल और '**कुरान**' में नूह (मनु) कहा गया है। '**जेन्दअवेस्ता**' में यिम को भी आदि मनु की ही भाँति आदि पुरुष, प्रथम नरेश और सामाजिक व्यवस्था का प्रथम संस्थापक कहा है। वैवल के नूह के साथ उसके परिवार के जिन सात सदस्यों का उल्लेख है वे आर्य-साहित्य में वर्णित सप्तर्षि हैं। ऋग्वेद (१०।१४।१५) में मनु को स्पष्टतः यम और विवस्वान् का पुत्र कहा गया है।

मनु ऋग्वेद के मंत्र-द्रष्टा ऋषि हैं। वे ऋग्वेद १०।१५, एवं आठवें मण्डल के २७, २८, २९, ३० और ३१ सूक्तों के रचयिता हैं। उनका राज्य हरिद्वार से ऊपर समस्त पर्वत-प्रदेश में था, जो सप्तसिन्धु देश कहलाता था। हरिद्वार से नीचे

तराई-भावर में समुद्र लहराता था। उनकी राजधानी सप्तसिन्धु के दक्षिण में कनखल के आस-पास कहीं थी। जलप्लावन के अवसर पर प्रलय से त्राण पाने के लिए वे सप्तर्षियों एवं विशिष्ट व्यक्तियों सहित नाव में बैठकर दक्षिण-गिरि-प्रदेश से उत्तर-गिरि की ओर भागे। बदरीनाथ के निकट, सरस्वती और अलकनन्दा के तटवर्ती क्षेत्र में किसी पर्वत-शिखर पर उन्होंने अपनी नाव बाँध दी। लगभग सौ वर्ष से अधिक समय तक सरस्वती, अलकनन्दा और मंदाकिनी नदियों का यह तटवर्ती क्षेत्र जो प्रलयजल से ऊपर रह गया था और जिसका पुराणों में ब्रह्मावर्त्त नाम से उल्लेख किया गया, उनका क्रीडास्थल रहा। ऋग्वेद (९।११३।८) के कथनानुसार स्वर्ग के, उत्तम लोक में जहाँ मंदाकिनी आदि नदियाँ बहती हैं, मनु का आश्रम-स्थल था। पुराणों ने हरिद्वार से ऊपर की भूमि को ही स्वर्ग कहा है। अलकनन्दा के इसी उत्तरी क्षेत्र में मनु-पुत्री इला (ऋ० २।३५।५, १०।६५।१०) मनु-पुत्र 'सुद्युम्न' के नाम से रहती थीं। उससे चन्द्रमा के पुत्र बुध ने चन्द्रवंश के प्रवर्तक राजा पुरूरवा को जन्म दिया। चन्द्रवंशी राजाओं की राजधानी चान्दपुर (चन्द्रपुर) थी जहाँ प्राचीन गढ़के अवशेष आज तक सुरक्षित हैं। चन्द्रमा के पुत्र बुध, बुध-अयन (वधाण) में और पुरूरवा अलकनन्दा के तटवर्ती गन्धमादन क्षेत्र में रहते थे।

'**बाइबिल**' और '**कुरान**' में हजरत नूह की किश्ती नूह के परिवार के सात सदस्यों के सहित जहाँ अरारात पर्वत-शिखर पर ठहर जाती है, वहाँ भारतीय साहित्य में मनु की नाव सप्तर्षियों सहित हिमालय पर, जो संसार का सर्वोच्च शैल-शिखर है, ठहरती है। प्रलय में नगण्य अरारात पर्वत के समक्ष हिमालय की सर्व विदित सर्वोच्चता वास्तविक भौगोलिक तथ्यों से भी प्रमाणित है। इससे भारतीय साहित्य जल-प्रलय की कथा का मूल स्रोत स्वयं सिद्ध है। '**बाइबिल**' में हजरत नूह और उसके परिवार के सात सदस्यों का अत्यंत संक्षिप्त जीवन-कृत भी भारतीय साहित्य में वर्णित मनु और सप्तर्षियों के विस्तृत जीवन-वृत के समक्ष जलप्लावन की घटना के वास्तविक स्रोत को स्पष्ट कर देता है। अतः यह स्पष्ट है कि संसार के सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद से यह घटना '**शतपथ**' और पुराणों में होती हुई '**जेन्दअवेस्ता**', '**पंजनामा**', यहूदी और ईसाई धर्म-ग्रन्थ '**बाइबिल**' और '**कुरान**' में जा पहुँची है।

मिस्री संस्कृति के प्राचीन ध्वंसावशेषों पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है। उनकी भाषा, नगरों और देवताओं पर भारतीय छाप है। उनकी नील नदी नीले पर्वत से निकलने के कारण नील कहलायी। वे शीतकाल को शीत कहते हैं। उनका राजा हरिहोर (हरिहर महादेव) के उष्णीश पर नाग-चिह्न विराजमान है। 'होर' का नेत्र भी मिस्री साहित्य में प्रसिद्ध है। उनका एक देवता यम भी है।

भारतीय बौद्ध स्तूपों की भाँति मिस्र में भी मृतकों की स्मृति में विशालकाय स्तूप बनाने की प्रथा थी। वे पुनर्जन्म और आत्मा के आवागमन पर विश्वास करते थे। उनके भित्तिचित्रों एवं मृतकों के ताबूतों पर भारतीय वस्त्रों जैसे पहिनाव एवं रूपरंगों के चित्र चित्रित हैं। उनका सबसे बड़ा देवता सूर्य था। वे प्रातः सायं सूर्य की उपासना करते थे। उनके प्राचीन निवासी भी भारतवासियों की भाँति सूर्यवंशी और चन्द्रवंशियों में विभाजित थे। मोम्फस या होलियोपोलिस के पेरो सूर्यवंशी और हृक्रियोपोलिस के चन्द्रवंशी थे।

मिस्री सम्बत् उनके प्रथम नरेश मीनस (मनु) से आरम्भ होता है। सिकन्दर के समय तक उसको २५,३०० वर्ष व्यतीत हो चुके थे। इस हिसाब से इस समय मिस्री सम्बत् २७,६१६ है।

श्री स्वामी करपात्री जी अपने ग्रन्थ '**मार्क्सवाद और रामराज्य**' (पृष्ठ १६७–६८) में लिखते हैं :

"वस्तुतः नूह का तूफान वैवस्वत की मछली वाली कथा का अनुवाद है। नूह के पुत्र हेम की सन्तति जो मिश्र में रहती है, अपना सम्बन्ध राजा मनु से बतलाती है और अपने को सूर्यवंशी कहती है तथा मनु वैवस्वत के मूल विवस्वान सूर्य को अपना इष्ट समझती है। इन्हीं मिश्र वालों की ही सन्तति अमेरिका के मूल निवासी बतलाये जाते हैं। × × × '**बाइबिल**' में बतलायी हुई नूह की पीढ़ियाँ काल्पनिक हैं। मनु को वैवस्वत कहा जाता है। विवस्वान सूर्य है। हजरत नूह के दो पुत्र हेम और सेम सूर्यवंश और चन्द्रवंश ही हैं। हेमगर्भ (हिरण्यगर्भ) सूर्यवंश का ही बोधक है और सेम (सोम) चन्द्रवंश का बोधक है। सूर्यवंशियों की पुत्री इला से ही सोमवंश की उत्पत्ति हुई है।"

सुमेरी-बाबुली सभ्यता के नगर—कीश एश्नुन्नर, ऊर निप्पुर में यूरोपीय विद्वानों ने जब खुदाई की, तो उन्हें वहाँ पुरानी ईंटों में अंकित यह प्रलयवृत्त मिला। उन्होंने अपनी इस खोज से प्राप्त सुमेरी-बाबुली सभ्यता के अवशेषों का विश्व की सबसे प्राचीन सभ्यता के स्मारक घोषित किया है, परन्तु, "उन्हें इसका गुमान भी नहीं था कि भारत में, सिन्धु नदी के तीर उन्हीं नगरों से अधिक प्राचीन और अधिक समृद्ध, सुसंस्कृत और शिष्ठ जीवन बिता रहे हैं। सुमेर और बाबुल के नगर नागरिक होते हुए भी कितने गँवार हैं, इस का पता सिन्धु नदी के तीर के नगरों मोहनजोदड़ो आदि के खंडहरों पर दृष्टि डालने से साबित हो जाएगा।"

फारसियों के धर्म-ग्रन्थों के अनुसार आर्यों का आदि देश भयंकर हिमपात से आच्छादित बताया गया है। ऋग्वेद में भी आर्यों के मूल-स्थान में अत्यधिक हिम-पात का वर्णन आता है। इसी अनुमान के आधार पर लोकमान्य तिलक ने आर्यों

के मूल स्थान के सम्बन्ध में उत्तरी ध्रुव की कल्पना की है। गृह-नक्षत्रादि की परिस्थितियों के आधार पर स्थापित उनकी अनेक मान्यताएँ विद्वानों द्वारा अमान्य प्रमाणित हो चुकी हैं, परन्तु आर्यों के आदि देश की जलवायु के सम्बन्ध में भी उनका अनुमान निराधार है।

कामेट-पर्वत (२५००० फुट) के निकट, सरस्वती के तटवर्ती क्षेत्र में माना गाँव के आस-पास ऋग्वेद और '**शतपथ**' में वर्णित मनु का देव माना अथवा मनोरवसर्पणम् स्थल होना चाहिए। माना-शिखर २४००० फीट ऊँचा है। एवरेस्ट के बाद यहदूसरा सर्वोच्च शैल शिखर है, जहाँ ध्रुवकक्षीय जलवायु है। इस क्षेत्र का अधिकांश भाग आज भी अत्यधिक हिमपात के कारण जाड़ों में छह महीने के लिए मानव-शून्य हो जाता है। यहाँ ऋग्वेद (१।१६४।४४) के अनुसार केवल दो ही ऋतुओं में मानव-निवास सम्भव है। तीसरी ऋतु हेमन्त में यहाँ के निवासी ऊँचे स्थानों से कुछ नीची उष्ण उपत्यकाओं में उतर आते हैं।

'**अवेस्ता**' में वर्णित हिमपात और '**शतपथ**' के जलप्लावनके वर्णनसे जल-वृष्टि या बाढ़ का अनुमान किया जाता है। यद्यपि जिन विशेष भौगर्भिक उपद्रवों के कारण समुद्र में अप्रत्याशित प्रलयंकर बाढ़ आ सकती है, उन्हीं भौतिक विप्लवों के कारण समुद्री-बाढ़ के बाद आर्यों के निवास-स्थान में अत्यधिक हिमपात की आकस्मिक दुर्घटना भी असम्भव नहीं है। गर्मियों में भी जब लोग यहाँ रहते हैं, इस पर्वत-क्षेत्र में कभी-कभी इतना अधिक हिमपात हो जाता है, जिसकी सदियों तक कोई मिसाल नहीं मिलती। रूपकुण्ड* के आस-पास बिखरे हुए स्त्री-पुरुषों के हजारों अस्थि-पंजर उस अप्रत्याशित हिमपात का ज्वलन्त प्रमाण है। इससे '**अवेस्ता**' में वर्णित लोकमान्य के उस कथन की कि भयंकर हिमपात के कारण उत्तरी ध्रुव ढक गया, आर्यों का स्वर्ग नष्ट हो गया, तो वे उसको त्याग कर अन्यत्र जा बसे, की भी पुष्टि होती है।

---

* रूपकुंड—उत्तरी गढ़वाल में १६००० फुट की ऊँचाई पर वेदनी बुग्याल (जिस क्षेत्र में किम्बदन्ती के अनुसार अधिकांश वेद-मंत्रों की रचना हुई है) से तीन मील ऊपर लगभग ४५० फु० के क्षेत्रफल की एक छह फुट गहरी ऐसी आश्चर्य-जनक झील है, जहाँ सन् १८९८ में विदित हुआ कि सैकड़ों मानव-पिंजर उसके इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। कुमाऊँनी लोग इसको 'रुद्रकुंड' कहते हैं। ओकले ने इसको 'रुद्र की विनाशक शक्तियों का क्षेत्र' कहा है। यहाँ यात्री लोग जूते नहीं ले जाते। कोई इन मनुष्य-शवों का सम्बन्ध कश्मीर सेनापति जोरावरसिंह से जो १८४१ में सेना-सहित तिब्बतियों द्वारा युद्ध में मारे गये थे, बताते हैं, परन्तु स्त्री-शवों के अस्तित्व से उनका अनुमान सही नहीं है।

मजूमदार (लखनऊ युनिवर्सिटी) के कथनानुसार ये अस्थियां ६०० वर्ष पूर्व की हैं और उत्तरप्रदेश के मनुष्यों की हैं। जो तिब्बत मार्ग में आकस्मिक दुर्घटना के कारण मर गये थे। जे० बी० ग्रिफिन डाइरेक्टर म्यूजियम ऑव आँथ्रोपोलोजी मिशियन युनिवर्सिटी, फोनिक्स ने मजूमदार का समर्थन किया है, परन्तु दत्त मजूमदार एक अन्य शरीर-शास्त्री इसे स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि ये मानव-शव बड़ी-जात उत्सव (जो स्थानीय लोगों द्वारा उस क्षेत्र में मनाया जाता है) के यात्रियों के हैं। स्वामी प्रणवानन्द ने तीन-चार बार इस क्षेत्र की यात्रा की है। उनके मतानुसार कन्नौज-नरेश यशोधवल और उसकी महारानी वल्लभा गढ़वाल के राजा चाँदपुर गढ़ की राजकुमारी थी। वे दोनों अपने स्नेहियों के साथ लगभग १४वीं शताब्दी के मध्य में, 'बड़ी जात' की यात्रा को गये थे, जो आकस्मिक हिमपात के कारण वहीं दबकर मर गये, क्योंकि स्थानीय लोक गाथाओं के अनुसार उन्होंने वहाँ स्त्रियों को ले जाकर वहाँ के परम्परागत प्रतिबन्धों को भंग कर दिया था।

संस्कृत में भी प्रलय, तुषार, पाला एवं हिम का बोधक है। पाणिनि ने (७।३।३) इस शब्द का अर्थ जल-प्रलय किया है। भारतीय साहित्य में उक्त प्रलय को स्पष्टतः समुद्री बाढ़ कहा गया है। पृथ्वी और समुद्र-गर्भ से निरन्तर अनेक भौगर्भिक परिवर्तनों का क्रम जारी है। भूगर्भ-शास्त्रियों के कथनानुसार इतिहास के प्रारम्भिक युगों में उपद्रव अधिक मात्रा में होते रहे हैं। विश्व-इतिहास में विशेषकर समुद्र के तटवर्ती भागों में ऐसे आकस्मिक भू-कम्पों एवं समुद्री बाढ़ों के अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनके कारण समय-समय पर सम्बन्धित क्षेत्रों में लोगों को अपार जन-धन की क्षति उठानी पड़ी है। आर्यावर्त्त के अस्तित्व में आने से पूर्व, हरिद्वार से नीचे, विन्ध्याचल पर्वत तक उस युग में जो समुद्र था, उसमें भी समय-समय पर अनेक बार भौगर्भिक उथल-पुथल होती रही है, जिस की सात आकस्मिक प्रलय बाढ़ों का आर्य-साहित्य में वर्णन आता है। भूगर्भ-शास्त्र के अनुसन्धानों के आधार पर श्री अविनाशचन्द्र दास 'ऋग्वेदिक इंडिया' में कहते हैं कि "भारतीय कथा उस समय की है जब सप्तसिंधव के दक्षिणी प्रदेश का नक्शा बदला, ऐसे भौगोलिक उपद्रव हुए जिनसे दक्षिण की ओर का समुद्र-तल ऊपर उठा। उसके ऊपर उठने से राजपुताने की मरुभूमि बनी। जब समुद्र-तल ऊपर उठा तो समुद्र का जल सप्तसिंधव पर टूट पड़ा होगा। बहुत ऊँची जगहों को छोड़कर एक बार सर्वत्र जल ही जल हो गया होगा। इसीलिए कहा गया है कि मत्स्य, मनु को उत्तर गिरि की ओर ले गया। उत्तर में हिमालय की ऊँची चोटियाँ हैं जहाँ रक्षा हो सकती थी। यदि ऐर्य्यन वेइजी (जैसा लोकमान्य तिलक का मत है) कहीं ध्रुव-देश में था और यह घटना उसमें घटित

हुई तो वहाँ कोई उत्तर-गिरि है ही नहीं। उत्तर-गिरि की ओर जाने में यह भी संकेत है कि मनु कहीं दक्षिण की ओर से गये थे। दूसरी पुस्तकों में ऐसा उल्लेख आता है कि मनु का आश्रम कहीं सरस्वती के तट पर था।"

'केदारखंड' में लिखा है कि हरिद्वार क्षेत्र में गङ्गा के पश्चिम तट पर, कुशावर्त के नीचे सप्तसामुद्रिक नामक पवित्र तीर्थ है। प्राचीन काल में इस स्थान पर सप्तसमुद्रों ने मिलकर शिव की आराधना की थी **'केदारखंड'** के दो स्थानों (१२१।१८) में इस सप्त सामुद्रिक तीर्थ के उल्लेख से यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल से यहाँ तक समुद्र था।

हम इससे पूर्व लिख चुके हैं कि शिवालिक पर्वत माल के नीचे तराई भावर में जब समुद्र लहरा रहा था उस युग में पुराणों के कथनानुसार हरिद्वार के निकट सर्वप्रथम अमैथुनी सृष्टि से उत्पन्न आर्य-नरेश दक्ष प्रजापति (जिनकी राजधानी कनखल थी) की २७ पुत्रियों, दिति-अदिति आदि से कश्यप-ऋषि द्वारा मानव-सृष्टि आरम्भ हुई। दिति के पुत्र दैत्य और अदिति के आदित्य कहलाये, परन्तु पिता सबका कश्यप था जो हरिद्वार में ही रहते थे। इसीलिए इस क्षेत्र की प्राचीनता के सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं—"जैसे मैं सबसे प्राचीन हूँ, उसी प्रकार यह केदार-क्षेत्र भी प्राचीन है। जब मैं ब्रह्म-मूर्ति धारण कर सृष्टि-रचना में प्रवृत्त हुआ तब मैंने इसी क्षेत्र में सर्व प्रथम सृष्टि-रचना की (**केदार० ४०।५**)।

भूगर्भ-वेत्ताओं द्वारा भी पुराणों के इस कथन की पुष्टि होती है। उनके कथनानुसार शिवालिक पर्वत क्षेत्र ही विश्व का वह प्राचीन भू-खण्ड है, जहाँ मानव-सृष्टि का क्रमिक विकास हुआ है। इसी क्षेत्र में—शिव पिथेक्स और पोलिओ पिथेक्स नामक मनुष्यवत् बन्दरों के प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं, जो सम्भवतः मानव जाति के पूर्वजों से सम्बद्ध थे। मध्य हिमालय का यह क्षेत्र ही सर्व प्रथम समुद्र-गर्भ से बाहर निकला। इस क्षेत्र की सम-शीतोष्ण जलवायु में ही वनस्पति-विशेषज्ञों के कथनानुसार सर्व प्रथम वनस्पति भी उत्पन्न हुई थी★।

हरिद्वार-ऋषिकेश से लेकर कोटद्वार-कण्वाश्रम से आगे, तराई-भावर के समुद्र से ऊपर शिवालिक पर्वत-पार्श्व की समस्त तटवर्ती उपत्यका में उस प्राचीन आर्य वस्तियों के अधिकांश भग्नावशेष जल-प्रलय के बावजूद सुरक्षित हैं। इसी क्षेत्र में ऋग्वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति पल्लवित हुई। स्वायंभुव मनु से लेकर सप्तम वैवस्वत मनु तक यह पावन क्षेत्र ऋग्वैदिक आर्यों का क्रीड़ास्थल रहा है।

★ **कनिंघम—आर्क्यालौजिकल रिपोर्ट, भाग २, २८८।**

ज्ञात होता है कि जलप्लावन से पूर्व ऋग्वैदिक आर्यों द्वारा हरिद्वार से ऊपर कैलाश पर्वत एवं मानसरोवर तक इस समस्त भू-भाग को सप्तसिन्धु और जल-प्लावन के बाद, सप्तसिन्धु के दक्षिण में छः-सात सौ फीट तक ऊँचे पर्वत क्षेत्रों को छोड़कर उत्तर-गिरि का शेष भूमि भाग, जो बरसों तक समुद्री बाढ़ से ऊपर रह गया था और जहाँ वैवस्वत मनु का राज्य था, ब्रह्मावर्त्त कहलाता था। इसी क्षेत्र को वैदिक भाषा में चन्द्रबुध्न (चाँदपुर), अहिर्बुध्न (नागपुर) और बुध्न (वधान) भी कहा गया है। जलप्लावन से पूर्व जब दक्षिण गिरि प्रदेश में हरिद्वार एवं कनखल के आस-पास वैवस्वत मनु की राजधानी थी, उन दिनों यह क्षेत्र अनेक अप्रभावित भौतिक-विप्लवों का केन्द्र-स्थल था। किसी भौतिक विप्लव के कारण तराई-भावर का समुद्र धीरे-धीरे ऊपर उठने लगा। मनु को कुछ समय पूर्व इसका आभास भी हो गया था, और उससे त्राण पाने के लिये वे यथा-उचित तैयारियाँ भी कर चुके थे। समुद्र के निकट निवासी होने के कारण वे कुशल नाविक थे ही। ज्यों-ज्यों तराई-भावर की इस प्रलंयकर समुद्री बाढ़ द्वारा दक्षिण गिरि-प्रदेश जलमग्न होने लगा, तो उससे त्राण पाने के लिये व्यग्र मनु अपने समर्थ सहायकों के साथ नाव में बैठ कर, अधिक उन्नत स्थानों की खोज में उत्तर गिरि की ओर दौड़ पड़े। उत्तर गिरि में असुरोपासक आर्यों का शासन था। जो उनके ही भाई-बन्द एवं सजातीय थे। उस समय हिमवन्त का यह गिरि-प्रदेश उत्तरगिरि, अन्तगिरि और दक्षिणगिरि नामक तीन भागों में विभाजित था। '**महाभारत**' (भीष्म पर्व ६।४६), '**शतपथ ब्राह्मण**' में वर्णित उत्तर गिरि से भी स्पष्ट है कि मनु वहाँ दक्षिण गिरि-प्रदेश से गये थे।

मध्य-हिमालय के उत्तर-गढ़वाल में बदरीनाथ के निकट (माना गाँव के पास वसुधारा मार्ग में) सरस्वती नदी के तटवर्ती क्षेत्र में कामेट (२५००० फीट ऊँचा) सर्वोच्च हिम-शिखर है। ऋग्वैदिक सरस्वती हिमालय की नदी थी। दक्षिणगिरि-प्रदेश में उसका अस्तित्व तर्क-संगत नहीं है। ऋग्वेद के अनुसार सरस्वती सप्तसिन्धुओं में सबसे ऊपर शीर्ष स्थान पर (सप्त स्वसा सुज्येष्ठा) थी, और मनु के कथनानुसार वह ब्रह्मावर्त्त की सीमान्त नदी थी, क्योंकि उसके पार म्लेच्छों का देश हुणदेश था (म्लेच्छदेशस्ततः परः)। मनु की सरस्वती का यह पावन तटवर्ती क्षेत्र आज भी छह महीने हिमपात से आच्छादित रहता है। डॉ० हौग के '**पारसी-धर्म**' (पृ० २१०) में वर्णित ईरानियों के जिस आर्य वैजों में दस महीने का जाड़ा और दो महीने की ग्रीष्म-ऋतु का उल्लेख है, वह यही क्षेत्र है। सरस्वती के इसी क्षेत्र में लोकमान्य तिलक का ध्रुवकक्षीय दस महीने का जाड़ा और दो महीने की ग्रीष्म ऋतु का वातावरण आज भी ज्यों का त्यों है।

गढ़वाल की 'सौतियावाँट' की प्राचीन प्रथा के अनुसार अलकनन्दा के उस पार उत्तरगिरि का परगना नागपुर पैनखंडा और बधाण का अधिकांश क्षेत्र दिति के पुत्र दैत्यों, दनु के दानवों और कद्रू के नागों के अधिकार में था। सौतों और सौतेले भाइयों के बीच पारस्परिक मनोमालिन्य बहुत पहले से चला आता था। फिर जलप्लावन के समय दक्षिण-गिरि से अदितिपुत्रों आर्य-शरणार्थियों के अप्रत्याशित आगमन से उनके पारस्पर आर्थिक एवं धार्मिक मतभेद अधिक उग्रतर होते गये। कालान्तर में दोनों के इस संघर्ष ने देवासुर-संग्राम का उग्र रूप धारण कर लिया। स्व० दयानन्द सरस्वती भी **'सत्यार्थ प्रकाश'** अष्टम समुल्लास में प्रलय के इसी भाग में देवासुर-संग्रामों की पुष्टि करते हैं। रात-दिन इन देवासुर-सग्रामों के कारण पराजित असुरोपासक आर्य तंग आ गये थे। इस बीच इस क्षेत्र में अत्यधिक एवं आकस्मिक हिमपात (जिसका फारसी-ग्रन्थों में उल्लेख है) हो गया, जिसके कारण उन्हें हमेशा के लिए अपने आदि देश को त्यागकर पश्चिमोत्तर प्रदेशों की ओर प्रयाण करने के लिए अनिच्छापूर्वक बाध्य होना पड़ा।

जलप्लावन के समय, प्रलय-जल अलकनन्दा की उपत्यका से होता हुआ, लगभग १०-११ हजार फीट से नीचे के भू-भागों को डुबाकर विष्णुप्रयाग अथवा केशवप्रयाग तक, जहाँ पर सरस्वती नदी अलकनन्दा से मिलती है, पहुँच चुका था। विष्णुप्रयाग समुद्र तट से ७००० फीट और केशवप्रयाग १०००० फीट ऊँचे हैं। सरस्वती के इसी तटवर्ती क्षेत्र में किसी हिम-शिखर पर मनु का शरणस्थल था। जल-अवतरण पर लगभग एक सौ वर्ष उत्तर-गिरि में ठहरने के बाद जब वहाँ के क्षेत्र एक बार आकस्मिक एवं अत्यधिक हिमपात के कारण ढक गये और प्रलय-जल भी घट गया तो आर्यगण पुनः दक्षिण-गिरि की ओर लौट पड़े। उन्हें दोनों ओर की इस अत्यन्त कष्टकर स्थिति (जलप्रलय और हिमपात) से जूझना पड़ा, जिसकी दुःखद स्मृति भारतीय वाङ्मय एवं **'अवेस्ता'** में अंकित है। हिमयुग को समाप्त हुए, भूगर्भ-शास्त्रियों के कथनानुसार, सम्भवतः ३१०००-३२००० वर्ष हुए हैं। श्री नारायण पावगी और श्री अविनाशचन्द्र दास उसको २५००० वर्ष पूर्व और लोकमान्य तिलक अंतिम हिमयुग को ईसा पूर्व १००० वर्ष कहते हैं।

श्री नारायण पावगी **'आर्यों का मूल स्थान'** में लिखते हैं "**शतपथ ब्राह्मण'** की उपर्युक्त मत्स्यगाथा में उत्तर-गिरि का जो विशेष उल्लेख किया गया है, वह स्पष्टतः तुषारावृत्त हिमालय पर्वत है। और उत्तर गिरि से भाष्यकार भी अर्यावर्त्त के उत्तर ओर के हिमालय को ही समझते हैं। इसी को हमारे पूर्वजों ने तृतीय कालीन युग के प्राचीन काल में सप्तसिंधवः के नाम से प्रसिद्ध सात नदियों

के उस देश के उत्तर में देखा था जो आर्यों का आदि देश तथा हमारे पूर्वजों की मातृभूमि थी। वहीं से हम दिग्विजय के लिए चारों दिशाओं में फैले।"

मनु के शरणस्थल के सम्बन्ध में श्री पावगी के इस मत से मैं अक्षरशः सहमत हूँ; परन्तु उनका यह अनुमान कि आर्य अपने आदि देश सप्तसिंधव को त्याग कर एक बार ध्रुव-देश में जा बसे थे और ध्रुव-देश के प्रलयंकर हिमपात के कारण पुनः सप्तसिंधव के उत्तर गिरि की ओर लौटे, युक्ति संगत नहीं। आर्यावर्त्त के 'आवर्त्त' शब्द से, वे किसी अन्य स्थान से आर्यावर्त्त में आने का अनुमान लगाते हैं। वस्तुतः आर्य सप्तसिन्धु से ब्रह्मावर्त्त में गये और ब्रह्मावर्त्त से आर्यावर्त्त में आये थे। आर्यावर्त्त के समुद्रगर्भ से बाहर प्रकट होने से पूर्व सप्त-सिन्धु—और ब्रह्मावर्त्त, समुद्र से ऊपर उन देशों के नाम थे, जहाँ आर्यों का आदि-निवास था। लोकमान्य की भाँति श्री पावगी भी नहीं जानते कि वे ऋग्वेद के जिस ध्रुवकक्षीय वातावरण की खोज में उत्तरी ध्रुव का प्रतिपादन कर रहे हैं, वह ब्रह्मावर्त्त सरस्वती के इस तुषारावृत्त तटवर्ती क्षेत्र में मौजूद है। श्री पावगी की ध्रुवदेश से हिमालय के उत्तर-गिरि की ओर लौटने की यह कष्ट-कल्पना कतई असंगत है। उत्तर गिरि की ओर जाने का स्पष्ट और सीधा-सा अर्थ यह है कि वे दक्षिण में तराई-भावर की समुद्री बाढ़ से त्राण पाने के लिए, दक्षिण-गिरि-प्रदेश से उत्तर-गिरि-प्रदेश की ओर भागे और कालान्तर में उत्तर-गिरि-प्रदेश के ध्रुव कक्षीय वातावरण मेंरहने के बाद देवासुर-संग्रामों से ऊब कर तथा आकस्मिक एवं अत्यधिक हिमपात के कारण प्रलय-जल घटने पर, पुनः दक्षि-णगिरि की ओर लौट पड़े, क्योंकि तराई-भावर में ऊपर टिहरी गढ़वाल और कुमाऊँ का यह समस्त भू-भाग मध्य हिमालय है। उस युग में मध्य हिमालय के इस दक्षिणी क्षेत्र को दक्षिण-गिरि, मध्य को अन्तर्गिरि और उत्तरी क्षेत्र को उत्तर-गिरि कहते थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋग्वेद में जलप्लावन की इस घटना का विस्तार-पूर्वक उल्लेख नहीं है। वस्तुतः ऋग्वेद में किसी भी ऐतिहासिक घटना का सिल-सिलेवार वर्णन एक ही स्थान पर, एक ही मण्डल या सूक्त में नहीं किया गया है, वरन् वह सूत्ररूप में विभिन्न ऋषियों द्वारा विभिन्न सूक्तो एवं मंत्रों में, कई मंत्रों का अन्तर देकर व्यक्त किया गया है। लिपिबद्ध न होने के कारण उस युग में किसी विशेष उल्लेखीय घटना को स्मृति-कोष में सुरक्षित रखने के लिए, उसे अत्यन्त सूक्ष्म एवं सूत्ररूप के काव्यबद्ध करके कंठस्थ रखने की प्रणाली थी। आज से दो हजार वर्ष पूर्व तक ऋग्वेद-मंत्रों का दर्शन, संकलन अनेक ऋषियों द्वारा अनेक बार होता रहा है। एक-एक वेद-मंत्र में सूत्ररूप में उनकी अनेक दुःखद और सुखद स्मृतियाँ सुरक्षित हैं। प्रलयकाल के बाद भी सब मंत्र एक ही बार, एक

ही ऋषि द्वारा प्राप्त एवं संकलित नहीं हुए। भगवान् व्यास ने बदरीकाश्रम में व्यास तीर्थ में बैठकर, आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व महाभारत-काल में प्रथम बार उन्हें लिपिबद्ध किया था। परन्तु तिथिक्रम के अनुसार वर्षों से उस अगाध ज्ञान-राशि का सिलसिलेवार संकलन उनके द्वारा भी सम्भव नहीं हो सका था, यह निर्विवाद है।

ऋग्वेद में च्यवन, सुकन्या, दध्यङ्—आथर्वण, विष्णु-वामन के तीन पादों, नहुष, उर्वशी, पुरूरवा, वशिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य और लोपामुद्रा आदि के लगभग तीस सांकेतिक आख्यान हैं, जो पुराणों में विस्तारपूर्वक वर्णित हैं। ऋग्वेद में कुछ का तो नाम ही आया है, कुछ की ओर संकेत मात्र है, जिससे उनसे सम्बन्धित कथानक का कुछ बोध ही नहीं होता, परन्तु पुराणों में उनका सम्पूर्ण जीवनवृत्त विस्तारपूर्वक अंकित हैं। ऐसी दशा में यदि ऋग्वेद में जलप्लावन की इस ऐतिहासिक दुर्घटना का कोई क्रमबद्ध स्पष्ट उल्लेख न किया गया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? पुराणों में उसका विस्तारपूर्वक वर्णन है। इसीलिए पुराणों को वेद-भाष्य भी कहा गया है।

भारतीय आर्यों और फारसियों के पूर्वज एक ही थे। वे जलप्लावन की दुर्घटना में भी साथ ही थे, क्योंकि दोनों जातियों के धर्म-ग्रन्थों में इस दुर्घटना की स्मृति सुरक्षित है। इन्द्र को छोड़कर दोनों जातियों के ऋग्वैदिक देवी-देवताओं में भी अन्तर नहीं हैं। परन्तु ऋग्वेद के अधिकांश मंत्रों में असुरों के परम शत्रु इन्द्र का स्तवन है। इसका अर्थ यह है कि फारसियों के पूर्वज ऋग्वेद-काल में ही, इन्द्र की पूजा-प्रतिष्ठा स्थापित होने से पूर्व जलप्लावन के बाद अपने आर्य-बन्धुओं से पृथक् हो गये थे। अतः ऋग्वेद में इन्द्र की प्रमुखता प्राप्त करने से पूर्व दोनों जातियों-द्वारा जिन ऋग्वैदिक देवी-देवताओं के साथ अग्नि और उसके अन्य प्रतीकों की प्रार्थना की गयी है, वह ऋग्वेद का सबसे प्राचीन भाग है। **'शतपथ ब्राह्मण'** से हजारों वर्ष पूर्व ऋग्वेद-काल में ही इन्द्र प्रतिष्ठित हो गये थे। अतः यह स्पष्ट है कि फारसियों के पूर्वज ऋग्वेद-काल में ऋग्वैदिक इन्द्र की पूजा-प्रतिष्ठा आरम्भ होने से पूर्व, अपने आर्य-बन्धुओं से पृथक् हो गये थे।

ऋग्वेद में प्रलय-वृत्त

ऋग्वेद के अधिकांश मंत्रों का रचनाकाल स्वायंभुव मनु से लेकर सप्तम वैवस्वत मनु तक जलप्लावन से हजारों वर्ष पूर्व निश्चित है, परन्तु इसमें भी कोई संदेह नहीं कि प्रलय-काल के पश्चात्, देवासुर-संग्राम के कई हजार वर्ष बाद तक भी ऋग्वैदिक मंत्रों की रचना होती रही है। अतः उनमें प्रलयकाल की उक्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का आभास तक न हो, यह सम्भव नहीं है।

वेदों के विद्वान् पं० हरीराम धस्माना के कथनानुसार "ऋग्वेद में अत्यधिक वर्षा और वायु (सलिलो मातरिश्वा) के कारण उक्त प्रलयकांड घटित होने का उल्लेख है (ऋ० १०।१०६।१)। प्रलय-जल पर्वतों को विदीर्ण कर, प्रखर वेग से शब्द करता हुआ बहने लगा (ऋ० १२।१।६)"। आर्य शरणार्थी दक्षिण-गिरि-प्रदेश से उत्तर-गिरि की ओर भागने लगे क्योंकि दक्षिण-गिरि-प्रदेश उत्तर-गिरि-प्रदेश से समतल होने के कारण अधिकांश जलमग्न हो गया था, परन्तु उत्तर-गिरि प्रदेश ऊँचे-ऊँचे शैल-शिखरों से अच्छादित होने के कारण इस आकस्मिक जल-प्रलय से अप्रभावित था। मालूम होता है कि लगभग दस हजार फीट ऊँचे सब पर्वत-प्रदेश जलमग्न हो गये थे। धस्माना जी ने माना गाँव को मनु का शरण-स्थल माना है। माना गाँव बदरीनाथ के पास समुद्र-तट से १०४६० फीट ऊँचा है। इस स्थान का शब्दसाम्य आज भी सुरक्षित है।

धस्माना जी के कथनानुसार आर्य शरणार्थियों ने दूर से अन्तरिक्ष में अवस्थित इस सर्वोच्च शरणस्थल (ऋ० ५।८५।५) माना गाँव (मनोरवसर्पणम्) के दर्शन किये (वेदों में अन्तरिक्ष शब्द प्रायः सर्वोच्च स्थान के लिए प्रयुक्त हुआ है) और तब सब प्रसन्न होकर। आत्म-रक्षार्थ तीर की तरह उसी ओर दौड़ पड़े। (ऋ० १०।२७।१६१०।२७।२३) देव-समाज माना पहुँचा और वहाँ ठहर गया। देवमाना पुष्पवाटिका की भाँति शोभायमान थी (ऋ० १०।१०७।१०)। इन ज्ञानियों और अज्ञानियों को माना में इन्द्र, विष्णु की शरण में आश्रय मिला (१०।८२।४ ऋ०)। माना का प्रथम नरेश होने के कारण 'यम'—देवमाना में मनु के नाम से विशेष प्रसिद्ध हुए। सरस्वती के तट पर माना में मनु का निवास-स्थान बना (इदं यमस्य सदनं देवमानम् यदुच्यते (१०।१३५।७)।

पंचजन की प्रजा इन्द्र सहित माना पहुँची और शरण पाने के लिए चिल्लाई। इन बाहर से आये हुए आर्य-शरणार्थियों ने माना में घास और फूस उखाड़ कर आवासगृह निर्मित किये (८।६३।७)। इन्होंने माना के आदि निवासियों से ऋषियों को अन्न देकर जीवनदान देने की प्रार्थना की (१।१८६।८)। मन्द्र जिह्वा और वृषभ बृहस्पति जो नवीन मतों और देवों के साथ पैदल चलकर देवमाना पहुँचे हैं, उनको प्रसन्न करो, (१।१९०।१)। जल के अवतरण पर यम-सदन में हिरण्यगर्भ (अलकनन्दा का तटवर्ती क्षेत्र) के प्रजापतियों को धन्यवाद देने के लिए एक विराट् यज्ञ का आयोजन किया गया (१०।१२१)। सप्तऋषियों को देवमाना का पुत्र (१।११७।११) कहा गया है। देवमाना पृथ्वी के सर्वोच्च शैल-शिखर पर अवस्थित है (५।८५।५)। यम स्वयं कहते हैं कि मैं मृत्यु से बचने और जीवन रक्षा के लिए देवमाना आया (१०।६०।१०)

इस प्रकार पं० हरिराम धस्माना जी ने **'वेदमाता'** पुस्तक में ऋग्वैदिक मंत्रों

के अनेक उद्धरणों द्वारा ऋग्वेद में जलप्लावन की इस घटना की पुष्टि की है और मनु का शरणस्थल बदरीनाथ के निकट 'माना गाँव' सिद्ध किया है। स्थल की ऊँचाई, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक वास्तविकता के अनुसार उनका तर्क युक्तिसंगत भी है। **वायुपुराण** (५०।५८) में भी लिखा है कि यम वैवस्वत मनु मेरु के दक्षिण और मानस के ऊपर निवास करने थे।

श्री चिरंजीलाल पाराशर ने भी **'विश्व सभ्यता का विकास'** नामक ग्रंथ में मानव की मूल-उत्पत्ति या आदि स्थान हिमालय का यही मानसरोवर-स्थान प्रमाणित किया है। उनका मत भी है कि आर्यों का मूल स्थान यही है। यहीं से आर्य पहले मध्य एशिया, पश्चात् ईरान, असीरिया, यूनान आदि देशों में गये। मनु के शरणस्थल के सम्बन्ध में, धस्माना जी, शर्मा जी और पारासर जी का अनुमान भौगोलिक वास्तविकता के बहुत निकट है। मानसरोवर से नीचे मेरु पर्वत के दक्षिण में बदरीकाश्रम के आस-पास सरस्वती नदी के तटवर्ती क्षेत्र में ही कहीं वैवस्वत मनु का शरणस्थल था।

वैवस्वत मनु स्वयं ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषि हैं। जलप्लावन की इस प्रसिद्ध दुर्घटना की उनके मंत्रों में कोई अभिव्यक्ति न हो, यह कदापि सम्भव नहीं है। ऊपर श्री धस्माना जी द्वारा व्यक्त उक्त प्रलय का भयावह चित्र जो ऋग्वेद में यत्र-तत्र अंकित है, मैं प्रस्तुत कर चुका हूँ। शरणस्थल पर पहुँचने के बाद मनु को वहाँ किन-किन सामाजिक, धार्मिक असुविधाओं का सामाना करना पड़ा, यह ऋग्वेद-मंडल के ८ वें सूक्त २७।२८।३०। और ३१ में उन्हीं के शब्दों में व्यक्त है। ऋग्वेद (२।२७।४) में मनु प्रार्थना करते हैं—"हे विश्वदेवगणों! मनु के वर्द्धन के लिए बहु धन दो और शत्रुओं का नाश करो। आप सर्वज्ञाता हैं, हमें अहिंसा पालन के साथ विघ्न-बाधा-रहित गृह प्रदान करो।" पुनः उसी सूक्त के मंत्र ९ में भी उसी के लिए प्रार्थना की गयी है। इसी मंत्र में वहाँ के आदि-निवासियों वासदाताओं से भी निवेदन किया गया है:

"हे वासदाताओं! देवों! दूर अथवा समीप देश से आये हुए इन शरणार्थियों की हिंसा न करना।" अपनी रक्षा के लिए वे देवों के साथ वृत्रहारी इन्द्र को भी आमंत्रित करते हैं। मंत्र १० में वे देवों से विनती करते हैं कि "हम भी तुम्हारे ही वंश के हैं; तुम्हारे भी भाई-बन्धु हैं; शत्रुओं से हमारी रक्षा करो।" मंत्र ६ में भी वे शत्रुओं के वध के लिए इन्द्र, वरुण तथा आदित्य गणों का आह्वान करते हैं। ८।२८।३ में भी वे वरुण से कामना करते हैं कि वे अपने सब अनुचरों सहित, सम्मुख, पीछे और नीचे-ऊपर उनकी रक्षा करें। "हम भी तुम्हारे वंश के हैं, तुम्हारे ही भाई-बन्धु हैं हमारी रक्षा करो।" मनु द्वारा व्यक्त इन ऋग्वैदिक मंत्रों से स्पष्ट है कि वे ऐसे क्षेत्र में चले गये

थे, जहाँ के निवासियों का उनसे परिचय नहीं था, परन्तु थे वे उनके सजातीय। उनका उनसे निकट से या दूर का रक्त-सम्बन्ध था। बिलकुल विदेशी व्यक्तियों के प्रति उनका वह स्नेह-सम्बन्ध उपहासास्पद था।

सूक्त ३० के मंत्र २ में भी मनु शत्रुओं से रक्षा करने के लिए तैंतीस देवताओं की स्तुति करते हैं। मंत्र ३ में भी वे विश्व-देवगणों से विनय करते हैं कि 'तुम लोग हमें राक्षसों से बचाओ!' इससे प्रमाणित होता है कि उस क्षेत्र में दैत्यों (दिति-पुत्रों), दानवों (दनु-पुत्रों) का निवास था। आर्यों के आकस्मिक आगमन से इस नये निवास स्थान में उनके अनेक विरोधी तत्व एवं शत्रु उत्पन्न हो गये थे। यह भी उल्लेखनीय है कि मनु अपना सब कुछ खोकर, एक ऐसे अपरिचित एवं अज्ञात देश में जा पहुँचे थे, जहाँ पर उनका अपना घर नहीं था। उन्हें वहाँ के आदि-निवासियों ने जिन्हें मनु आदरपूर्वक बार-बार 'वासदाता देव' कह कर सम्बोधित करते हैं, आश्रय दिया था। और उनका आश्रम-स्थल जहाँ उन्हें शरण मिली थी, सर्व साधारण के लिए अज्ञात एवं दुर्गम था। ऋग्वेद (८।२७।१८) में इसका स्पष्ट उल्लेख है। वे कहते हैं—'देवों! इस अगम्य और दुर्गम पथ को सुगम करो!' मंत्र २० से प्रकट होता है कि मनु जहाँ सर्वस्व-च्युत थे, वहाँ उस क्षेत्र के निवासी प्रचुर अन्न-धन से सम्पन्न शक्तिशाली एवं सभ्य भी थे। क्योंकि वहाँ के प्राज्ञ (असुर) देवों से, जिनके आधिपत्य में उक्त पर्वत-प्रदेश था, मनु अत्यन्त विनीत होकर प्रार्थना करते हैं कि—'हे वासदाताओं! तुम सर्व धन-सम्पत्ति से परिपूर्ण हो, यदि तुम हमें गृह प्रदान करोगे तो हम तुम्हारे इसी मंगलकर गृह में तुम्हारा पूजन करेंगे।' इसी मंत्र से यह भी स्पष्ट है कि यहाँ के आदि-निवासी असुरोपासक (आर्य) थे, जिन्हें मनु ने आदर पूर्वक 'प्राज्ञ असुर' कहकर सम्मानित किया था।

उत्तर-गिरि का यह हिम-वंत प्रदेश अपनी विशेष भौगोलिक परिस्थितियों के कारण दक्षिण-गिरि निवासियों के लिए अत्यन्त असुविधाजनक, कष्टकर एवं दुर्गम था। उस युग में यातायात की कठिनाइयों से पारस्परिक घनिष्ठ जन-सम्पर्क भी सुलभ नहीं था। वहाँ के आदि-निवासी असुरोपासक आर्य दक्षिणी आर्यों के सजातीय होते हुए भी, वहाँ की विषम पर्वतीय परिस्थितियों के कारण आज की भाँति दक्षिण-गिरि-निवासियों की तरह 'सुसंस्कृत' एवं व्यवहार-कुशल नहीं थे। फिर भी उन्होंने इन नवागन्तुक शरणार्थियों को वास देकर अनुगृहीत किया था। इसलिए दक्षिण के व्यवहार-कुशल, चतुर आर्य शरणार्थियों द्वारा उनके लिए प्राज्ञ (असुर) सम्बोधन अनुपयुक्त नहीं था। इस सर्वथा अपरिचित एवं ऊबड़-खाबड़-क्षेत्र के आदि-निवासियों से अधिक धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए भी मनु का यह अनुरोधपूर्ण

सम्बोधन समीचीन था। आर्य-शरणार्थियों के इस अप्रत्याशित प्रवेश से उत्तर गिरि के असुरोपासक आर्यों के लिए भी अनेक आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक असुविधाएँ उत्पन्न होनी स्वाभाविक थीं, जो उत्तरोतर कट्टर शत्रुता में परिणत होती हुई चली गयीं।

भयभीत मनु ने राक्षसों एवं शत्रुओं से कष्ट पाने की आशंका व्यक्त कर उनसे सब प्रकार त्राण पाने के लिए बार-बार देवों से जो प्रार्थना की है उससे भी दक्षिण के आर्यों और उत्तर के असुरोपासकों के बीच (प्राज्ञ, असुर सम्बोधित करने के बावजूद) परस्पर इसी धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक असंतोष का भाव व्यक्त होता है। मनु (ऋग्वेद ८।३०।६) जो यहाँ के निवासियों से निवेदन करते हैं 'तुम लोग हम से भली-भाँति बोलो' उसमें भी यही भाव निहित हैं।

इन आर्य-शरणार्थियों के समक्ष इस सर्वथा अपरिचित एवं अगम्य पर्वत-प्रदेश में एकत्र असहाय जन-समूह के लिए आवश्यक भोजन-वस्त्र की व्यवस्था का प्रश्न भी चिन्ताजनक हो उठा था, जिसके निराकरणार्थ मनु (२७, २८, ३० और ३१) सभी सूक्तों में सुख, धन, गाय, अश्व और अन्न प्रदान करने के निमित स्थानीय जनता से जोरदार अपील करते हैं (ऋग्वेद ८।२७।११) :

'हे सर्व धनवान् देवों, मैं अन्न की कामना करता हूँ। मैं इसी समय किसी से न की गयी स्तुति को तुम्हारे रमणीय धन की प्राप्ति के लिए करता हूँ।' मंत्र १३ में वे दिव्य-देवताओं को कर्मरक्षण, अभीप्सित की प्राप्ति और अन्न-लाभ के निमित्त आमंत्रित करते हैं। मंत्र १४ में मनु प्रार्थना करते हैं कि 'विश्वदेव-गण! धनादि दान के लिए एक साथ प्रवृत्त हों। आज और दूसरे दिन, सब दिनों में मेरे लिए और मेरे पुत्र के लिए धन के दाता हों; मंत्र १६ में वे पुनः कहते हैं 'हे देवों! जो मनुष्य धन के लिए तुम्हें द्रव्य देता है वह अपना गृह, अन्न और पुत्रादि से सम्पन्न होकर सबके द्वारा अहिंसित होकर समृद्ध होता है।' मंत्र १९ में विश्वदेवगणों से प्रातःकाल सूर्य उदय होने पर और सूर्यास्त के समय मनु के लिए धन-धारण की प्रार्थना है।

मंत्र २१ और २२ में वे प्रार्थना करते है कि "हे सर्व-धन-सम्पन्न देवों! तुम तीनों काल में मनु के लिए जो धन-धारण करते हो, उस धन के द्वारा हम यज्ञ करते हुए धनाढ्यता प्राप्त करेंगे।" २८वें सूक्त के मंत्र १ में भी वे तैंतीस देवताओं से कामना करते हैं कि वे 'हमारी परिस्थितियों को समझें और हमें बार-बार धन दें।' इसी प्रकार ८।३०।४० में वे अग्नि और देवों से वहाँ ठहरने और उन्हें सुख, गौ, रथ, और अश्व दान करने के लिए आग्रह करते हैं। ३१ वें सूक्त के मंत्र ३,४,६,७,९ में भी मनु द्वारा रथ, धेनु और अन्न की कामना की गयी है।

इससे स्पष्ट है कि मनु किसी असाधारण एवं अप्रत्याशित दुर्घटना से सर्वस्व-च्युत होकर एक ऐसे प्रदेश में पहुँचने के लिए विवश हो गये थे, जहाँ का वातावरण उनके लिए सर्वथा अपरिचित था। अपनी और अपनी असहाय प्रजा की जीवन-रक्षा के लिए आर्य-नरेश मनु का ऋग्वेद में व्यक्त यह करुण क्रन्दन ऋग्वेद में उस भयंकर जल-प्रलय की प्रामाणिकता के लिए पर्याप्त है। मंत्र १० में मनु स्पष्टतः पर्वत के सुख, नदी के सुख और देवों के साथ विष्णु के सत्संग-सुख की कामना करते हैं, जिससे यह भी प्रमाणित होता है कि जहाँ पर पर्वत, नदी और विष्णु इन तीनों सुखों का संगम हो वहीं मनु का मनवांछित निवास स्थान था। मनु का वह शरण-स्थल देवमाना (मनोरवसर्पण) नामक स्थान, सरस्वती और अलकनन्दा के संगमस्थल—विष्णुप्रयाग या केशवप्रयाग के निकट था। '**केदार खण्ड**' (५८।६६) के अनुसार केशवप्रयाग में महाविष्णु वास करते हैं।

मनु को मत्स्य भगवान् का आदेश स्मरण था कि 'मैंने तुम्हारी जीवन रक्षा कर दी, नाव को वृक्ष पर बाँध दो, परन्तु पर्वत-प्रदेश के निवास काल में तुम्हारा जल से सम्बन्ध विच्छेद न होने पावे। जैसे-जैसे प्रलय-जल नीचे उतरने लगेगा, उसी प्रकार उसके साथ तुम भी नीचे उतर सकते हो' (शतपथ ब्रा० १।८)। सम्भव है केशवप्रयाग अथवा विष्णुप्रयाग की निम्न उपत्यकाओं तक प्रलय-जल पहुँच चुका था। जल-स्थिति से कुछ ऊपर, किसी निकटस्थ पर्वत-शिखर पर डेरे डाल कर, मनु दीर्घ काल तक प्रलय-जल के उतरने की बाट जोहते रहे, ताकि ज्यों-ज्यों जल घटने लगे और धरती ऊपर आने लगे, वे मत्स्य भगवान् के निर्देशानुसार पुनः दक्षिण-गिरि की ओर अपना अभियान आरम्भ कर सकें। अनेक सामाजिक एवं आर्थिक संघर्षों के बावजूद दक्षिण के उष्ण प्रदेश के निवासियों के लिए इस कठिन शीतप्रधान प्रदेश का वातावरण उत्तरोत्तर असह्य भी होता जा रहा था। अधिक काल व्यतीत होने पर तथा अपने घर का मार्ग भूल जाने पर इसलिए सूक्त ३० के मंत्र ३ में वे देवताओं से प्रार्थना करते हैं कि :

"देवो ! पिता मनु से आये हुए मार्ग से हमें भ्रष्ट नहीं करना। दूरस्थित मार्ग से भी हमें भ्रष्ट नहीं करना।"

यह भी असम्भव नहीं कि इन आर्य-शरणार्थियों को अनेक विषम परिस्थितियों के बावजूद परिस्थितियों की अनुकूल होने की प्रतीक्षा में दीर्घ काल तक यहाँ निवास करना पड़ा हो। देवासुर-संग्रामों में यहाँ के उद्दण्ड आदि निवासी असुरोपासकों को पूर्णतः पराजित करने में उन्हें ४० वर्ष से (ऋ० २।१२।११) अधिक समय लग गया। इस बीच मनु का देहान्त हो गया। मनु के देहावसान के बाद मनु-पुत्रों एवं उसके अन्य उत्तराधिकारियों द्वारा आर्यों के दक्षिणी अभियान का नेतृत्व हुआ हो। मनु-पुत्रों ने देवों से 'पिता मनु से आये हुए मार्ग से हमें भ्रष्ट न करने'

के लिए जो कामना प्रकट की है उसमें यही भावना व्यक्त है।

ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त ६२, मंत्र १०, ११ में मनु पुत्र शायति ने प्रजा वृन्द के लिए पुनः अन्न-संचय करने की बात कही है और उस यज्ञ में अनेक देवताओं और ऋषियों ने सम्मिलित होकर देवों को सन्तुष्ट किया था। ऋग्वेद (८।२७।१४) में मनु के साथ उनके पुत्र का भी उल्लेख है। वे उक्त मंत्रों में अपने और अपने पुत्र के लिए देवों से अन्न, धन की याचना कर रहे हैं। मालूम होता है कि मनु के बाद मनु-पुत्र यान-विशेष द्वारा अपने पिता के पास पहुँचा है, क्योंकि इसी मंडल के १३५ सूक्त, मंत्र १।२, में यमगोत्रीय कुमार प्रार्थना करते हैं कि 'सुन्दर पत्रों से शोभित जिस वृक्ष पर देवों के साथ यम देव ने नाव बाँधकर आश्रय लिया था, हमारे नरपति पिता जी कामना करते है कि मैं उसी वृक्ष के पास जाकर अपने पूर्वजों का साथी बनू। अपने पिता के पूर्व पुरुषों का साथी बनने की बात पर मैंने निर्दय होकर उनके प्रति विरक्ति से दृष्टिपात किया था। विरक्ति को छोड़ कर अब मैं अनुरक्त हुआ हूँ।' मंत्र ४ में भी स्पष्ट है कि कुमार की नौका पिता यम के सान्त्वनापूर्ण उपदेशानुसार चली है। पिता मनु का वह उपदेश उसके लिए नौका और आश्रय प्राप्त करने में सहायक हुआ। यही वृक्ष मनु और सप्तर्षियों का उक्त आश्रय-स्थल है, जिस पर उन्होंने प्रलय-जल से त्राण पाने के लिए अपनी नाव बाँधी थी।

यम ने अपनी माता, पिता, बहिन और पुत्र इक्ष्वाकु सहित समुद्र तट से १०५६० की ऊँचाई पर देवमाना में शरण ली थी और यहीं सरस्वती के तट पर अनेक यज्ञ-यागों द्वारा देवताओं को परितृप्त किया था। इस प्रकार ऋग्वेद में भी स्थान-स्थान पर सूत्र रूप में '**शतपथ**' और पुराणों द्वारा प्रतिपादित प्रलय वृत्त वर्णित है। इतने पर्याप्त और स्पष्ट प्रमाणों की उपस्थिति में मेरे विचार से, उक्त विद्वान् बन्धुओं का यह कथन कि ऋग्वेद में जलप्लावन की घटना का आभास भी नहीं है, सही नहीं है।

● ●

तराई भावर का समुद्र और जलप्लावन

श्री अविनाशचन्द्र दास ने ',ऋग्वैदिक इंडिया' में भूगर्भ-अनुसंधानों के आधार पर ऋग्वेद काल का जो मानचित्र प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार जब उत्तर प्रदेश समुद्र के गर्भ में था उस समय शिवालिक-पर्वत श्रेणी के नीचे समुद्र लहरा रहा था। प्राचीन काल में इस समुद्र-गर्भ में समय-समय पर कई भौतिक परिवर्तन होते रहे हैं। छह सामुद्रिक वाढ़ों का उल्लेख पुराण में है, उस समय भी तराई भावर से ऊपर शिवालिक पर्वत और उसका पार्श्ववर्ती पर्वतीय भू-भाग गढ़वाल और कुमाऊँ (वर्तमान टिहरी और उत्तरकाशी और चमोली को लगा कर) यथावत् था। उस युग में शिवालिक (सपादलक्ष) पर्वत माला से ऊपर मध्य हिमवन्त का दक्षिण गिरि, मध्य भाग मध्य गिरि और उत्तरी भाग उत्तर गिरि कहलाता था और इस सारे भू-भाग का ऋग्वैदिक नाम जल-प्रलय से पूर्व सप्तसिन्धु और जलप्लावन के पश्चात् ब्रह्मावर्त्त हुआ।

श्री दास के कथनानुसार (२५ हजार से लेकर ५० हजार वर्षों के बीच) जब सप्तसिन्धु के दक्षिण में तराई-भावर से समुद्र ऊपर उठा तो हिमालय के ऊँचे शैल शिखरों को छोड़ कर घाटियों में सर्वत्र जल ही जल भर गया था। हिमालय की यह सर्वोच्चता ऋग्वेद काल में भी यथावत् थी। कुछ विद्वानों के कथनानुसार वह विन्ध्याचल एवं अरावली से आयु में छोटी ही क्यों न हो परन्तु भू-वैज्ञानिकों ने उसकी आयु १० लाख वर्ष से कम नहीं मानी है। छह करोड़ पचास लाख वर्ष पूर्व मध्यकाल तक भारत, आस्ट्रेलिया, अफ्रिका और दक्षिण अमेरिका एक थाथ जुड़े हुए थे, परन्तु आज से लगभग दो करोड़ वर्ष पूर्व जिस समय हिमालय का उत्थान आरम्भ हुआ, उसी समय भू-गतियों ने इन देशों को एक दूसरे से पृथक् कर दिया। भारतवर्ष में अतिनूतन युग का प्रतीक **'शिवालिकतंत्र'** में मिलता हैं। जिसकी अवधि भू-वैज्ञानिकों ने ६० लाख वर्ष बतायी हैं (**'हिन्दी-विश्वकोश'**, पृ० २६६)। संसार में मानवीय इतिहास के लिए हिमालय का महत्व कथन से बाहर है। मनुष्य का विकास स्वयं इस भारी प्रवाह वाली भू-गर्भ रचना के कारण हुआ। बैरल ने सबसे पहले यह सुझाव दिया कि मध्य उषा-कालीन युग के लगभग अन्त में दस लाख वर्ष पहले मानव और हिमालय एक साथ ही अस्तित्व में आये। ऋग्वेद (१०।१२१।४) में हिमालय के प्रति असीम श्रद्धा-भक्ति व्यक्त है। अथर्ववेद (१२।१।११) भी उसका गौरव-गान करता है। सारांश यह है कि यदि उपर्युक्त गणितज्ञों का मत भी स्वीकार किया जाय तो यह

आज से लगभग पच्चीस हजार से पचास हजार वर्ष पूर्व वैवस्त मनु के जलप्लावन के समय हिमालय और उसकी सर्वोच्चता विद्यमान थी)।

गृह-गणितज्ञ डॉ० केशकर ने '**तैत्तिरीय ब्राह्मण**' से प्रमाणित किया है कि ई० पूर्व लगभग ४६५० वर्ष बृहस्पति गृह तिष्य नक्षत्र के समीप था। ग्रहों की गणना के आधार पर उन्होंने प्रमाणित किया है कि उत्तर और दक्षिण भारत के बीच जो राजपूताना समुद्र था वह ईसा से लगभग ७५०० वर्ष पूर्व ही अदृश्य हो गया था। डा० सम्पूर्णानन्द भी '**आर्यों का आदि देश**' (पृ० २६६) में लिखते हैं "आज जैसा नक्शा उत्तर भारत का है वैसा आज से लगभग २५-३० हजार वर्ष पूर्व बन चुका था (पृ० २६२) और आज से पच्चीस हजार वर्ष से भी पूर्व आर्य लोग सप्तसिन्धु में बसे हुए थे।

गढ़वाल (सप्तसिन्धु) के दक्षिण में तराई भावर की भूमि और उसकी भौगोलिक स्थिति से उसकी पुष्टि होती है कि किसी समय इस भू-भाग में समुद्र लहरा रहा होगा। '**केदारखण्ड**' (११५।२३४) में हरिद्वार के निकट सप्त सामुद्रिक तीर्थ जहाँ पर सातों मनुओ ने आकर तपस्या की थी, अकारण नहीं है। इससे यहाँ किसी समय समुद्र का अस्तित्व प्रमाणित है। एक बार किसी आकस्मिक विप्लव के कारण जब यह समुद्र ऊपर उठा तो लगभग नौ-दस हजार फीट की ऊँचाई तक समस्त गिरि-प्रदेश में जल भर गया था। हिमालय के दस-ग्यारह हजार फीट से ऊँचे पर्वत-शिखर ही, जल से ऊपर रह गये थे। इस अप्रत्याशित अकल्पित जल-प्रलय की कुछ दिन पूर्व तत्कालीन भू-गर्भवेत्ताओं द्वारा जिन आर्य अधिकारियों की सूचना मिल गयी थी, वे आर्य-नरेश मनु के नेतृत्व में, उससे त्राण पाने के लिए नाव तथा अन्य रक्षात्मक साधनों द्वारा दक्षिण से उत्तर-गिरि की ओर भागने लगे। उनकी यह ऐतिहासिक भगदड़ कई दिनों तक जारी रही। ज्यों-ज्यों जल भरने लगा, वहाँ के निवासी उसी क्रम से निम्न घाटियों को छोड़ कर जहाँ तक जिसकी पहुँच हो सकी निकट और दूर, अधिक उन्नत पर्वत-पृष्ठों पर चले गये। और जब तक उनके शैल-शिखरों पर नव निर्मित आवास गृहों के साथ समुद्री बाढ़ उन्हें भी उदरस्थ नहीं कर गयी, वे पर्वत-पृष्ठों पर वहाँ की वज्र-शिलाओं को काट कर यथा साध्य कृषियोग्य थोड़ा-बहुत सीढ़ीनुमा खेतों का निर्माण कर, जीवन-यापन करने का प्रयास करते रहे।

यह निर्विवाद है कि सर्व साधारण जनता पर्याप्त उपकरणों के सर्वथा अभाव में दक्षिण-गिरि के छह-सात हजार फीट ऊँचे पर्वत शिखरों तक ही पैदल पहुँच सकी होगी। उसके बाद उक्त पर्वत-शिखर जल-मग्न होने के कारण वे भी बाढ़ में बह गये होंगे। परन्तु मनु के नेतृत्व में छँटे-छँटाये समर्थ आर्य-अधिकारियों, आचार्यों, कलाकारों एवं कारीगरों का जो दल नाव में बैठकर

उत्तर-गिरि की ओर सरस्वती के तट पर हिमालय के 'मनोरवसर्पण' स्थान पर पहुँचा, वह अत्यन्त संगठित, शक्तिशाली, सभ्य और शिक्षित था। वे वहाँ १०,११ हज़ार फीट ऊँचे सर्वथा सुरक्षित परन्तु एक अपरिचित शीतप्रधान प्रदेश में वहाँ के आदि निवासियों के प्रतिरोधों एवं अन्य अनेक भौगोलिक विघ्न-बाधाओं से लड़ते-भिड़ते पहुँच गये थे।

आर्य-शरणार्थियों द्वारा, जीवन और मृत्यु के इस संघर्ष में जीविकोपार्जन के पर्याप्त साधन भी साथ ले चलने की सम्भावना नहीं थी। अनेक अस्त्र-शस्त्रों, औद्योगिक उपकरणों, रथों यानों, कारीगरी एवं कलाओं को, समुद्र-गर्भ में विलीन कर, वे उनमें से अधिकांश के केवल नाम ही अपने स्मृति-कोष में सुरक्षित ले जा सके। वैवस्वत मनु से पूर्व छह मन्वन्तरों की दीर्घकालीन साहित्य—सामग्री, कला-कृतियों के साथ प्राचीन आर्य-संस्कृति की सम्पूर्ण वैदिक विरासत समुद्र-गर्भ में समा गयी। वैवस्वत-मनु के राज्य-काल में आर्यों की अत्यन्त प्राचीन सप्तर्षि परम्परा के जिन सात आचार्यों को मनु नाव में बिठाकर अपने साथ ले गये थे, उनके द्वारा यद्यपि वेद-विद्याओं को पुनर्जीवित करने का यथा-साध्य संगठित प्रयास किया गया, परन्तु केवल उनकी श्रुति-स्मृतियों में सुरक्षित अनेक प्राचीन वैदिक विद्याओं, कलाओं को मूर्तिमान होने के लिए दीर्घकालीन प्रतीक्षा करनी पड़ी।

इससे स्पष्ट है कि आर्य जाति की समस्त कलाकृतियाँ, तराई भावर से उत्पन्न इन छह-सात प्रलय बाढ़ों में विनष्ट होती गयीं। आर्यों ने जलप्लावन के बाद ब्रह्मावर्त्त को छोड़कर, आर्यावर्त्त में पहुँचने और वहाँ बसने के पश्चात् ही, जिन कलाकृतियों का सृजन किया, केवल उनके ही आधार पर वर्तमान इतिहासकार भारत की प्राचीन-सभ्यता का काल निश्चित करते हैं। वे भूल जाते हैं कि तराई-भावर के समुद्र सूख जाने के बाद, आर्यावर्त्त के अस्तित्व में आने से पूर्व आर्य जाति को, सप्तसिन्धु और ब्रह्मावर्त्त देश में बसे हुए हजारों वर्ष व्यतीत हो चुके थे। और वे सब क्षेत्रों में चरम उन्नति के शिखर पर आसीन थे। गत छह-सात जल-प्रलयों में अपना सर्वस्व विलीन करने के बाद केवल अपने स्मृति-कोश में संचित कलाकृतियों को आर्यावर्त्त में बसने के बाद, पुनः मूर्तिमान करने के लिए प्रयत्न करने लगे।

अकल्पित जल-प्रलय में उन सर्वस्व-च्युत आर्य-शरणार्थियों के सम्मुख प्राण-रक्षा का प्रश्न ही सर्वोपरि हो उठा था। जल-प्रलय ने उन्हें ऐसे स्थान में ला पटका, जहाँ चारों ओर सर्वथा अपरिचित और दुर्गम पर्वत-प्रदेश फैला हुआ था। उनके पास उस शीतप्रधान-प्रदेश में आवश्यक भोजन-वस्त्र एवं रहने-बसने के लिए आवश्यक आवास-गृहों का भी सर्वथा अभाव था। स्थानीय आदि निवासियों

द्वारा, उन आर्य शरणार्थियों के विरुद्ध कई सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संघर्ष भी शुरू हो गये थे, जो कालान्तर देवासुर-संग्रामों में परिणत होने लगे।

फिर भी इन आर्य शरणार्थियों ने संगठित होकर, स्थानीय विरोधियों से साम, दाम, दंड, भेद—द्वारा संधि-विग्रह कर, विद्या, कला और कौशल के सब क्षेत्रों में अपने को शीघ्र आत्म-निर्भर बना दिया। आर्य-आचार्यों के संरक्षण में, उन्होंने अनेक आवश्यक शक्तिशाली आयुधों अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कर, अपना एक सुदृढ़ सैनिक-संगठन भी स्थापित कर दिया। उन्होंने इन्द्र के नेतृत्व में अपने विरोधी असुरों को युद्धों में परास्त कर वज्र से वहाँ के दुर्गम पथों को प्रशस्त कर, पर्वत-पृष्ठों को फाड़कर, नयी-नयी गूलों का निर्माण करके तथा अन्य उपायों द्वारा जलपूरित उपत्यकाओं का जल सुखा कर (ऋ० १।३२।१,११,१२, २०।-१०।६, २।१५।३५, १०।१३९।६) निर्विघ्नतापूर्वक आर्यों के रहने-बसने-योग्य भूमि का निर्माण किया। आज भी हिमालय के इस समस्त प्रदेश में ऊँचे-ऊँचे पर्वत-शिखरों पर, जहाँ मनुष्य-निवास की कल्पना भी नहीं की जा सकती, सर्वत्र प्रस्तर-खण्डों से निर्मित उस युग के सीढ़ीनुमा असंख्य प्राचीन खेत देखे जा सकते हैं।

दक्षिण-गिरि और उत्तर-गिरि के ऊँचे-ऊँचे पर्वत पृष्ठों में नदी-उपत्यकाओं से लेकर पर्वत-शिखरों तक लगभग तीन-चौथाई खेत सदियों से बंजर पड़े हैं। आज बीसवीं शताब्दी में भी जब गढ़वाल की जनसंख्या १४ लाख के लगभग है, फिर भी उसके तीन-चौथाई खेत बीहड़ वन-पर्वतों से ढके हुए, बंजर पड़े हुए हैं। पर्वत-शृंगों तक फैले हुए इन असंख्य सीढ़ीनुमा खेतों के निर्माण से, उस युग में इस प्रदेश की घनी जनसंख्या का सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है। बीहड़-वनों में, ऊँचे-ऊँचे पर्वत-शिखरों पर जहाँ यातायात-सम्बन्धी अनेक प्राकृतिक बाधाएँ हैं, जहाँ पेयजल के स्रोतों का भी मीलों तक अभाव है, गढ़वाल के वे प्राचीन निवासी नदी-उपत्यकाओं के समतल भूमि-भाग को छोड़ कर इन विषम पर्वत-पृष्टों पर बसने के लिए क्यों विवश हुए ? इतने कष्टों से पर्वतों की वज्र-शिलाओं को काट-काट कर इतने असंख्य सीढ़ीनुमा खेतों का निर्माण करने वाले वे कठोर परिश्रमी किसान कौन थे ? तथा इतने ऊँचे पर्वत-पृष्ठों पर उन्होंने पेय-जल की किस प्रकार व्यवस्था की होगी ? वे लोग जिन्होंने इतने कष्टों से इतने प्रेम और परिश्रमपूर्वक इन खेतों का निर्माण किया है, अपना देश छोड़ कर फिर कब, कहाँ और क्यों चले गये ? यह अविदित रहस्य सदियों से यहाँ के विचारशील मस्तिष्कों को आन्दोलित करता रहा है।

लोगों का अनुमान है कि कृषियोग्य भूमि का अभाव और अपरिमित जन-संख्या की वृद्धि इसका मुख्य कारण है। कुछ लोगों के कथनानुसार जब अप्रत्याशित

जल-प्रलय के समय, यहाँ की समस्त नदी-उपत्यकाओं की समतल भूमि, जलमग्न हो गयी, तो प्रलय-जल की वृद्धि के साथ-साथ लोग भी, नदी-उपत्यकाओं से ऊपर, पर्वत-पृष्ठों पर बढ़ते और जीवन-निर्वाह के लिए सीढ़ीनुमा खेतों का निर्माण करते चले गये। मालूम होता है कि प्रलय-बाढ़ पर्याप्त समय का अन्तर देकर आती रही है। ज्यों-ज्यों पर्वत-उपत्यकाएँ प्रलय-जल से आप्लावित होती गयी, उसी प्रकार लोग अधिक ऊँचे पर्वत-शिखरों पर बसते चले गये। इसी बीच वे अपने जीवन-निर्वाह के लिए उन्नत-पर्वत-पृष्ठों पर अपने निवास स्थानों के आस-पास यथा-साध्य खेती करने का प्रयास करते रहे हैं। पेयजल का तो उन्हें कहीं भी अभाव नहीं था। वह तो उन्हें आत्मसात करने के लिए सदैव उनके घर के द्वार पर मुँह बाये तैयार रहता था। अन्त में पर्वत-शिखरों के डूब जाने पर, वे या तो जहाँ उनके सींग समाये वहाँ भाग खड़े हुए, अथवा उस प्रलय-जल में समा गये।

इस पर्वतीय प्रदेश की विषम भौगोलिक स्थिति में, कृषि-व्यवसाय के सर्वथा अयोग्य होते हुए भी, इसी देश में रहकर प्राचीन निवासी इन वज्र-शिलाओं को काट-काट कर इन खेतों का ही निर्माण करते रहे। वे गढ़वाल से बाहर गंगा के उपजाऊ मैदान में जाकर क्यों न बस गये? इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि उस-युग में गढ़वाल से बाहर जाने के लिए कोई ऐसी अनुलंघनीय बाधाएँ थीं जो वे जीवन-निर्वाह के सरल साधनों की खोज की इच्छा होते हुए भी गढ़वाल छोड़ कर बाहर जाने में असमर्थ रहे। स्पष्ट है कि गढ़वाल और गंगा के उपजाऊ मैदान के बीच उस युग में समुद्र लहरा रहा था। जलप्लावन के अवतरण पर जब किसी भौतिक परिवर्तन के कारण तराई-भावर का समुद्र सूख गया और गंगा का उपजाऊ मैदान समुद्र-गर्भ से बाहर निकल आया तो यहाँ के अधिकांश निवासी, जो यहाँ की भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक असुविधाओं से तंग आ चुके थे, गढ़वाल छोड़ कर, वहाँ चले गये।

● ●

देव और असुर

इतिहासकार आर्यावर्त्त में ही आर्यजाति की प्राचीनता का अनुमान लगाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि आर्यावर्त्त के अस्तित्व में आने से पूर्व, आर्यजाति के पुराणों में वर्णित हजारों बरसों के छह मन्वन्तर सप्तसिन्धु देश में व्यतीत हो चुके थे। सप्तम मन्वन्तर के प्रारम्भ में सप्तसिन्धु का दक्षिण गिरिप्रदेश प्रलय जल में डूब जाने एवं वैवस्वत मनु के अपने पुत्र इक्ष्वाकु और विशिष्ट व्यक्तियों को साथ लेकर, सप्तसिन्धु के उत्तरी भाग सरस्वती नदी के उन्नत पर्वत-प्रदेश 'ब्रह्मावर्त्त' में शरण लेने से पूर्व, सप्तसिन्धु के दक्षिण गिरियों में हरिद्वार-कनखल के समुद्र-तट पर देव और उत्तर गिरि प्रदेश में असुरोपासक आर्य निवास करते थे।

देव और असुर दोनों एक ही पिता के पुत्र तथा सजातीय थे। मरीचि के पुत्र महर्षि कश्यप, जिनका आश्रम भी, प्रजापति दक्ष की राजधानी कनखल के निकट हरिद्वार में था, दक्ष की तेरह कन्याओं के पति थे। उनकी दिति, दनु और कद्रू आदि पत्नियों से क्रमशः दैत्य, दानव और नागों की तथा अदिति नामक पत्नी से बारह आदित्यों (देवों) की उत्पत्ति हुई। आदित्यों में सबसे बड़े इन्द्र एवं सबसे छोटे विष्णु (वामन) थे। सृष्टि के आदिकाल में पिता का नहीं, वरन् माता का महत्व अधिक था। अतः माताओं के नाम पर ही देव और दानवों की वंशावली चली। दिति के दैत्य, दनु के दानव और अदिति के आदित्य कहलाये।

कश्यप की भार्या अदिति, दिति, दनु, अरिष्ठा, सुरसा, स्वसा, सुरभि, विनता, क्रोधवसा, इरा, कद्रू और मुनि इत्यादि थीं। दनु से अयोमुख, शम्बर, कपिल, वामन, स्वर्भानु, वज्रनाम, वारभ, शैल भादिक दानव उत्पन्न हुए। स्वर्भानु की कन्या प्रभा पुलोमा, सुशची, लोपोमा, कालकेया और हिरण्यकशिपु के संसर्ग से ग्यारह सहस्त्र सन्तानों की सृष्टि हुई।

इस प्रकार प्राचीन ग्रन्थों में जिन्हें असुर, दैत्य, दानव या राक्षस कहा गया है, वे सब देवताओं के ही सौतेले भाई थे। ऋग्वेद में वृत्रासुर को दनु-पुत्र (ऋ० २।११।१८) और इन्द्रादि का सजातीय कहा गया है। ऋग्वेद के प्राचीन भागों में 'असुर' शब्द आर्यों के प्रधान-देवताओं—इंद्र, वरुण, अग्नि, रुद्र इत्यादि

के लिए प्रयुक्त हुआ है (ऋ० १।१७४।१०)। अग्निदेव को 'अग्ने असुरः' (ऋ० ४।२।४५, ७।२।३), सूर्य को असुरों का नेता 'असुरः सनीथा' (ऋ० १।३५।१०), इन्द्र को 'असुरो वृहच्छवा' ऋ० १।५४।३ और वरुणदेवता को शुनःशेप ने (ऋ० १।२४।१४ में) 'वरुण असुर प्रचेता राजन्' कहा है। रुद्र को भी ऋ० (५।४२।११) में असुर कहकर सम्बोधित किया गया है। असुर का अक्षरार्थ भी देवता, अनिष्ट दूर करनेवाला और प्राणदाता है (ऋ० १।२४।१४)।

फारसियों के धर्मग्रन्थ **'जेन्दावस्ता'** में भी वह ठीक इन्हीं वैदिक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। इसी प्रकार 'देव' शब्दों का प्रयोग भी वेदों में सूर्य, चन्द्र अग्नि, वायु आदि दैवी शक्तियों के अर्थ में किया गया। उसका अक्षरार्थ भी प्रकाशयुक्त दिव्य वस्तु है। वृत्रासुर भी देव-संज्ञा से सम्बोधित है। ऋग्वेद में १०५ बार असुर शब्द प्रयुक्त हुआ है और उनमें ९० बार उसका प्रयोग शोभन अर्थों में और केवल १५ स्थानों पर वह देवताओं के शत्रुओं का वाचक है।

असुर और देव दोनों शब्दों का प्रयोग वेदों में विशेष शक्ति, विशेष सम्मान और विशेष गुणी व्यक्तियों के लिए भी होता रहा है। ऋग्वेद (२।१२) में मनुष्य और असुर दोनों एक ही कोटि में रख कर सम्बोधित किये गये हैं। वैदिक मंत्र-द्रष्टाओं में असुर-आचार्यों का नाम भी आता है। ऋग्वेद मं० १० सूक्त १८९ के द्रष्टा 'सर्पयाज्ञी' ऋषि असुर-वंश के थे। ऋग्वेद मं०, ९,८९,८८ और ९९ सूक्तों के मंत्र-द्रष्टा ऋषि असुराचार्य उशना कवि भृगु के पुत्र थे। उनको कहीं-कहीं शुक्राचार्य भी कहा गया है। अथर्ववेद को भृगु-अंगिरा वेद अर्थात् अथर्वांगिरस, भृग्वांगिरस भी कहा गया है। अनेक आथर्वण-सूक्त उशना द्रष्ट हैं। उशना महान् भिषक भी थे। उशना के मंत्रों का विकृत रूप **'अवेस्ता'** में भी मिलता है। पं० भगवद्दत कृत **'वैदिक वाङ्मय का इतिहास'** (पृ० १६२) के अनुसार उशना एक ओर वेद-प्रवचनकर्त्ता थे और दूसरी ओर उन्होंने लोक-भाषा में अर्थशास्त्र आदि का भी प्रवचन किया था।

प्रारम्भ में आथर्वण-सूक्तों से आर्य अनार्य समान रूप से प्रभावित थे, परन्तु कालान्तर में असुराचार्य द्वारा द्रष्ट एवं प्रचारित मारण, मोहन, उच्चाटन विषयक मंत्रों का विशेषकर असुरों में अधिक प्रचार हुआ। मालूम होता है देवासुर संग्राम के बाद पारस्परिक द्वेष-भाव के कारण असुरों में यह बहु प्रचारित अर्ववेद को वेदत्रयी से पृथक् रखा गया। देवासुर-संग्राम में पराजित असुरों द्वारा ईरान में पहुँचने पर ईरानी भाषा में प्रचलित अथ्रवन का नामकरण और ईरानियों में प्रचलित तंत्र-मंत्रों का अधिक प्रचार हुआ।

जलप्लावन से त्राण पाने के बाद मनु द्वारा जिस यज्ञ का आयोजन किया

गया था, उसमें किलात और आकुलि नामक असुर ब्राह्मणों को भी आमंत्रित किया गया था (किलाताकुली असुरब्राह्मण इति आहूतः)।

वेद और पुराणों में सुर और असुरों के बीच पारस्परिक विवाह-सम्बन्धों का भी वर्णन आता है। स्वयं देवराज इन्द्र की स्त्री शची पुलोमा दैत्यराज वैश्वानर की पुत्री थी। शची पुलोमा ऋग्वेद (१०।१५९) की मंत्र-द्रष्टाओं में है। दैत्यगुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी और असुरराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा आर्य-नरेश ययाति को ब्याही थीं। ऋषि भृगु की पत्नी च्यवन की माता भी दैत्यपुत्री थी। रावण के पिता विश्रवा के साथ सुमालिन राक्षस की पुत्री कैकसी और ऋषि भारद्वाज की पुत्री ब्याही थी। भीमसेन ने वनवासकाल में अपनी माता और भाइयों की सम्मति से हिडिम्बा नामक असुर-महिला से विवाह किया था।

इस प्रकार वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा ही देव और दानवों की सामाजिक एवं धार्मिक समानता प्रतिपादित नहीं होती, वरन् वेद और पुराणों में देवताओं के साथ अनेक असुरों को भी वेदों और शास्त्रों का विज्ञाता एवं चरित्रवान् बताया गया है। उन्हें भी 'सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः' (वनपर्व) कहा गया है। '**रामायण**' (३।११।५६) में लिखा है कि वे संस्कृत में बातचीत करते थे। असुर और राक्षसों की नामावली भी इतनी सभ्य और सुसंस्कृत रूप में मिलती है कि उससे यह कहीं भी प्रकट नहीं होता कि उनकी उत्पत्ति आर्यवंश से बाहर किसी असंस्कृत एवं असभ्य जाति से है।

यद्यपि वैदिक काल से ही देव और असुर, दोनों सौतेले भाइयों में आजकल की ही भाँति सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकार-लिप्सा के कारण परस्पर गृहयुद्ध आरम्भ हो गये थे। पारस्परिक मनोमालिन्य एवं उत्तरोत्तर उग्र विरोधों के कारण एक ने दूसरे का बहिष्कार कर, एक-दूसरे को देव-दानव, आर्य-अनार्य, छोटा-बड़ा, सभ्य और असभ्य घोषित कर अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी; परन्तु उस समय भी एक-दूसरे की मौलिक एकता सर्वमान्य थी। प्रह्लाद का पिता राक्षस था और रावण परम तपस्वी ब्राह्मण विश्रवा मुनि का पुत्र था। परम धार्मिक आर्य-महिला से कंस और कंस की बहिन देवकी से श्रीकृष्ण उत्पन्न हुये हैं। आर्य-साहित्यकारों ने हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु और रावण-कुम्भकरण आदि राक्षसों को शाप-भ्रष्ट तपस्वी कहा है।

आर्य-साहित्य में केवल देवों को ही नहीं, असुरों को भी 'आर्य' कहकर सम्बोधित किया गया है। वाल्मीकि '**रामायण**' (६।१६।६) में मन्दोदरी असुरराज रावण को 'आर्यपुत्र' कहती है। वानरराज बाली को उसकी पत्नी '**रामायण**' में

'आर्यपुत्र' और 'आर्य' नाम से पुकारती है (बा० ४।१५।८ ।

वस्तुतः एक ही प्रजापति से उत्पन्न देव और असुरों का पृथक्-पृथक् माताओं से उत्पन्न होने के कारण यह पारिवारिक मनोमालिन्य, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों से उत्तरोत्तर उग्रतर होता चला गया। उस प्राचीन युग में पिताओं का नहीं, वरन् माताओं का अधिक महत्व था। देवों और दानवों की माताएँ अलग-अलग थीं, जिनका आजकल की ही भाँति परस्पर मतैक्य नहीं था। अतः एक ही पिता के पुत्र होते हुए भी सौतों की सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं के कारण पिताओं के नाम से नहीं, वरन् माताओं के नाम पर देव और दानवों का वंश-क्रम चला। सौत और सौतेले का ऐतिहासिक संघर्ष, जिसके कारण घरों और राज्यों में समय-समय पर सर्वत्र अनेक भयंकर देवासुर-संग्राम हो चुके हैं, सर्वविदित हैं। उस युग में जब एक पति की कई पत्नियाँ थी, सौतों का यह पारस्परिक वैमनस्य स्वभाविक था। ऋग्वेद में इस सौतिया डाह की, सौतों के प्रति परस्पर घोर घृणाभाव की, अभिव्यक्ति है। ऋग्वेद (१०।१४५, १,२,३,४,५) के अनुसार इन्द्राणी अपनी सौतों को अधिक के अधिक दुःख देने एवं उन्हें अपनी दृष्टि से दूर करने के लिए प्रार्थना करती है; वह कामना करती है कि उसकी सौत नीच से भी नीच एवं निर्बल से भी निर्बल हो जाय। वह सौत का नाम तक नहीं लेना चाहती। कहती है कि 'सपत्नी सबको अप्रिय है, मैं उसे दूर भेज देती हूँ।' सपत्नियों के प्रति, स्वर्गाधिपति इन्द्र की इन्द्राणी के एक परम सम्माननीय ऋग्वैदिक आर्य-महिला के ये विचार उस युग में दिति, अदिति आदि कश्यप की अनेक पत्नियों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।

अदिति अत्यन्त संयमी और विनयशील थी। उसकी सन्तान भी देवस्वरूप, विनयी और संयमी हुई, परन्तु दिति, दनु और कद्रू के पुत्र उद्धत, क्रोधी और अविनयशील थे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकृति एवं स्वभाव से सम्पन्न सौतों की सन्तानों में रात-दिन गृहकलह एवं ठोकपीट होती रही। परिणामस्वरूप एक ही परिवार में दो विपरीत संस्कृतियाँ पल्लवित होने लगीं। कालान्तर में कौटुम्बिक विस्तार एवं उनकी बढ़ती हुई महत्वाकांक्षाओं के साथ-साथ एक ही सजातीयों की यह सांस्कृतिक विषमता अनेक सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक संघर्षों में फूट पड़ी। पैतृक सम्पति का एकमात्र विभाजन इन दैनिक गृहयुद्धों का अभी तक अंतिम निराकरण रहा है। इसी आधार पर आर्यों का आदि देश सप्तसिन्धु (गढ़वाल) सौतों की संख्या के अनुसार देव, दैत्य, दानव और नागों में विभाजित किया गया। इतिहासकारों का अभिमत है कि गढ़वाल के अतिरिक्त भारतवर्ष के अन्य भागों में सौतियावाँट का अस्तित्व नहीं है।

आज से कुछ वर्ष पूर्व तक वेदप्रतिपादित माताओं के महत्व की परम्परानुसार गढ़वाल में 'सौतियाबाँट' की यह परम्परा प्रचलित थी। डॉ० एल० डी० जोशी ने '**खस-फेमली लॉ**' (पृ० ६३, ६४ और ६५) में इसको विस्तारपूर्वक सप्रमाण सिद्ध किया है। उनके कथनानुसार आर्यावर्त्त के आर्यों से स्वतन्त्र गढ़वाल की 'सौतियाबाँट' की यह प्रथा उनके उत्तराधिकार में प्राप्त प्राचीन मातृ-प्रधान युग की अवशेष है, क्योंकि गढ़वाल के अधिकांश निवासी आर्यों की उस आदि शाखा के वंशज हैं, जो जलप्लावन के अवतरण पर, अपने आदि देश (ब्रह्मावर्त्त) को छोड़कर आर्यावर्त्त में नहीं गये। कुमाऊँ की 'सौतियाबाँट' की इस प्रथा के समर्थन में राहुल जी भी '**कुमाऊँ**' (पृ० १६१) में लिखते हैं—पहले रिवाज था कि अनेक पत्नियों की सन्तानों में पैतृक सम्पत्ति के समान बँटवारे की जगह उत्तराधिकार सौतों में बराबर बँटता था। कद्रू और विनता से सम्बन्धित गढ़वाली लोकगीतों में भी उनकी इस पारिवारिक अशान्ति की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है।

इस प्रकार सौतियाबाँट की इस वैदिक परम्परानुसार हरिद्वार से ऊपर सप्तसिन्धु का यह समस्त गिरि प्रदेश दिति के दैत्यों, अदिति के आदित्यों, दनु के दानवों और कद्रू के नागों में पृथक्-पृथक् विभाजित हो गया। मालूम होता है कि अलकनन्दा से पार पश्चिमोत्तर गिरि प्रदेश, (अहिर्बुघ्न) परगना नागपुर की मंदाकिनी उपत्यका और टिहरी के यमुनोत्तरी-गंगोत्तरी क्षेत्र को लगा कर, दिति के दैत्यों और कद्रू के नागों को मिला। उसकी राजधानी ऊखीमठ या जोशीमठ थी। गढ़वाल का पूर्वोत्तरी क्षेत्र, वधाण (बुघ्न) दानपुर एवं कुमाऊँ को लगाकर दनु के दानवों के अधिकार में तथा मानसरोवर से नीचे, परगना पैनखंडा का बदरी क्षेत्र व चान्दपुर (चन्द्रबुघ्न) का गन्धमादन पर्वत-प्रान्त जो स्वर्ग कहलाता था, उस पर अदिति के सबसे जेष्ठ पुत्र इन्द्र ने अधिकार कर लिया। उससे नीचे हरिद्वार तक का दक्षिणी गिरि प्रदेश अन्य आदित्यों के हिस्से में पड़ा।

प्रकृति-श्री से सम्पन्न एवं सीमान्त प्रदेश होने के कारण, इन्द्र का स्वर्ग-राज्य सदैव विवादग्रस्त क्षेत्र रहा है। उसके पश्चिमोत्तर क्षेत्र नागपुर में अहियों (नागों) और पूर्वोत्तर क्षेत्र दानपुर में दनु के दानवों का बोलवाला था। अधिक शक्तिसम्पन्न होने पर समय-समय पर कभी दानव और कभी नाग ही नहीं, वरन् स्वयं देव भी बलपूर्वक इस क्षेत्र पर अधिकार करने का प्रयत्न करते रहे हैं। हिरण्यकशिपु, बलि एवं नागा नरेश नहुष द्वारा इन्द्र को बलपूर्वक स्वर्ग से निकाल कर, उसके राज्य पर अधिकार करने की कई पौराणिक कहानियों से यह बात प्रमाणित है। देवताओं के साथ भी इस क्षेत्र के लिए युद्ध होने के

अनेक प्रमाण मिलते हैं। अतः इन्द्र दैत्यों से ही नहीं देवों से भी भयभीत रहता था। यह भी असम्भव नहीं कि उत्तर-गिरि का समस्त गिरि-प्रदेश गन्धमादन पर्वत क्षेत्र को लगा कर, दैत्य और दानवों के हिस्से में सड़ा हो; परन्तु प्रकृति-सौंदर्य से सम्पन्न होने के कारण शक्तिशाली इन्द्र ने गन्धमादन पर्वत प्रदेश दैत्य और दानवों से बलपूर्वक हस्तगत कर लिया हो।

भूमि के विभाजन में उसका विस्तार कम हो या अधिक, वह किसी परिवार से सम्बन्धित हो या किसी राज्य-साम्राज्य की हो, यदि उसके बीच में नदी, पर्वत अथवा अनुलंघनीय कोई प्राकृतिक सीमा न हो तो उसका सीमान्त क्षेत्र विवादास्पद ही रहता है। यदि यह सीमान्त क्षेत्र विशेष श्री-सम्पन्न भी हो तो दोनों ओर से उसको हस्तगत करने का प्रयास होता रहता है, जिसके कारण युद्धस्थिति उत्पन्न होनी स्वाभाविक है। सम्भव है कि विद्रोहिणी सौतों के विद्रोही पुत्रों के बीच पैतृक सम्पत्ति की सौतियाबाँट से भी कुछ ऐसी ही अनिश्चित एवं अनिर्णीत राज्य-सीमाएँ भी रह गयी हों, जो पीढ़ियों तक विवाद का कारण बनी रही हों। अनेक पौराणिक कहानियों द्वारा यह स्पष्ट है कि स्वर्गाधिपति इन्द्र अपने स्वर्गराज्य की इस विवादास्पद स्थिति के कारण सदैव चिंतित रहे हैं और देवताओं में सबसे अधिक इन्द्र के साथ असुरों की घोर शत्रुता का यह भी एक मुख्य कारण रहा है। जो कुछ भी हो, पांडवों के महाभारत काल में भी स्वर्ग के इस नन्दन कानन पर देवताओं के साथ अनेक शक्तिशाली असुरों का भी आधिपत्य प्रमाणित है। पुराणों द्वारा भी देव और दानवों के बीच इस सम्पत्ति-विभाजन की पुष्टि होती है (**विष्णुपुराण**,२२)।

असुरों का निवास स्थान

श्री नारायण पावगी '**दि आर्यावर्तिक होम ऐन्ड दि आर्यन क्रैडल इन दि सप्तसिन्धूज**' में लिखते हैं कि 'युगों तक असुर लोग पर्वत-पृष्ठों और उपत्यकाओं में जनमार्गों से दूर, सघन वनों, एकान्त स्थानों में निवास करते रहे। जिसके कारण उनकी प्रकृति भी ऐसी ही हो गयी। आजीवन बनवासी एवं दीर्घकाल तक एकान्त जीवन बिताने के कारण असुरों का स्वभाव भी क्रूर एवं निर्दय होना स्वाभाविक था।' ऋग्वेद में लिखा है कि असुरों का निवास स्थान जिस पर्वत-प्रदेश में था, वह असाधारण, अनुलंघनीय एवं गगनस्पर्शी था और वहाँ अनेक नदी-नालों तथा जल-स्रोतों से तैर कर जाना पड़ता था (ऋ० ५।२९।४)। देवराज इन्द्र और वृत्रासुर तथा शम्बर के युद्ध में पर्वतों, गिरियों और अद्रियों का स्पष्ट उल्लेख है (ऋ० २।१५।८)।

अंगिरा के विनय करने पर इन्द्र ने बल नामक असुर का वध किया तथा

पर्वत-पृष्ठ में प्रस्तर-खंडों से निर्मित सुदृढ़ द्वारों को खोला। वे द्वार पर्वतों में प्रस्तर-खंडों से निर्मित थे। इतना ही नहीं ऋग्वेद (८।३२।६) में स्पष्ट है कि वह पर्वत हिमाच्छादित (हिमालय) था। प्रकाशमान इन्द्र ने वृत्रासुर का, औरर्णनाभ का और अहीशुभ का वध किया। उन्होंने अर्बुद को भी बर्म से वेध डाला।

इन्द्र स्वयं पर्वतीय था (ऋ० १।११।५)। वह पर्वतीय परिस्थितियों से पूर्ण परिचित था (ऋ० ८।६।२८)। उसके उपदेश पर्वत-प्रान्तों में विचरण करते थे (ऋ० ८।१३।८,१०)। उसको वृत्रासुर शर्यणावती नदी-तट पर पर्वत-प्रदेश में मिला था (ऋ० १।८४।१४)। उसने अगम्य और ऊँचे पर्वतों की ओर प्रमुख सेनानायकों सहित प्रयाण किया; जहाँ पृथ्वी आकाश से मिली हुई थी। सैनिकों ने एक-दूसरे को थाम कर, परस्पर एक-दूसरे की सहायता करके, वहाँ के नदी-नालों को तैर कर पार किया था (ऋ० ५।२९।४)। अलंघ्य और अगम्य पर्वत-प्रान्त का निवासी होने के कारण पर्वतराज शम्बर को खोज निकालने में इन्द्र को ४० वर्ष लगे थे (ऋ० २।१२।१०)।

'जिसने पर्वत में छिपे शम्बर को ४०वें शरद में खोज निकाला, जिसने वलवान् दानव 'अहि' को मार डाला। हे लोगों! वही इन्द्र है।'

ऋग्वेद में पत्थरों से बने हुए शम्बर के १०० गढ़ों का वर्णन है, जिनमें से ९९ गढ़ों को इन्द्र ने आर्य-नरेश दिवोदास से मिल कर नष्ट किया था (ऋ० ७।९७।७)। मायावी विप्रु दैत्य के भी दृढ़ दुर्गों को इन्द्र द्वारा गिराये जाने का ऋग्वेद में उल्लेख है (१०।१३८।३)। शम्बर ने पर्वत से उतर कर आर्यों पर आक्रमण किया था (ऋ० १०।२६।५)। असुर पर्वत में शिला-खंडों से निर्मित दृढ़ दुर्गों में रहते थे। शम्बर का राज्य शीत-प्रधान-प्रदेश में था। वहाँ सोम बहुत होता था। लोग भेड़ें पालते थे और ऊनी परिधान पहनते थे (ऋ० ९।८६।४७)। देवासुर-संग्राम जिस प्रदेश में हुए वहाँ इक्कीस पर्वत थे और ९० नदियाँ बहती थीं। इन्द्र ने २१ पर्वत-तटों को तोड़ कर ९० नदियों के ऊपर वज्र-प्रहार किया था (ऋ० ३।१०९।८,८।८५।१,२)। ऋग्वेद (१०।१०४।८) में स्पष्ट लिखा है कि :—"हे इन्द्र! रमणीय और अमित गति वाली गंगा आदि सात नदियों के द्वारा तुमने शत्रु-पुरियों को नष्ट करके, सिन्धु को बढ़ाया। तुमने देवों और मनुष्यों के उपकार के लिए ९९ नदियों का मार्ग परिष्कृत किया।"

इस मंत्र के अनुसार शम्वर और इन्द्र का संग्राम सप्तसिन्धु के उस क्षेत्र में हुआ जहाँ (आचार्य सायण के कथनानुसार) गंगा आदि सात नदियों के अतिरिक्त ९९ नदियाँ भी बहती थीं और उसी पर्वत प्रदेश में इन्द्र ने शम्वर का भी वध किया था (ऋ० ४।३०।१४)। वृत्र की माता दनु को भी इन्द्र ने मार डाला

(ऋ० १।३२।६) । शम्बर दानव भी उसीका पुत्र था (केदार०।८।२८) । अंगिरा आदि के लिए भी इन्द्र ने जिस क्षेत्र में गायों को खोज निकाला था, वह भी सुदृढ़ पर्वत-प्रदेश था (ऋ० ३।३१।५,६,७) ।

गढ़ों का देश गढ़वाल—ऋग्वेद में इन्द्र द्वारा नष्ट किये गये विशाल प्रस्तर खंडों से निर्मित शम्बर के १०० दृढ़ दुर्गों का उल्लेख है (ऋ० ५।२६।६) । यह स्पष्ट ऐतिहासिक सत्य है कि गढ़वाल में सर्वत्र पर्वत-शिखरों पर अनेक भग्नावशिष्ट गढ़ों के खंडहर पाये जाने के कारण, उसका नाम गढ़वाल पड़ा है । कुछ इतिहासकार यहाँ केवल बावन गढ़ों का ही उल्लेख करते हैं, जो असत्य है । हो सकता है कि उस समय बावन सामन्तों में बँटे हुए इस गिरि प्रदेश के उन गढ़ों की परम्परा में केवल ५२ गढ़ ही आबाद रहे हों, परन्तु गढ़वाल के सुनसान वनों में यत्र-तत्र पर्वत-पृष्ठों पर विशाल-प्रस्तर-खंडों से निर्मित लगभग १०० गढ़ों के उक्त अवशेष आज तक सुरक्षित हैं ।

गढ़वाल के पर्वत-शिखरों पर अनेक भग्नावशिष्ट दुर्ग ऐसे हैं जिनका पास-पड़ोस के कुछ विशेष व्यक्तियों के अतिरिक्त कोई नाम तक नहीं जानता और न किसी सरकारी कागज-पत्रों में उनका कोई लिपिबद्ध उल्लेख है । वे कहीं राजगढ़, कहीं रानीगढ़, कहीं लोहवागढ़, कहीं कत्थूगढ़, कहीं सौलागढ़, कहीं धौलागढ़ इत्यादि नामों से अथवा कहीं केवल 'गढ़' के नाम से पास-पड़ोस में प्रसिद्ध हैं । उनमें कुछ गढ़ ऐसे भी हैं जिनमें गाँव बस गये हैं और वे सरकारी कागजों में लिपिबद्ध हो चुके हैं । कागजों में आज भी उनका नाम गढ़, गढ़कोट, कोट, गढ़तोक, गढ़खेत आदि दर्ज हैं । अनेक गढ़ों के अवशेषों को निकटस्थ ग्राम-वासियों ने खेतों का निर्माण कर पूर्णतः नष्ट कर दिया है । बावन गढ़ों के अतिरिक्त ऐसे कुछ गढ़ों का विवरण जो पौड़ी और चमोली गढ़वाल के सरकारी कागजपत्रों में अंकित है, निम्नलिखित है :

	वधाण	देवल गढ़	बारह स्यूँ	चौंद कोट	त० सलान	म० सलान	गंगा सलान	कुल
गढ़		१	६				१	८
गढ़कोटा	२		२		२	१	२	६
कोट	३	१					३	८
कोटा		२	४	१	६	१		१४
गढ़खेत						१		१
गढ़थ	१		१					२
कुल	६	४	१४	१	८	३	६	४२

स्व० रतूड़ी जी द्वारा वर्णित ५२

९४

इस संख्या में टिहरी गढ़वाल में स्थित गढ़ों की संख्या सम्मिलित नहीं है।

यद्यपि प्राचीन गढ़-परम्परानुसार यहाँ १६वीं सदी तक भी कुछ गढ़ों का निर्माण हुआ है, परन्तु दुर्गम-वन-प्रान्तों में कई भग्नावशिष्ट प्राचीन गढ़ों के अस्तित्व से कोई इनकार नहीं कर सकता। कई गढ़ों का विस्तार और उनके अवशेष उनका असाधारण प्रभुत्व प्रमाणित करते हैं। कई गढ़ों में, निकटस्थ नदी-तट तक गुप्त सुरंगों का निर्माण किया गया है; जिनके दोनों पार्श्वों में दीपक रखने के लिए आले और नीचे सुरंग में जाने के लिए सुडौल सीढ़ियाँ निर्मित हैं। पर्वत-प्रांगणों में एक ओर, उस युग के एकमात्र रक्षात्मक शस्त्रागार, विशाल प्रस्तर-खंडों के ढेर भी सुरक्षित हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि गढ़वाल के अनेक ऐतिहासिक दुर्ग जो ऊँचे सीधे शिखरों पर अवस्थित थे, इस क्षेत्र में लगातार होने वाले भयंकर भूचालों के कारण धूलि-धूसरित हो गये हैं। इन ऐतिहासिक भौतिक विप्लवों के अतिरिक्त सात दिन और सात रात तक, बार-बार होने वाले १८०३ ई० के भूचाल के बाद, जिसमें ७५ प्रतिशत गाँव भी टूटे हुए शैल-शिखरों के नीचे दब गये थे, पर्वत-पृष्ठों पर कई प्राचीन गढ़ों के अवशेष सुरक्षित हैं। स्व० रतूड़ी जी ने अपने इतिहास में जिन ५२ गढ़ों की नामावली प्रस्तुत की है, उसमें कई महत्वपूर्ण गढ़ों का नाम नहीं है। इन गढ़ों में से कई गढ़ कालकवलित हो चुके हैं, कुछ खेतों का निर्माण होने के कारण समाप्तप्राय: है, कुछ का अस्तित्व आज भी अज्ञात है, तो भी ऋग्वेद में वर्णित पर्वतराज शम्बर के १०० गढ़ों के अवशेष गढ़वाल के पर्वत-शिखरों पर आज भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो सकते हैं। उत्तरोत्तर विस्मृति के गर्भ में विलीन होने वाले इन रहस्यमय दुर्गों का थोड़ा-बहुत विवरण जो आज भी यहाँ के बूढ़े-बुजुर्गों के अस्पष्ट स्मृति कोश में सुरक्षित हैं, उससे अनेक ऐतिहासिक रहस्यों एवं लोकगाथाओं का उद्घाटन हो सकता है।

राहुल जी '**कुमाऊँ**' (पृ० ३०) में लिखते हैं:—शम्बर के पहाड़ी दुर्ग पांचाल (वर्तमान रुहेलखंड) के उत्तर में होने से गढ़वाल-कुमाऊँ के पहाड़ों में ही रहे होंगे। राहुल जी ने '**हिमालय परिचय**' (१) (पृ० ५२ और ६०) में भी शम्बर के इन गढ़ों का अस्तित्व गढ़वाल और कुमाऊँ में ही होना स्वीकार किया है। परन्तु उनका यह कथन युक्तिसंगत नहीं है कि वे युद्ध हिमालय के भीतरी भाग में नहीं हुये, वरन् पांचाल (रुहेलखंड) से मिलते हुए पर्वतीय क्षेत्र में हुये थे, क्योंकि उनके कथनानुसार वैदिक आर्य पर्वतों में बसने के लिए बहुत पीछे आये थे।

हम इससे पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं कि देव और असुर एक ही प्रजापति के पुत्र और सजातीय थे। वे सब, आर्यावर्त्त के अस्तित्व में आने से पूर्व सप्तसिन्धु एवं ब्रह्मावर्त्त में रहते थे। उस समय रुहेलखंड के तराई के मैदान में मानव निवास

सम्भव भी नहीं था। ऋग्वेद में जिन असुरोपासक आर्यों को अहि और कालान्तर में नग-निवासी होने के कारण नाग कहा गया है, उनका अहिर्बुध्न, अहिक्षेत्र अर्थात् नागपुर (उत्तर गढ़वाल) मेंप्राबल्य था। असुरराज वृत्र और शम्बर को भी अहि (नाग) कहा गया है (ऋ० १।३२।१,२,३;५२।१२।११)। इनको इन्द्र का सजातीय भी कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि ये इस क्षेत्र में बसने वाले आर्य-अनार्य एवं देव और असुरोपासक दोनों आर्य-शाखाओं के अधिपति थे।

शम्बर आदि दानवों का राज्य-क्षेत्र हिमालय पर्वत में था। वहाँ सोम होता था और शीत का आधिक्य था। ऊनी वस्त्रों का प्रयोग प्रचलित था। गढ़वाल के दक्षिण रूहेलखंड के सीमावर्ती क्षेत्र में विशाल शिलाखंडों से निर्मित १०० दृढ़ दुर्गों का आस्तित्व तथा विजयी आर्यों द्वारा उनके विनाश की कल्पना युक्ति युक्त नहीं है। ४० वर्ष तक उसके दृढ़-दुर्गों पर देवराज इन्द्र के आक्रमणों से भी स्पष्ट है कि शम्बर का राज्य ऐसे अगम्य-पर्वत प्रदेश में था, जहाँ आक्रमण-कारियों का सफल आक्रमण असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन और असुविधाजनक अवश्य था। गढ़वाल का उत्तरी क्षेत्र तथा अल्मोड़े के सरयू और गोमती के अधिकांश तटवर्ती परगने मल्ला दानपुर (दानवपुर) आदि १३००० फुट से अधिक ऊँचाई पर हैं। राहुल जी 'कुमाऊँ' (पृष्ठ ११) में लिखते हैं :—"जोहार, दरमा और मल्ला दानपुर के परगने १३००० फुट से अधिक ऊँचाई पर हैं। वहाँ का जलवायु ध्रुवकक्षीय है।" राहुल जी के सरयू और गोमती नदी के तटवर्ती क्षेत्र दानवपुर में, ध्रुवकक्षीय जलवायु के इस उद्धरण द्वारा आर्य एवं असुरों के आदि देश के सम्बन्ध में इतिहासकारों की अनेक शंकाओं का समाधान हो जाता है। आर्यों के देश में ध्रुवकक्षीय वातावरण एवं सरयू तथा गोमती नदी के विषय में इतिहासकारों की अनेक उपहासास्पद कल्पनाओं का भी इससे निराकरण हो जाता है।

हम इससे पूर्व बता चुके हैं कि जब तराई-भावर में समुद्र लहरा रहा था, उस समय हरिद्वार से ऊपर शिवालिक पर्वत-माला में सर्व प्रथम अमैथुनी सृष्टि द्वारा मानव-उत्पत्ति हुई। उस सृष्टि में सर्व प्रथम ब्रह्मा के सात मानसपुत्रों में सबसे जेष्ठ होने के कारण महाराज दक्ष, प्रजापति के पद पर प्रतिष्ठित किये गये। वे सर्व प्रथम आर्य नरेश थे (ऋ० १०।५।७)। दक्ष अपनी जन्म भूमि में मित्र, वरुण, अर्यमा आदि सप्त होतारों के द्वारा राज्य-शासन करते थे (ऋ० १०।६४।५)। उनकी राजधानी दक्षिण गढ़वाल में समुद्र-तट पर कनखल के आस-पास कहीं थी। उस युग में समुद्र-तट के इस पर्वतीय पार्श्व में, आर्यों की ही नहीं, मानव की आदि सभ्यता का श्रीगणेश हुआ। तराई, भावर के उस समुद्र-तट पर हिमालय की तलहटी के इन सघन वनों में आज भी उस प्राचीन

आर्य-सभ्यता के अवशेष सुरक्षित हैं*गढ़वाल नरेश इसी दक्ष प्रजापति की कन्याओं दिति और अदित से महर्षि कश्यप द्वारा—जिनका आश्रम हरिद्वार में था, क्रमशः इसी क्षेत्र में दैत्यों और आदित्यों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार यह सप्तसिंधु गढ़वाल देव और दानव दोनों का उत्पत्तिस्थल है। मध्य हिमालय का यह सर्वोच्च क्षेत्र, सर्व प्रथम समुद्र गर्भ से बाहर निकला। अतः भूगर्भ-शास्त्रियों के कथनानुसार, यहीं जीव और वनस्पति की प्रथम उत्पत्ति सम्भव है।

भारतीय वाङ्मय में सप्त मन्वन्तरों का उल्लेख है जिसके अनुसार प्रथम मन्वन्तर में मानव-धर्म के सर्व प्रथम संस्थापक, स्वायम्भुव मनु उत्पन्न हुए। उनका समय हिन्दुओं की कालगणनानुसार आज से १६७१२२१०६३ वर्ष पूर्व था। प्रथम मन्वन्तर और सप्तम मन्वन्तरों के बीच कई जलप्लावन एवं भौगर्भिक उथल-पुथल होने का भी उल्लेख है। इसी स्वायंभुव मनु की वंश-परम्परा में, सप्तम मन्वन्तर में आर्य-नरेश वैवस्वत मनु भी हुए। 'गढ़वाल' के दक्षिण-गिरि से लेकर उत्तर गिरि तक, उनका और उनके ही सजातीय बन्धुओं असुरोपासक आर्यों का राज था। पुराण-ग्रन्थों से प्रमाणित होता है कि जल-प्लावन से पूर्व हरिद्वार के निकट कनखल के आसपास-मरीचि से लेकर वैवस्वत मनु तक सूर्यवंश, और मंदाकिनी तथा अलकनन्दा के तटवर्ती क्षेत्र में महर्षि अत्रि से चन्द्रवंश की उत्पत्ति हुई।

चन्द्रवंश का उत्पति स्थल

वैवस्वत मनु जलप्लावन के अवसर पर, जब उनका दक्षिण गिरि-प्रदेश जगमग्न हो गया तो वे उत्तर गिरि के सरस्वती नदी के तटवर्ती क्षेत्र में जा बसे थे। उनकी पुत्री इला और बुध से (जिनका निवास स्थान बधाण (बुध-अयन) था) उत्पन्न चन्द्रवंशीयों का उत्पत्तिस्थल चन्द्रपुर (वर्तमान चान्दपुर) अलकनन्दा का तटवर्ती भूभाग आज भी चान्दपुर के नाम से प्रसिद्ध है। पुराणों के कथनानुसार देवगुरु वृहस्पति की पत्नी तारा को जब चन्द्रमा भगा कर ले गये तो बृहस्पति ने देवताओं तथा इस क्षेत्र के अधिपतियों शुक्र और दैत्यों से सहायता ली। देव और दानवों में युद्ध हुआ और शान्ति स्थापित होने पर तारा वृहस्पति को लौटा दी गयी। देवताओं ने अपने शस्त्र बदरीकाश्रम

*There are traces of an ancient civilization in what is now a demse forest in the TARAI, at the foot of the pills.

—Cunningham : Archaeological Reports, Vol II. page 238. and

Journal of the Asiatic Society, Bengal VI, part I, 154

में हिमालय पर्वत पर दधीचि ऋषि के आश्रम में जमा कर दिये। इस पौराणिक कथानक से देव और दानवों का जहाँ हिमालय के इस बदरीकाश्रम में संघर्ष एवं निवास स्थान प्रमाणित होता है, वहाँ इसी क्षेत्र में चन्द्रमा, बुध एवं शुक्राचार्य तथा असुरों का ऐतिहासिक अस्तित्व भी प्रमाणित है।

जलप्लावन के बाद उत्तर गिरि प्रदेश में सरस्वती नदी के तटवर्ती प्रदेश में सपरिवार वैवस्वत मनु रहते थे।

'श्रीमद्भागवत' (९।१) आदि पुराणों में मनुपुत्र सुद्युम्नु का भी उत्तर दिशा की ओर मेरु पर्वत के निकट शिव के कैलास में, जहाँ नर-नारायण का आश्रम था, प्रस्थान करने का वर्णन है। उसी क्षेत्र में सुद्युम्नु का 'इला' नामक स्त्री में परिवर्तित होने का भी उल्लेख है। इला और बुध के संयोग से स्पष्ट है कि इसी क्षेत्र में सर्व प्रथम चन्द्रवंशी नरेश पुरुरवा का जन्म हुआ। इन पौराणिक कथानकों में बदरीकाश्रम, मेरुपर्वत, कैलास, नर-नारायण-आश्रम, अलकनन्दा, मन्दाकिनी और सरस्वती नदी का तटवर्ती प्रदेश, जो उस युग में कुरु के नाम से विख्यात था, देव और असुरों, चन्द्रमा और बुध तथा चन्द्रवंशी राजा पुरूरवा और उर्वशी का क्रीड़ास्थल स्पष्ट है। इन स्पष्ट भौगोलिक एवं ऐतिहासिक सत्यों के बावजूद पुराणों के इन भाष्यकारों द्वारा राजा सुद्यम्नु और पुरूरवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर झूंसी, इलाहाबाद में बतलाना तथा सरस्वती नदी का कुरुक्षेत्र में भौगोलिक अस्तित्व प्रमाणित करने का प्रयास करना उनके भौगोलिक अज्ञान एवं हठधर्मी का परिचायक नहीं तो क्या है ?

कुरु जनपद भी उत्तर तथा दक्षिण दो भागों में विभक्त था। उत्तर कुरु का उल्लेख संस्कृत साहित्य में मिलता है। **'महाभारत'** में उत्तर कुरु कैलास और बदरीकाश्रम के बीच बताया गया है (महा० २।१४५।१२.१९)। कुरु के ही वंशज कौरव कहलाये और उन्हीं की एक शाखा सम्भवतः हिमालय के उस पार बसने वाली उत्तर कुरु के नाम से प्रसिद्ध थी। कुरु जनपद के इतिहास के विशद वर्णन **'महाभारत'** एवं पुराणों में मिलते हैं। इसका प्रारम्भिक इतिहास तो पौरवों के इतिहास का ही अंग है, परन्तु बाद वाला अंग कौरवों के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वही युग लौकिक रूप से अधिक ज्ञात भी है, जो इस प्रकार परम्परया विख्यात है; स्वायंभुव मनु की पुत्री इला के बुध से पुरूरवा नामक पुत्र हुआ जो चन्द्रवंशी क्षत्रियों का प्रथम पुरुष था। नहुष और ययाति उसके वंश में अत्यन्त प्रसिद्ध और पराक्रमी राजा हुए।

चन्द्रमा के पुत्र बुध (बुध अयन) वधाण के निवासी थे। उनका वंश वृक्ष इस प्रकार है :

१—**अत्रि**—ऋषि अत्रि असुरों के कुल पुरोहित शुक्राचार्य के पुत्र थे। उनका

और उनकी पत्नी अनुसूया का आश्रम नागपुर में है। आज भी उनकी स्मृति में उनके मन्दिरों में मेला लगता है। अत्रि और उनके वंशधरों का ऋग्वेद में कई स्थलों पर उल्लेख है।

२—**चन्द्रमा**—बृहस्पति की पत्नी तारा से उत्पन्न पुत्र।

३—**पुरूरवा**—पुरूरवा वैवस्वत मनु की पुत्री इला से उत्पन्न बुध के पुत्र थे, जिनका आश्रम भी इसी ब्रह्मावर्त्त क्षेत्र में सरस्वती के तट पर था।

४—**नहुष**—पुराणों के अनुसार जब वृत्रासुर के भय से इन्द्र मानसरोवर में जा छिपे तो देवताओं के गुरु बृहस्पति द्वारा राजा नहुष इन्द्र के स्थान पर स्वर्ग के अधिपति नियुक्त किये गये। इस प्रकार राजा नहुष और बृहस्पति का निवास स्थान इसी स्वर्ग में—मानसरोवर के आस-पास था।

५—**ययाति**—ययाति की प्रथम पत्नी शर्मिष्ठा से दुह्यु, अनु और पुरु हुए। दूसरी पत्नी देवयानी से, जो शुक्राचार्य की कन्या थी, यदु और तुर्वसु हुए।

चन्द्रवंश के प्रथम नरेश पुरूरवा हुए। वेद और पुराणों से प्रकट होता है कि उनकी राजधानी मंदाकिनी और अलकनन्दा के तटवर्ती प्रदेश में थी। ऋग्वेद में वर्णित पुरूरवा और उर्वशी की क्रीड़ास्थली यहीं गन्धमादन पर्वत में अवास्थित स्वर्गभूमि थी (ऋ० १०।६५।१२, १।३१।४)। बुध चन्द्रमा के मूल प्रवर्तक चन्द्र (सोम) के पुत्र और महर्षि अत्रि के पौत्र थे। ऋषि अत्रि का आश्रम भी हिमालय नागपुर में है। '**विष्णुपुराण**' (४।६।४८) के अनुसार भी पुरूरवा ने उर्वशी के साथ, आनन्दपूर्वक अलकापुरी के अन्तर्गत सुन्दर पद्मों से युक्त मानसरोवर और सरस्वती नदी में बिहार करते हुए कई हजार वर्ष व्यतीत किये। '**मत्स्यपुराण**' (अध्याय ११६ से लेकर १२० तक) में हिमालय के इस क्षेत्र में पुरूरवा और उर्वशी की प्रकृति से सम्पन्न क्रीड़ास्थली का विस्तारपूर्वक वर्णन है। '**केदारखंड**' (५८।१३६, १३७) के अनुसार भी बदरीनाथ-धाम से आध कोश की दूरी पर उर्वशी-कुंड के निकट पुरूरवा ने उर्वशी के साथ रमण कर पुत्र उत्पन्न किये थे। महाकवि कालिदास का '**विक्रमोर्वशीयम्**' नाटक इसी कथानक पर आधारित है। उर्वशी के पिता, ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषि नारायण भी यहीं बदरीनाथ में नर-नारायण आश्रम में रहते थे।

पुराणों में लिखा है कि पुरूरवा के पुत्र आयु से नहुष, रजि आदि पुत्रों की उत्पत्ति हुई। राजा नहुष ने अपने पराक्रम से देवराज इन्द्र से स्वर्ग (जो इसी गन्धमादन क्षेत्र का नाम है) का राज्य हस्तगत करके इन्द्राणी शची को भी अपनी राजरानी बनाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने जब सप्तर्षियों को (जिनके आश्रम भी ऋषिकेश आदि हिमालय के इसी उत्तरी क्षेत्र में थे) अपना वाहन बनाया तो वे महर्षि भृगु और अगत्स्य द्वारा (जो यहीं अगस्तमुनि में रहते थे)

अभिशापित होकर स्वर्ग (गढ़वाल) से निष्कासित कर दिये गये। 'महाभारत' और पुराणों में नहुष को नागराज और नागेन्द्र कहा गया है। इससे परगना नागपुर और वहाँ के आदि निवासी नागों के प्रति उनके रक्त सम्बन्ध का स्पष्ट संकेत मिलता है।

नहुष के पतन के बाद उसके भाई रजि के शासनकाल में प्रह्लाद के नेतृत्व में इन्द्र और देवताओं से पुनः युद्ध होने तथा नागों का पराजित होकर नागलोक (नागपुर) में शरण लेने का पुराणों में वर्णन है। इन्द्र का रजि के राज्य पर अधिकार करना और उनके द्वारा वहिष्कृत इन्द्र का पुराणों के कथनानुसार मन्दाकिनी, गंगा के तट पर गुरु बृहस्पति के पास जाने के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि तारा के पति, देवगुरु बृहस्पति, पुरूरवा और उसके पुत्रों का राज्य भी इन्द्र की राज्य सीमा के निकट था, और उस क्षेत्र में था जहाँ मंदाकिनी, गंगा बहती है। इस प्रकार चन्द्रवंश के प्रवर्तक पुरूरवा और उसके पुत्र-पौत्रों के राज्य की भौगोलिक स्थिति अलकनन्दा और मन्दाकिनी के तटवर्ती क्षेत्र, नागपुर, चान्दपुर तथा रुद्रप्रयाग के आस-पास निश्चित है। चान्दपुर का चन्द्रवंश के साथ शब्द-साम्य एवं भौगोलिक वास्तविकता ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

चान्दपुर, रुद्रप्रयाग के निकट, गढ़वाल के मध्य में एक पर्वत शिखर पर स्थिति ८वीं शती से पूर्व गढ़वाल की प्राचीन राजधानी थी। उसके सुदृढ़ एवं विशाल प्रस्तर खंडों से निर्मित राजमहल के प्राचीन अवशेष आज भी दर्शकों के लिए आश्चर्य की वस्तु है। इसके नाम से, इस पट्टी और परगने का नाम भी चान्दपुर है (**गढ़वाल गजेटियर्स, पृ० १५६**)।

पुरूरवा, नहुष और ययाति के पश्चात् मालूम होता है कि चन्द्रवंश के अधिकांश शासक ब्रह्मावर्त्त के इस प्रदेश से बाहर आर्यावर्त्त में चले गये थे। आर्यावर्त्त उनकी राजनीतिक हलचलों का प्रमुख केन्द्र बन गया था। परन्तु फिर भी पाँडव और जन्मेजय के राज्यकाल तक चन्द्रवंश की इस क्षेत्र में अटूट राजनैतिक एवं साँस्कृतिक-परम्परा प्रचलित रही। 'महाभारत' से प्रमाणित होता है कि, पाँडवों की उत्पति एवं उनका देहावसान भी यहीं हुआ। उन्होंने अपने बनवास का भी अधिकांश भाग यहीं व्यतीत किया। इतना ही नहीं, उनके माता-पिता एवं चाची-चाचाओं का भी शरीरान्त इसी क्षेत्र में हुआ। पाँडव चन्द्रवंशी थे। पाँडवों और उनके पूर्व पुरुषों का इस क्षेत्र के प्रति इतना पैतृक-आकर्षण, उनके चन्द्रवंश की अटूट परम्परा का ही परिपालन है। चन्द्रवंश के जिन महापुरुषों का हिन्दू वाङ्मय में उल्लेख हुआ है, उनका इस देश में दीर्घकाल तक निवास प्रमाणित है। सामान्य चंद्रवंशीय व्यक्तियों का, जिनका इतिहास में उल्लेख ही नहीं हुआ, उनका तो इस देश में निवास स्वयं सिद्ध है।

'केदारखंड' (६२।८ से ३५ तक) के कथनानुसार नारद जी ने स्वामी कार्तिकेय जी से पूछा कि 'जिस क्षेत्र में तप करने से बुध को अक्षयवंश की प्राप्ति हुई, जिस वंश में बड़े-बड़े राजाओं का जन्म हुआ, वे सभी राजा धर्म-कर्म में तत्पर तथा देवताओं को भी विजय करने में सशक्त थे। उन्होंने केदार क्षेत्र में तप किया।' तब भगवान् कार्तिकेय बोले कि 'चन्द्रमा ने परम रूपवती तारा से बुध, बुध ने इला नाम की स्त्री से पुरूरवा और पुरूरवा ने उर्वशी से इसी क्षेत्र में आयु आदि नाम के आठ पुत्र उत्पन्न किये। आयु से नहुष और रजि ने भी नर-नारायण आश्रम में नारायण की आराधना की और मनुष्यों को मुक्ति देने वाले केदार मंडल में भगवान् विष्णु से तपस्या द्वारा देव-दुर्लभ वर प्राप्त किये। देवासुर-संग्राम में रजि ने अनेक असुरों का बध किया। इन्द्र ने प्रतापी रजि द्वारा स्वर्ग से पदच्युत होने के भय से, रजि से युद्ध कर बज्र से उसके अनेक पराक्रमी पुत्रों का बध कर डाला। नहुष ने ययाति सहित सात पुत्र-रत्न उत्पन्न किये।

इन सब ने केदार मंडल में परम तप का अनुष्ठान किया, अतः हिमालय के ऊपर उन्हीं के नाम से तीर्थ प्रसिद्ध हो गये (केदार० ६२।२७)।

पुराणों के अनुसार सिन्धु (अलकनन्दा) के उस पार असुरराज वृषपर्वा का राज्यशासन था। वृषपर्वा के गुरु शुक्राचार्य की कन्या देवयानी और वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा का बन-बिहार का क्षेत्र आस-पास ही था। उनके चन्द्रवंशी राजा नहुषपुत्र ययाति से मिलन और पाणिग्रहण से भी प्रमाणित होता है कि चान्दपुर (चन्द्रपुर) के निकट (जो चन्द्रवंश का उत्पत्ति-स्थल है) अलकनन्दा (सिन्धु) के इस पार चन्द्रवंशी राजा ययाति का तथा उस पार गन्धमादन के नागपुर क्षेत्र में वृषपर्वा का राज्य था। 'महाभारत' (वन पर्व १५८।१८,२०) में लिखा है कि पाँडव हिमालय पर्वत के निकट सुबाहु की राजधानी में, जो सम्भवतः श्रीनगर गढ़वाल थी, पहुँचे। वहाँ से सत्रहवें दिन वे कश्यप ऋषि द्वारा दनु के गर्भ से उत्पन्न वृषपर्वा के आश्रम में पहुँचे। हिमवान् के विविध द्रुमलतावृत पुण्य पृष्ठदेश से गन्धमादन होकर पांडव जलावर्त सिंचित पुष्पित वृक्षों से घिरे हुये वृषपर्वा के पवित्रतम आश्रम में पहुँचे थे। इससे भी प्रमाणित होता है कि दानवराज वृषपर्वा का राज्य अलकनन्दा के उस पार नागपुर क्षेत्र में था।

इस प्रकार यह सप्तसिन्धु (गढ़वाल) देव और असुरोपासक, दोनों शाखाओं का निवास स्थान था। दक्षिण-गिरि की उष्णतम उपत्यकाओं में तराई के समुद्र-तट पर, सुसंस्कृत आर्यों का तथा हिमालय के उत्तर-गिरि प्रदेश में असुरोपासक आर्यों का प्राबल्य था (ऋ० १०।६७।६)। सभ्य आर्यों की आदर्श-आचार-पद्धति सप्तसिन्धु के समस्त उष्णतम एवं शीतप्रधान प्रदेश में एक-सी एक ही रूप में

खोजना अनुचित है। स्थानीय विषमताओं के कारण एक ही देश में बसी हुई एक ही जाति के आचार-विचार, बोली-भाषा, रीति-रिवाज, सभ्यता और संस्कृति में अन्तर पड़ जाता है। सजातीय होते हुए भी हिमालय के निवासियों और दक्षिण गढ़वाल के निवासियों की संस्कृति में स्थानीय प्रभावों के कारण अन्तर पड़ना स्वाभाविक था। सभ्यता के वर्तमान युग में यातायात की सार्वजनिक सुविधाओं के बावजूद, उत्तर गढ़वाल और दक्षिण गढ़वाल की इन साँस्कृतिक एवं धार्मिक विषमताओं के थोड़ा-बहुत अवशेष आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। आज भी यहाँ एक पट्टी का पहनावा, उनकी बोली-भाषा एवं देवी-देवता तथा अन्य साँस्कृतिक क्रिया-कलाप दूसरी पट्टी के पहनावे, बोली-भाषा और देवी-देवताओं से मेल नहीं खाते। उस युग में यहाँ की भौगोलिक विषमताओं और सर्वत्र नदी-नालों एवं सार्वजनिक यातायात के अन्य साधनों के अभाव के कारण आपस में उत्तर-गिरि और दक्षिण-गिरि के निवासियों का पारस्परिक साँस्कृतिक आदान-प्रदान बहुत कम हो पाता था। फलतः एक ही पिता के पुत्र होते हुए जहाँ दोनों शाखाओं का अनेक मौलिक विचारों में मतैक्य था, वहाँ उनके सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक आस्थाओं में भी अन्तर पड़ता चला गया।

दक्षिण गिरि प्रदेश के आर्य सभ्य, शिक्षित और चतुर थे; परन्तु हिमालय के उत्तरी क्षेत्र के निवासी, सभ्य आर्यों के कथनानुसार, अशिक्षित, वेदशून्य, सूत्र-श्रुत्यादि यज्ञ-कर्मों से रहित थे (ऋ० १०।२२।८, १।५१।८)। उनकी प्रकृति वहाँ की प्राकृतिक स्थिति के कारण आसुरी थी। वे 'मृधवाचः' अर्थात् आर्यों की भाँति शुद्ध-शुद्ध भाषा-भाषी नहीं थे। **'शतपथ ब्राह्मण'** के कथनानुसार वे असुर 'हे अलवः' कहते-कहते थक गये, परन्तु शुद्ध शब्द 'हे अरयः' नहीं कह सके।

दक्षिणी आर्य अस्त्र-शास्त्रों से सुसज्जित विशेष शक्ति सम्पन्न और संगठित थे परन्तु असुर असंगठित और नवीन युद्ध-अस्त्रों से अपरिचित थे (ऋ० १।६६।६)। आर्यों ने भी उन्हें आयुधों से हीन कर दिया (ऋ० ७।६।५)। वे आर्यों को दान नहीं देते थे और न उनके यज्ञ-यागों पर ही उन्हें विश्वास था। इसीलिए ऐसे व्यक्तियों के लिए असुर शब्द का प्रयोग हुआ है। फिर भी असुर आर्य थे और अपने को आर्य नाम से ही सम्बोधित होना पसन्द करते थे, परन्तु शक्ति-सम्पन्न आर्य विशेषकर उनका नेता इन्द्र उन्हें आर्य नाम से सम्बोधित करने का कट्टर विरोधी था (ऋ० १०।४६।३)। उसने अत्यन्त अभिमान-पूर्वक इस बात को स्वीकार भी किया है। वह कहता है कि 'मैंने दस्युओं का आर्य नाम नहीं रखा।' केवल दस्यु या असुर ही आर्यों के शत्रु नहीं थे, वरन् आर्यों में भी आर्यों के अनेक शत्रु

थे (ऋ० १०।८०।१)। 'वे जो हमें वध करने ये लिए शत्रु की भाँति सज्जित होते हैं; स्वजाति के हों चाहे विजाति के, तू उन्हें ऐसा पुराषार्थहीन कर दे जिससे वे शक्तिहीन हो जाँय और उन पर इस प्रकार आक्रमण कर कि वे शिर छिपाकर भाग खड़े हों। (ऋग्वेद ६।२५।३)।

कैलास और शिव संस्कृति असुर इन्द्रदेव के अतिरिक्त अन्य सब वैदिक देवी-देवताओं के उपासक थे, परन्तु उनकी कुछ धार्मिक मान्यताएँ आर्यों से भिन्न थीं। वे उत्तर गिरि-प्रदेश (कैलास क्षेत्र) में अत्यधिक प्रचलित शिव-संस्कृति से विशेष प्रभावित थे। उत्तर-गिरि प्रदेश ही नहीं, दक्षिण से लेकर उत्तर तक समस्त-गिरि-प्रदेश पर शिव का प्रभाव था। दक्षिण-गिरि में आर्य-नरेश दक्ष का शासन था। वे अत्यन्त प्रतापी नरेश थे। उनके दामाद श्रद्धादेव धर्म (मनु), शिव, भृगु, मरीचि, अंगिरा, पुलत्स्य, पुलह, क्रतु, अत्रि, वशिष्ठ, अग्नि और पितर आदि महापुरुष थे, जिनके द्वारा समस्त आर्य साहित्य पल्लवित एवं प्रभावित है। उस युग में दक्ष और उसके इन प्रभावशाली दामादों द्वारा संचालित उत्तर और दक्षिण गढ़वाल ही, आर्य जगत् का सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्रीड़ा-क्षेत्र था। **'महाभारत'** और पुराणों में वर्णित कैलास और कैलासवासी शिव का क्रीड़ाक्षेत्र गढ़वाल है। डॉ० भगवतशरण उपाध्याय **'कालिदास का भारत'** (भाग १, पृ० १०) में लिखते हैं :

"हिमवान की पुत्री पार्वती उमा ही शाक्तों की इष्टदेवी बनी। जिसके दोनों जन्मों—सती और उमा—की क्रीड़ास्थली बदरी-केदार क्षेत्र में ही थी। सती-दाह कनखल में हुआ और उमाजन्म हिमवान में। यहीं उमा का विवाह और कुमार की उत्पत्ति हुई और यहीं कैलास-शिखर पर शिव का तथा नन्दा-शिखर पर उमा का निवास-स्थान माना जाता है, और मारकंडेय पुराण के देवी-महात्म्य की क्रीड़ास्थली भी यहीं प्रतीत होती है। × × कालिदास ने भी कुमारसम्भवम् में हिमवान, उसकी राजधानी औषधिप्रस्थ, गन्धमादन, मेरू और कैलास की स्थिति गढ़वाल के रुद्र-हिमालय में मानी है।"

'तंत्रशास्त्र' की भूमिका (पृ० १) में सर जौन उडरफ लिखते हैं : "महा-निर्वाणतंत्र का उत्पत्तिस्थल हिमालय में हैं, जो आर्य जाति की संस्कृति से गौरवान्वित है। सदैव हिम से ढके इसके ऊँचे पर्वत शिखरों पर सप्तकुल पर्वत फैला हुआ है। अतः स्वयं आर्य जाति यहाँ आयी और उसने यहीं अपनी प्रारम्भिक गाथाओं की रचना की। आज भी यहाँ भीम-उड्यार की वे गुफाएँ सुरक्षित हैं जहाँ पाँडुपुत्रों ने और द्रोपदी ने शान्ति प्राप्त की। इन पर्वतों पर ही ऋषि-मुनियों के आश्रम थे। यहाँ शिव का क्षेत्र भी है जहाँ उनकी प्रियतमा पर्वतराज-तनया पार्वती ने जन्म लिया और जो गंगामाता का भी उद्गम स्थल है। अनन्त काल

से इन पर्वतों से होकर यात्रीगण बदरीनाथ, केदारनाथ और गंगोत्तरी आदि महातीर्थों की यात्रा करते चले आ रहे हैं। केदारनाथ का मठ और मन्दिर सदाशिव के नाम से शैव सम्प्रदाय को समर्पित है जो जंगम कहलाते हैं। हिमालय के इसी क्षेत्रान्तर्गत चार स्थानों पर—तुंगनाथ, रुद्रनाथ महामहेश्वर और कल्पेश्वर में देवता की पूजा की जाती है। ये चार और केदारनाथ का मन्दिर मिलकर पंच केदार कहलाते हैं।"

आर्य नरेश दक्ष प्रजापति की कन्या सती शिव को ब्याही थी। शिव कालान्तर में आर्य-अनार्यों, देव और असुरोपासकों, दोनों के द्वारा वैदिक रुद्र के स्थान पर प्रतिष्ठित हुए। रुद्र प्रारम्भ में प्रकृति के उग्र रूप के देवता और अपर कालिक शिव के पूर्वरूप थे।* ऋग्वेद के प्रथम मंडल के ११४ सूक्त के समस्त ग्यारह मंत्रों में स्तवन करते हुए कहा गया है कि—"रुद्र विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञाता एवं आगार हैं। वे वरणीय भेषज धारण करने वाले हैं। वे पृथ्वी और अन्तरिक्ष (कैलास) के अधिपति एवं वीरों के विनाशकारी हैं।" गढ़वाल के उत्तर-कैलाश क्षेत्र में रुद्रप्रयाग, रुद्रनाथ, तुंगनाथ, महामहेश्वर और केदारनाथ आदि तीर्थों में शिव के रूप में वैदिक रुद्र की स्मृति सुरक्षित है।

शिव योग, धनुर्वेद, आयुर्वेद, गायन, वादन, नृत्य, तंत्र-मंत्र एवं रसायन शास्त्र आदि अनेक विद्याओं के आचार्य थे '**महाभारत**' (शांति पर्व २६०।११४, १४२, १४३)। शिव को दीर्घजीवी, सांख्ययोग के प्रवर्तक, गीत-वाद्यों के तत्वज्ञ और अनेक शिल्पों का आचार्य कहा गया है। '**ब्रह्मपुराण**' के कथनानुसार सुरभि और प्रजापति कश्यप से जिन एकादश रुद्रों की उत्पत्ति हुई थी, उनमें शिव अत्यन्त तेजस्वी थे। वे आयुर्वेद, पारदकल्प, धातुकल्प, हरितालकल्प, रसार्णवतंत्र, वैद्यराजतंत्र, रुद्रयालमलतंत्र आदि आयुर्वेद तथा अन्य अनेक शास्त्रों के प्रणेता थे।

शिव कैलासवासी थे। हिमालय का यह उत्तर-गिरि-प्रदेश प्राचीन वाङ्मय में कैलास क्षेत्र भी कहलाता था। इस क्षेत्र में शिव के आचार्यत्व एवं कुलपतित्व में एक ऐसा विद्याकेन्द्र स्थापित था, जिसमें आर्य और अनार्य, देव और असुर साठ हजार स्नातक सदैव शिक्षा पाते थे। इस शिव के आश्रम में 'प्रथम शिव सुतारः' के पश्चात् क्रमशः अट्ठाईस शिवों को आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित किया गया था। इन अट्ठाईसों में अंतिम शिव का नाम 'नकुलीश' था (**लिंगपुराण** अ० ५३)। अपने आश्रम में सर्व प्रथम शिव ने अपने चार शिष्यों स्वेत, स्वेत-शिख, स्वेताश्व और स्वेतलोहित को ज्ञानोपदेश दिया था। आर्यों की देव और

---

* हिन्दू सभ्यता—श्री राधामुकुद मुकर्जी।

असुरोपासक दोनों शाखाओं ने शिव का आचार्यत्व स्वीकार था। शिव का भी, देव और असुर, आर्य और अनार्य, शत्रु और मित्र सबके प्रति समान वात्सल्य-भाव था। अतः सब आर्य-अनार्य, धर्मी-अधर्मी शिव से उनका स्नेह एवं आशीर्वाद प्राप्त करने को आतुर रहते थे। पुराणों से प्रमाणित है कि ऋषि-महर्षियों ने ही नहीं, दैत्य और दानवों ने भी भगवान् शिव से असाधारण आधिदैनिक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर विश्व में अद्वितीयता अर्जित की है।

रावण और वाणासुर भी उनके विद्यालय के स्नातक थे। यहीं कैलास के क्रीड़ास्थान में रावण ने शिवशैल उठाया। यहीं तुंगनाथपर्वत पर 'रावण-मिला' स्थान के पास, उसने शिव की कठिन तपस्या कर वरदान प्राप्त किया था (केदार ८१।१६)। यहीं दशौलि-क्षेत्र में 'वैरास कुंड' के पास, रावण ने अपने दसों मौलियों को काट-काट कर शिव को समर्पित किया। यहीं उसने वेदों का अध्ययन कर, इस पर अपना प्रसिद्ध 'कृष्णयजुर्वेद' भाष्य लिखा। नारद ने यहीं रुद्रप्रयाग में रुद्र के चरणों में बैठकर संगीत-शास्त्र का अध्ययन किया। यहीं रावण के भाई कुबेर ने तपस्या की 'रामायण' (उत्तर० १६।८, ८७।१२)। यहीं त्रियुगी-नारायण स्थान में शिव और पार्वती का विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। यहीं मंदाकिनी तट पर गौरीकुंड के निकट शिवतनय गणेश और कुमार कार्तिकेय का जन्म हुआ। कुमार कार्तिकेय और उनके अनुज गणपति कालान्तर में इस गणराज्य के अधिपति हुए। 'रामायण' में राम-लक्ष्मण के विरुद्ध युद्ध में रावण और मेघनाद का, बार-बार हिमवन्त में शस्त्र-शास्त्रों के आचार्य शंकर से, युद्ध-कला के सम्बन्ध में उचित आदेश-निर्देश प्राप्त करने के लिए पधारने का वर्णन है। महाभारत में भी, पाशुपत आदि दिव्यास्त्रों की प्राप्ति के निमित्त कृष्णार्जुन शिव का आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। शिव शंकर सबके आशुतोष थे। वे कुछ विशेष अनैतिक आदर्शों के समर्थक होते हुए भी बहु-विद्या-विद् थे। उत्तर वैदिक युग में असुरों पर विजय प्राप्त करने के बाद भी, आर्य अपनी संस्कृति को शिव की आसुरी-सभ्यता से तटस्थ नहीं रख सके। उनकी आसुरी सभ्यता से अनुप्राणित उनके अनेक आर्य-अनार्य-स्नातकों, शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा हिमालय के इस कैलाश क्षेत्र से, देश और विदेश में शिव-संस्कृति जिस शक्तिशाली रूप में प्रसारित एवं प्रचारित हुई उसका प्रभाव आज भी स्पष्ट है। अटकिंसन ने 'हिमालय गजेटियर्स' में, गढ़वाल में, ३५० शिव मंदिरों का उल्लेख किया है।

शिव कलाओं के केवल आचार्य ही नहीं थे, वरन् स्वयं भी आद्वितीय कलाकार थे। गायन, वादन और नृत्य में उनकी असाधारण क्षमताओं से आर्यसाहित्य ओतःप्रोत है। इन ललित कलाओं में रस और रसों में रसराज की अत्यधिक अभिव्यक्ति, अवांछनीय एवं आर्य-आदर्शों के विरुद्ध होते हुए भी

अनिवार्य है। इसीलिए ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए, आर्यशास्त्रकारों ने गाना, बजाना और नाचना वर्जित करार दिया है (कामं क्रोधं च लोभं च, नर्तनं गीत-वादनम्, मनु० २।१७८)। शिव की दार्शनिकता तथा उनका असाधारण अनाशक्त भाव इन ललित कलाओं से निसृत इस अनैतिकता से अप्रभावित एवं अविचलित भले ही रहा हो, परन्तु यह भी असंदिग्ध एवं अप्रिय सत्य है कि इस अद्वितीय कलाकार के गायन, वादन और नृत्य-कला-प्रदर्शनों से प्रभावित सर्वसाधारण कलाप्रेमी स्त्री-पुरुषों-द्वारा रसराज शृंगार की इस बढ़ती हुई लोकप्रियता के प्रति ऐसी मान्यताएँ स्थापित होने लगीं जो कट्टर वैदिक आर्य-आदर्शों के मतानुसार नैतिक दृष्टि से कल्याणप्रद नहीं थीं। अनेक उच्चकोटि की आर्य-महिलाएँ एवं ऋषि-पत्नियाँ तक आर्य-आदर्शों के प्रतिकूल निस्संकोच रसराज शृङ्गार की उपासिका बनने लगी थीं। गायन, वादन और नृत्यकला के रूप में रसराज शृङ्गार एवं कामदेव की यह पूजा-पद्धति अत्यन्त स्पष्ट और अश्लील रूप में शिव-स्नातकों द्वारा खुलेआम प्रसारित होने लगी। यहाँ के लोक-नर्तकों, ढाकी एवं वादियों द्वारा, शिव के वे कुत्सित शृङ्गारपूर्ण लोक-नृत्य, लोक-प्रदर्शन उनके 'लाँग' और 'औसरों' में आजकल प्रदर्शित होते देखे जाते हैं।

कैलासवासी शिव का यह केदारक्षेत्र शीतप्रधान प्रदेश होने के कारण यहाँ के आदि निवासी असुरोपासक आर्य वैदिक देवताओं के साथ-साथ परम्परागत शिव और शक्ति के इन पंच मकारों में पले, शिव-लिंगों एवं शिश्न देवों के भी उपासक थे। **'केदारखंड'** में शिवलिंग के उपासक शैवों और योनिपूजक शाक्तों की इस पूजा-पद्धति का बाहुल्य रहा है। असुरोपासक आर्य कट्टर शैव थे। शिव का लिंग और शाक्त सम्प्रदाय की योनि-पूजन-पद्धति इन्हीं पंच मकारों के अधीन स्थानीय परिस्थितियों एवं परम्पराओं के अनुसार यहाँ आदि काल से प्रचलित थी। मन्दिरों में ही नहीं, मन्दिरों के बाहर पर्वत-उपत्यकाओं एवं सरिता-तटों पर सर्वत्र इन योनि और ३६० लिंगाकार शिलाओं का बाहुल्य है। यहाँ जितने कंकर, उतने शंकर थे। करनौक साहब ने (**करनौक रफ नोट्स औन सम एन-शिएन्ट स्कल्प्चरिंग औन दि रौक्स इन कुमाऊँ**) गढ़वाल-अल्मोड़े की सीमा पर शिलाओं पर अंकित ऐसे अनेक विशाल-शिवलिंगों के पाये जाने का उल्लेख किया है।

इस केदारक्षेत्र के असुरोपासकों द्वारा प्रतिष्ठित, लिंग पूजन की इस शिव-संस्कृति के, शिव के विदेशी शिष्य भी कट्टर अनुयायी थे। स्वयं लंकेश रावण शिवलिंग का उपासक था। वाल्मीकि **'रामायण'** उत्तरकाण्ड में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

कैलास क्षेत्र से शिव-स्नातकों द्वारा यह शिव-संस्कृति—सदूर दक्षिण में ही नहीं, वरन् भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर देशों में भी प्रसारित हुई। देवासुर-संग्राम के बाद, आर्यों द्वारा पराजित इस क्षेत्र के असुरोपासक आर्यों के पश्चिमी अभियान ने ईरान आदि देशों में पहुँच कर वहाँ भी स्मृतिस्वरूप इन लिंगाकार शिलाओं की स्थापना कर शिव-संस्कृति की इस विशिष्ट लिंग-पूजा-पद्धति को सुरक्षित रखा। मक्का में काले पत्थर की एक शिला है जिसको 'संग-असवद' कहते हैं, केदारनाथ की काली शिला की भाँति प्रतिष्ठित है, जिसकी, हज को जाने वाला प्रत्येक मुसलकान भक्तिपूर्वक परिक्रमा करता है और उसे चूमता है। गढ़वाल में ३६० शिवलिंगों की स्थापना के अनेक प्राचीन प्रमाण मिलते हैं। मक्का के निकट भी हाल ही में ऐसे ३६० शिवलिंग प्राप्त हुए हैं। अटकिन्सन साहब ने (**हिमालय डिस्ट्रिक्ट्स** (२) पृ० ७०२ में) गढ़वाल में, शिव के ३५०, शक्ति के १३० और काली के जिन ४२ मन्दिरों का उल्लेख किया है, उनमें सैकड़ों छोटे-छोटे मन्दिरों की गणना नहीं की गयी है। कई स्थानों में मन्दिर नहीं है, केवल शिवलिंग स्थापित हैं।

पाँच हजार ई० पू० सिन्धु घाटी सभ्यता में, योगाभ्यास करते हुए शिव, शिवलिंग, पार्वती-पूजा और योनि की उपासना के प्रमाण मिले हैं। योगाभ्यास करते हुए शिव का प्राप्त सील के चित्र के दोनों ओर पशु चित्रित हैं, जिससे सर जौन आदि विद्वानों का अनुमान है कि यह शिव-संस्कृति के उस व्यापक प्रभाव का परिचायक है; क्योंकि शिव पशुपति के नाम से भी पुकारे जाते हैं। शिव का प्राचीन मन्दिर पशुपतिनाथ यद्यपि नैपाल में है, तो भी शिव हिन्दू धर्म शास्त्रानुसार, केदार क्षेत्र एवं केवल कैलासवासी है।

कावे का 'संग-असवद' ही नहीं, वरन् केदारनाथ के निकट त्रियुगी-नारायण में जहाँ पर शिव और पार्वती का विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ था, (**केदार**० ४३। ६) और उस समय यज्ञ में जिस अग्नि को प्रज्ज्वलित किया गया था, वह आज तक पारसियों की पवित्र अग्नि 'आतिशे वेहराम' की भाँति हजारों बरसों से अविच्छिन्न रूप से प्रज्ज्वलित है। उसमें तब से नित्य अग्निहोत्र होता है। आज भी हिन्दू-यात्री केदार के इस 'संग-असवद' की भक्तिपूर्वक परिक्रमा करते हैं। उसे उसी प्रकार छाती से लगाते हैं उसी प्रकार वे त्रियुगीनारायण की इस अखंड अग्नि 'आतिशे वेहराम' की भी श्रद्धापूर्वक पूजा और परिक्रमा करते चले आ रहे हैं। हो सकता है कि केदार की इस काली शिला के साथ संग-असवद और त्रियुगी की इस अखंड अग्नि के साथ असुरोपासक असीरियनों, कावा के अरेवियनों और आतिशे वेहराम के पूजक ईरानियों का प्राचीन काल में धार्मिक सम्बन्ध

रहा हो और यह पूजा-पद्धति उनकी इस आदि देश से पश्चिम की ओर प्रयाण करने की परिचायक हो।

दक्ष प्रजापति और दक्ष यज्ञ

शिव देव और असुर, आर्यों की दोनों शाखाओं द्वारा आदर और प्रतिष्ठा प्राप्त थे। दोनों पर उनका समान वरद हस्त था। आर्य-नरेश दक्ष की २४ कन्याओं में से, १३ धर्म को और शेष ११ ख्याति, सती, संभूति, स्मृति, प्रीति, क्षमा, संतति, अनुसूया, उर्ज्जा, स्वाहा और स्वधा का विवाह क्रमशः भृगु, शिव, मरीचि, अँगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अत्रि, वशिष्ठ, अग्नि और पितर से हुआ था। शिव के अतिरिक्त दक्ष के जो १० दामाद थे वे आर्यों के पुरोहित और सब ऐसे वैदिक ऋषि थे, जिनका आर्य-जगत् पर असाधारण प्रभाव था।

शिव-संस्कृति में विद्याओं-कलाओं का जो कल्याणप्रद रूप था, उससे जहाँ आर्य-मनीषी शिव का सम्मान करते थे वहाँ उनके और उनके अनुयायियों के इस शिश्न-देवों के अश्लील और अनैतिक विलासप्रिय कला-प्रदर्शनों से आर्य-जगत् में उनके विरुद्ध उग्र असंतोष उत्पन्न होने लगा। प्रमुख आर्य-महिलाएँ और ऋषि-पत्नियाँ भी उस अश्लील शिव-संस्कृति की ओर आकर्षित होने लगी थीं। ऋग्वैदिक-ऋषि भृगु अपनी पत्नी का अवैध सम्बन्ध शिव के साथ स्वयं देख चुके थे। '**ब्रह्मांडपुराण**' और '**शिवपुराण**' में ऋषि-पत्नियों के साथ शिव के अनैतिक सम्बन्धों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। '**ब्रह्मांडपुराण**' में लिखा है कि सघन देवदारुवन में शिव ने ऋषि-पत्नियों को मुग्ध किया था। केदार क्षेत्र में देवदारुओं के सघन वन हैं। इसी क्षेत्र में शिव का कैलास और सप्तर्षियों के भी आश्रम हैं।

दक्षकन्या सती के पाणिग्रहण के पश्चात् अपनी सालियों के साथ शिव के इन अनुचित सम्बन्धों तथा खुले आम अन्य अनैतिक एवं अश्लील प्रदर्शनों के कारण भृगु तथा अन्य आर्य-ऋषियों द्वारा शिव और उनके अनुयायियों के विरुद्ध आर्य-जगत् में उग्र असन्तोष उत्पन्न हो गया। शिव का सम्मान, उसकी सार्वजनिक पूजा-प्रतिष्ठा आर्य-मनीषियों द्वारा वर्जित करार दे दी गयी। शिव लिंग और योनिपूजन अश्लील एवं अनार्य पूजा-पद्धति घोषित की गयी। वे (ऋ० ७।२१।५) इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि हमें असुर न मारें, वे प्रजा से हमें पृथक् न करें। और शिश्नदेव हमारे यज्ञ में विघ्न न डालें। ऋग्वेद (१०।९९।३) में, सौ द्वारों वाली असुरपुरी से धन लाने और इन असुरों को बध करने का उल्लेख है, जो शिश्नदेव के उपासक हैं। इस प्रकार आर्य अपने सजातीय भाइयों को उन शिव लिंगों और योनिपूजकों को अनार्य, असुर और अदेव कह कर अपमानित करने लगे। यह स्पष्ट है कि दक्ष-प्रजापति के शासनकाल में ही दक्षिण

गिरि प्रदेश के आर्य-सभ्यों द्वारा शिव आर्य-समाज से बहिष्कृत हो चुके थे ।

इसी बीच हिमालय के पार्श्व व तीर्थ क्षेत्र हरिद्वार के निकट दक्ष प्रजापति द्वारा एक विशाल यज्ञ किया गया 'महाभारत' (शांति० २८४।३) ।

गढ़वाल के लोकगीतों में दक्षयज्ञ से पूर्व शिव और सती का वार्तालाप आज भी आर्य नरेश दक्ष एवं उसके राज्य-पुरोहितों, भृगु आदि सप्तर्षियों द्वारा यज्ञ-भाग से वर्जित इस शिव की परिस्थितियों का परिचायक है। मैके में अपने माता-पिता द्वारा वृहद् यज्ञ का आयोजन सुनकर तथा यह जानकर कि उस यज्ञ में उसके अतिरिक्त अन्य सब आमंत्रित बहिनें पधार रही हैं, सती शिव जी से कहती हैं :

सती :—चार दिन स्वामी जो ! मैं मैतुड़ा जयान्दू ।
शिव :—रात दिन गौरा ! त्वीकू कनू मैत होये !
सती :—मेरा ब्वे-बाबू को सुणे जज्ञ जूड़े भारी ।
सभि दीदी-भुलि मेरी मैत पौछी गैने !
शिव :—तेरी दीदी-भुलि न्यूति तू नि न्यूति गौरा ।
सती :—मैत घर जाण स्वामी ! न्यूतो क्या जागण ।
शिव :—दूद्यारो बालक गौरा ! तू कै मू छोड़िली ?
सती :—दूदयारो बालक स्वामी ! दूधिया धरूलो ।
शिव :—अतेलो भंडार गौरा ! तू कै मू छोड़िली ?
सती :—अतेलो भंडार स्वामी ! भंडारी धरूलो ।
शिव :—गायूं को गोठ्यार गौरा ! तू कै मू छोड़िली ?
सती :—गायूं को गोठ्यार स्वामी ! ग्वालिया धरूलो ।
शिव :—जाणू कू तू जैली, गौरा ! क्या ल्हैली समूण ?
सती :—मेरा मैत होली स्वामी ! बाउन रस्याल ।

सती :—स्वामी जी ! मैं चार दिन के लिए अपने मैके हो आती हूँ ।

शिव :—गौरा ! तुम्हारी रात दिन मैके जाने की यह हठ कैसी हठ है ?

सती :—श्रीमान्, आपने क्या सुना नहीं है कि मेरे माता-पिता का विराट् यज्ञ हो रहा है ?
मेरी बड़ी और छोटी सभी बहिनें मैके पहुँच चुकी हैं ।

शिव :—गौरा ! तुम्हारी बड़ी और छोटी सभी बहिनों को नेवता गया है । तुम्हें नेवता नहीं मिला ।

सती :—स्वामी जी ! मैका तो अपना घर होता है । वहाँ जाने के लिए निमंत्रण की प्रतीक्षा क्या करनी है ?

शिव :—गौरा ! तुम्हारा दूध पीने वाला शिशु है, उसको किसके पास छोड़

जाओगी ?

सती :—दूध पीने वाले बालक के लिए किसी दूध पिलाने वाले को रख दूँगी।

शिव :—गौरा ! तुम्हारे पास धन-सम्पति का जो अतुल भंडार है, उसको किसके पास छोड़ जाओगी ?

सती :—अतुल सम्पत्ति की देख-रेख के लिए एक भंडारी रख छोड़ूँगी।

शिव :—अपनी गायों से भरी गोष्ठ को किसके पास सौंप जाओगी ?

सती :—गायों की गोष्ठ की रक्षा के लिए एक ग्वाला रख लूँगी।

शिव :—गौरा ! तू अपने मैके से मेरे लिए क्या 'समूण' लायेगी ?

सती :—स्वामी जी ! मेरे मैके में बावन रसों से परिपूर्ण, रसीली वस्तुएँ होती हैं।

'शिवपुराण' के अनुसार कनखल में जो दक्षयज्ञ हुआ, उसमें दक्ष ने शिव को वेद से बहिष्कृत, स्त्री में आशक्त रहने वाला तथा रति कर्म में ही दक्ष कह कर शिव की भर्त्सना की थी। उनके प्रमुख पुरोहित भृगु आदि ऋषिमों ने भी दक्ष का स्पष्टतः समर्थन किया था। वस्तुतः भृगु आदि ऋषियों द्वारा प्रभावित होने के कारण दक्ष भी शिव के कट्टर विरोधी हो गये थे। भृगु को दक्ष-यज्ञ में प्रमुख पौरोहित्य-पद पर प्रतिष्ठित किया गया था। वे यज्ञ में ऋत्विज-पद पर नियुक्त थे। सती के यज्ञ में प्राणत्याग करने पर, जब शिव के आठ हजार स्नातकों ने यज्ञ-विध्वंस करने का प्रयत्न किया तो शिव-विरोधी भृगु ने, उनके विरुद्ध युद्ध में भी प्रमुख भाग लिया। अनेक शिवगण मारे गये तथा शेष भाग खड़े हुए। उनके भागने के बाद मणिभद्र ने घटनास्थल पर पहुँच कर, भृगु की खूब मरम्मत की। उसने भृगु को पृथ्वी पर पटक कर, उसकी दाढ़ी-मोछ नोच डाले। इस युद्ध में नर और नारायण, इन्द्र एवं अन्य देवताओं का भी दक्ष की ओर से शिव के विरुद्ध युद्ध करने का उल्लेख है।

दक्ष-यज्ञ के इस कथानक में दक्ष और सप्त ऋषियों की, शिव के प्रति घोर असंतोष की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। सप्तर्षि केवल दक्ष के दामाद ही नहीं थे, वे परम सम्माननीय वैदिक ऋषि और अनेक आर्य-नरेशों के कुल-पुरोहित भी थे। राजा और राज्य दोनों पर कुल-पुरोहितों का उस युग में असाधारण प्रभुत्व स्थापित था। असंतुष्ट भृगु आदि सप्तर्षियों ने दक्ष-यज्ञ में शिव को आमंत्रित न करने के लिए दक्ष को विवश किया है परन्तु कनखल में, दक्ष-यज्ञ में हुए इस भीषण हत्याकांड से शिव-विरोधियों पर शिव और उनके अनुयायियों का पुनः आतंक छा गया। शिव सती का शव कन्धे पर लेकर संसार से विरक्त होकर विक्षिप्त-से वनों में भ्रमण करने लगे (**केदारखंड** १०५।८४)।

शिव अश्लील-पूजा-पद्धति के समर्थक होने के बावजूद अनेक लोक-हितकारी विद्याओं-कलाओं के भी आचार्य थे। इसीलिए जनता के सर्वांगीण-विकास के लिए सुर और असुर आर्यों की दोनों शाखाओं को उनका आचार्यत्व स्वीकृत था। उनकी दीर्घकालीन विरक्ति से, जब लोक-कल्याणकारी अनेक विद्याओं कलाओं का भी लोप होकर, सर्वत्र सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक अशांति की आशंका हो उठी, तारकासुर आदि दानवों द्वारा प्रजा पीड़ित होने लगी, तो तत्कालीन आर्य मनीषी चिंतातुर हो उठे। सबको सार्वजनिक रक्षा-व्यवस्था के लिए, शिव द्वारा उचित मार्ग-प्रदर्शन की आवश्यकता अनुभव होने लगी। सब शिव के इस सामाजिक बहिष्कार के लिए सप्तर्षियों को दोष देकर शिव को पुनः संसार के कर्मक्षेत्र में आमंत्रित करने के लिए उन्हें विवश करने लगे। अन्त में संसार से विरक्त शिव को पुनः विवाह-बन्धन में बाँधने के लिए, लोकानुग्रह से विवश सप्तर्षियों को, गन्धमादन पर्वत क्षेत्र में स्थित, हिमालय-नरेश की परम रूपवती कन्या पार्वती की खोज करनी पड़ी। सप्तर्षियों ने स्वयं नगाधिराज के यहाँ जाकर, उनसे कन्यादान के लिए प्रार्थना की। इस प्रकार हिमालय-नरेश की परम गुणवती एवं रूपवती कन्या पार्वती से पाणिग्रहण कर, शिव पुनः संसार के कर्मक्षेत्रों में प्रविष्ट हुए।

शिव के प्रति भृगु का विरोध तब भी जारी था। जब उन्होंने पार्वती के साथ शिव-विवाह की चर्चा सुनी तो वे शिव के विरोध में, स्वयं हिमालय की पुत्री उमा के प्रणयप्रार्थी हो उठे। हिमवान की अस्वीकृति के कारण वे दोनों के और भी कट्टर शत्रु हो गये (महा० शांति० ३४२।६२)। महाकवि कालिदास के कथनानुसार बदरीनाथ के निकट, गन्धमादन पर्वत-क्षेत्र के मध्य में पार्वती के पिता हिमालय-नरेश की राजधानी थी। यहीं कैलास में शिव का निवासस्थान था। यहीं के तपोवनों में सप्तर्षियों के आश्रम थे। इसी पावन-प्रदेश में तारकासुर का वध करने के लिए कुमार कार्तिकेय का जन्म हुआ। कालिदास ने **'कुमारसम्भवम्'** में हिमालय के इस पावन प्रदेश की श्री-सम्पन्नता का जिस प्रकार विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, वह विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। दक्ष-यज्ञ और शिव-पार्वती के इस विवाह- वर्णन में, पूर्व वैदिक काल की इस पर्वत-प्रदेश की सामाजिक स्थिति का चित्रण है। यह आर्यावर्त्त के अस्तित्व में आने से पूर्व उस युग का एक घटना-चित्र है, जब तराई-भावर में समुद्र लहरा रहा था।

शिव-पार्वती के इस विवाह-संस्कार के पश्चात् शिव पुनः वैदिक रुद्र के स्थान पर प्रतिष्ठित हो गये। हिमालय की पुत्री पार्वती (दुर्गा) गढ़वाल के दुर्गों की देवी (गढ़देवी) बन कर नवदुर्गाओं के रूप में, गढ़वाल के प्रत्येक गढ़ में

पूजी जाने लगी। देवी का रुद्राणी रूप दुर्गा है। गढ़वाल में आज भी 'गढ़देवी' (दुर्गा) अत्यन्त भयंकर रूप में अवतरित होती है और उसकी विध्वंसक शक्ति से सब भय खाते हैं। शिव-पत्नी उमा भी आर्य-जगत् की अधिष्ठात्री बन गयी। '**केन उपनिषद्**' में हिमालय की पुत्री उमा का आर्य-ऋषियों को उपनिषदों के गूढ़ रहस्यों को समझाने का उल्लेख है। पुराणों और '**महाभारत**' में भी, हिमालय और कैलास, शिव और पर्वत-पुत्री पार्वती, गंगा और भागीरथी, गढ़वाल की संस्कृति के तीनों मुख्य प्रतीक शिव-शरीर के अभिन्न भाग बन कर कालान्तर में, आर्य और अनार्य दोनों के परम पूज्य आराध्यदेव बन गये।

देवासुर संग्राम

हम इससे पूर्व लिख चुके हैं कि उत्तर गिरि-प्रदेश में आर्यों की जो शाखा निवास करती थी वे दिति, दनु और कद्रू से उत्पन्न आर्य-महर्षि कश्यप की ही संतान थे और इस प्रकार आर्यों के ही सजातीय थे। उस युग में मातृप्रधान प्रथा के कारण, उनको भू-सम्पति के सौतिया बाँट में उतरी-गिरि का सीमान्त क्षेत्र मिला। बँटवारा होने पर उत्तर-गिरि में बसने के बाद भी इन सौतेले भाइयों में पारस्परिक मनोमालिन्य जारी था।

ये असुरोपासक आर्य भी पर्याप्त धन-सम्पन्न और ऐश्वर्यशाली थे। वे विस्तृत भू-भाग के अधिपति थे। उनके घरों में एक-एक द्रोण के काष्ट-कलसों में सोम भरा हुआ रहता था। उनके अनेक शक्तिशाली सामन्त वृत्र और शम्बर के समान उन्नत पर्वत-पृष्ठों पर विशाल प्रस्तर खंडों से निर्मित अत्यन्त दृढ़ दुर्गों में निवास करते थे।

उत्तर गिरि प्रदेश में, इन असुरोपासक आर्यों की जीवनचर्या अब तक अविचलित रूप से निर्विघ्नतापूर्वक चल रही थी; परन्तु अकालिक जलप्लावन के कारण दक्षिण गिरि से सहसा सभ्यताभिमानी आर्य-शरणार्थियों ने वहाँ पहुँच कर उनकी सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक परम्पराओं को झकझोर डाला। पहले तो इन शरणार्थियों ने उत्तर गिरि के आदि निवासियों की रहने-बसने योग्य, गृह-अन्न-धन द्वारा आर्थिक एवं सामाजिक सुविधाएँ देने के लिए काफी खुशामद की। ऋग्वेद आठवें मंडल के २७, २८, २९, ३० और ३१ सूक्तों में उन्होंने उन्हें वासदाता, पिता, भाई-बन्द, स्वजातीय, प्राज्ञअसुर, सर्व-धन-सम्पन्न, द्रोहशून्य, अहिंसक और देवता कह कर आदरपूर्वक सम्बोधित किया; अपने छोटे-बड़े यज्ञ-यागों में उनका सहयोग, स्नेह और सहानुभूति प्राप्त करने के लिए, उन्हें उनके कुल-पुरोहितों-सहित सादर आमंत्रित किया गया। जल-प्रलय से त्राण पाने पर, भगवान् के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए सबसे प्रथम इस क्षेत्र में जो विराट्

यज्ञ आयोजित किया उसमें असुरों सहित उनके कुलपुरोहित किलात-आकुली भी आमंत्रित किये गये। परन्तु शीघ्र सुव्यवस्थित एवं संगठित होने, एवं उनके खेतों, घरों, चारागाहों पर साम, दाम, दंड, भेद द्वारा अधिकार करने के पश्चात् वे जब उन्हें मृद्वाक्, अब्राह्मण, अव्रता, असुर, अकर्मा, अन्यव्रती, अयाज्ञिक, अमानुष, अनार्य, अदेव और असभ्य कह कर दुतकारने लगे (ऋग्वेद १०।२२।८)। बार-बार अपमानित करने लए तो वे बिगड़ खड़े हुए। परम्परागत मनोमालिन्य में इन नवीन सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक संघर्षों ने प्रज्ज्वजित अग्नि में पुनः घी का काम कर दिया।

उत्तर गिरि प्रदेश के निवासियों के लिए रहने-बसने योग्य भूमि एवं चारागाहों का अभाव तो था ही, इन आर्य शरणार्थियों ने अचानक वहाँ पहुँच कर, उनकी अनेक सामाजिक, धार्मिक आस्थाओं पर भी आक्रमण करके, उनके स्वच्छन्द जीवन-पथ में एक भयंकर अर्थसंकट भी उत्पन्न कर दिया। उनकी उदर-पूर्ति के एकमात्र साधन भी उनके हाथों से छीने जाने लगे। केवल आर्थिक ही नहीं, वरन् उनके सामाजिक एवं धार्मिक जीवनचर्या में भी इन सभ्य आगन्तुकों द्वारा बार-बार ठेस पहुँचने लगी।

आर्य और असुर दोनों के धर्म-कर्म, रीति-रस्म अधिकांश एक थे, परन्तु उनका आहार-व्यवहार विशेष पर्वतीय परिस्थियों के कारण दक्षिण गिरि के आर्य-बन्धुओं से कुछ बातों में भिन्न हो गया था। वे दक्षिणी आर्यों के समान चतुर और व्यवहार-कुशल नहीं थे। दोनों अग्नि और उसके समस्त प्रतीकों उषा, सविता आदि के कट्टर उपासक थे। इन्द्र स्तवन से पूर्व ऋग्वेद के जिस भाग में अग्नि-उषा आदि से सम्बन्धित जितने मंत्र हैं, वे दोनों के लिए पूजनीय थे। और यही ऋग्वेद का सबसे प्राचीन अंश है। तब भारतीय आर्य और पारसियों के पूर्वज साथ-साथ रहते थे। ऋग्वेद अग्नि-स्तवन से ही आरम्भ होता है, और उसमें अग्नि-देव के सम्बन्ध में ढाई हजार मंत्र हैं।

अग्नि और उसके प्रतीकों पर ऋग्वेद में सबसे अधिक मंत्रों की रचना हुई है। अग्नि का उन्होंने देवताओं के देवता (देवो देवानां ऋ० १।३१।१) कह कर आह्वान किया है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के प्रथम सम्पूर्ण सूक्त में अग्नि का स्तवन है, परन्तु शीतप्रधान प्रदेश के निवासी होने के कारण, असुरोपासक आर्य, दक्षिण गिरि से आये हुए इन आर्य-शरणार्थियों से अधिक कट्टर अग्नि-पूजक थे। वे मृतक शवों को गाड़ते थे। अभी तक गढ़वाल की कई जातियों में मुर्दे गाड़ने की यह प्राचीन प्रथा प्रचलित है। पवित्र अग्नि में जो उनकी एकमात्र जीवन-रक्षक, मंगलमय, अभीष्ट, फलदायक, पूजनीय और नमस्कार योग्य है, मुर्दे जलाकर निस्संकोच अपवित्र कर देने वाले दक्षिण गिरि के इन धर्मभ्रष्ट

आर्यों का उन्हीं के घर में, उन्हीं का अन्न-जल खाकर उन्हें बार-बार असुर, अदीक्षित, अधर्मी एवं अनार्य कहना, उन्हें असह्य होने लगा।

असुर स्वयं आर्थिक एवं धार्मिक दृष्टि से अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं, कट्टर वैदिक परम्पराओं के आधार पर इन आर्य आगन्तुकों को आक्रामक, अधार्मिक एवं पतित समझते थे। वे भी दक्षिण गिरि से आये हुए इन आर्य-शरणार्थियों को, राक्षस समझते थे और उन्हें राक्षस कहते थे। वे उनके कुलपुरोहित आर्य-गुरु वशिष्ठ तक को राक्षस कहते रहे हैं। ऋग्वेद (७।१०४।१५,१६) में ऋषि वशिष्ठ असुरों को कोसते हुए प्रार्थना करते हैं कि—'ये राक्षस, मुझ अराक्षस को राक्षस कहते हैं। यदि मैं राक्षस हूँ तो मैं मर जाऊँ, अन्यथा ये जो मुझे राक्षस कह कर सम्बोधित करते हैं और अपने को शुद्ध दूध का धोया समझते हैं, इनके दस वीर पुत्र मर जायें।'

असुरोपासक आर्यों का सबसे कट्टर शत्रु इन्द्र था। वह भी स्वयं असुरों का सजातीय था (ऋ० १।१७४।१)। उसने सरस्वती के तट पर, इसी क्षेत्र में १०० यज्ञों का अनुष्ठान किया था (महा० शल्य पर्व ४८।१८)। उत्तर-गिरि में अलौलिक प्रकृति-श्री से सम्पन्न गन्धमादन पर्वत-क्षेत्र के आस-पास उसका राज्य था। हिमालय के सुमेरु (सतोपंथ) में उसकी राजधानी अमरावती थी। उसके राज्य के उत्तराधिकारी भी—स्वर्गाधिपति इन्द्र के ही नाम से पुकारे जाते थे, उस राज्य के चारों ओर नागपुर में नागों, असुरों और दैत्यों तथा पूर्वोत्तर क्षेत्र में दानवों का बाहुल्य था। इन्द्र की पत्नी शची, पुलोमा नामक असुर की पुत्री थी। चारों ओर शक्तिशाली असुर शत्रुओं से घिरा होने के कारण इन्द्र सदैव उनसे भयभीय रहता था। उसके चारों सीमान्त क्षेत्र असुरक्षित थे। कई बार हिरण्यकशिपु, नहुष, और बलि आदि असुरों द्वारा उसके स्वर्गराज्य पर बलपूर्वक अधिकार कर दिया गया था। वे कब और किस ओर से आक्रमण करके पुनः उसको स्वर्ग से निकाल बाहर कर दें, रात दिन इसी चिन्ता से चिन्तित इन्द्र उन्हें पूरी तरह से समूल नष्ट कर, चिन्तामुक्त होना चाहता था। परन्तु चारों ओर प्रबल शत्रुओं से घिरा होने के कारण वह एकाकी उसका स्थायी निराकरण करने में असमर्थ था। केवल अनार्यों एवं असुरों का ही वह विरोधी नहीं था, वरन् अनेक पौराणिक कथाओं से प्रमाणित होता है कि इस क्षेत्र में किसी की भी (वह सुर हो या असुर, आर्य हो या अनार्य) भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति उसे असह्य थी।

इसी बीच जलप्लावन की घटना घटित होने के कारण दक्षिण से आर्य शरणार्थियों ने उत्तर गिरि के असुरोपासक आर्यों के क्षेत्र में पहुँच कर उनके लिए जो सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक असुविधाएँ उत्पन्न कर दीं,

उससे इन आर्य शरणार्थियों और यहाँ के आदि निवासी इन असुरोपासक आर्यों में देवासुर-संग्राम की स्थिति उत्पन्न होने लगी। दोनों पक्षों के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए असंतोष से कूटनीतिज्ञ इन्द्र की बन आयी। वह वर्षों से इस सुअवसर की ताक में था। आर्य-शरणार्थी भी स्वयं अपनी रक्षार्थ असुरों के विरुद्ध, उनके सबसे प्रबल शत्रु इन्द्र को आमंत्रित करने लगे। ऋग्वेद के अधिकांश मंत्र इन्द्र की इन पूजाओं, प्रशंसाओं और प्रार्थनाओं से ओतःप्रोत हैं। उन्होंने इन्द्र को अपने सब देवी-देवताओं से अधिक सम्मान देकर उसे पूरी तरह अपने पक्ष में करके असुरों का कट्टर शत्रु बना दिया था।

इन्द्र अत्यन्त चतुर, बड़ा विद्वान् और शक्तिशाली था। उसने ५०० महिषों का मांस भक्षण किया था (ऋ० ५।२९।७,८)। मूल निवासी होने के कारण वह इस क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियों से पूर्ण परिचित था। उसे यहाँ के नदी-नालों और घाट-बाटों का पूर्ण ज्ञान था। वह सेनासहित सहर्ष आर्य शरणार्थियों से जा मिला। उनके नेतृत्व में नये-नये अस्त्र-शस्त्रों में पारंगत, सुसंगठित आर्यों को, यहाँ के सरल असंगठित युद्ध-कलाओं एवं नये अस्त्र-शस्त्रों से सर्वथा अपरिचित असुरोपासक आर्यों पर विजय प्राप्त करना आसान हो गया था। अपने सजातीय घर के भेदू इस कुल-द्रोही महिषभक्षी इन्द्र का विदेशी शत्रु-पक्ष में मिलना और उसको आर्यों द्वारा पूज्य वैदिक देवताओं से अधिक सम्मान देना असुरों को असह्य हो उठा। इन्द्र के प्रति यह घोर घृणाभाव भारत से निर्वासित असुरों द्वारा अवेस्ता में सुरक्षित है। आर्यों के इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, वायु और अग्नि आदि वैदिक देवताओं में, जिस इन्द्र का स्थान सर्वोपरि है वह पारसियों के धर्म-ग्रन्थ में सर्वथा उपेक्षित है। उसको वहाँ बुरी आत्माओं का राजा कहा गया है।

डॉ० सम्पूर्णानन्द **'आर्यों का आदि देश'** में लिखते हैं कि—"ऋग्वेद के भीतर ऐसी पर्याप्त सामग्री है। जिससे विदित होता है कि किसी समय या यों कहिये कि दीर्घ-काल तक आर्यों में आपस में घोर युद्ध हुआ है। यह युद्ध किन कारणों से हुआ यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, परन्तु उन कारणों में उपासना विधि को प्रधान स्थान मिल गया यह निर्विवाद है। उसमें कोई समझौता सम्भव नहीं था। एक को अपने असुरोपासक होने का गर्व था, दूसरे को देव पूजक होने का अभिमान था। एक इन्द्र को देवराज मानता था और उसके नाम पर लड़ता था। दूसरा मित्र, वरुण, अग्नि, वायु और यम के साथ किसी दूसरे का नाम लेना नहीं चाहता था। एक पुरानी पद्धति से टलना नहीं चाहता था, दूसरा धार्मिक विश्वास का समर्थक था। दोनों पक्षों में खूब युद्ध हुआ। कभी असुर-पक्ष जीता कभी देव-पक्ष, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त में देव-याजकों की ही जीत हुई।"

एक अन्य स्थान में डाक्टर साहब ने देवासुर-संग्राम के कारणों में आर्यों द्वारा पवित्र अग्नि में मुर्दे जलाना भी बतलाया है, जिसके प्रायश्चित का कोई विधान ही नहीं है। **'अवेस्ता'** की प्रथम पुस्तक **'वेन्दीदास'** के प्रथम अध्याय १७ में लिखा है कि आग में मुर्दे जलाने के पाप का कोई प्रायश्चित नहीं है। आठवें अध्याय में अहुरमज्द कहते हैं कि मज्द के उपासक यदि किसी को मुर्दे जलाते हुए देख लें तो तुरत उसका वध कर डालें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धार्मिक मत-भेदों पर ईसाई-मुसलमानों के 'क्रूसेड' की भाँति, समय-समय पर अनेक संग्राम हो चुके हैं, परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इन देवासुर-संग्राम के कारणों में जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, केवल धार्मिक असंतोष ही नहीं, वरन् सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक असंतोष भी सम्मिलित है। दोनों जातियों में परस्पर धार्मिक मत-भेद, सामाजिक भेद-भाव और असंतोष उत्तरोत्तर उग्रतर होता चला गया। मानव-समानता के आधार पर यह युद्ध समान धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक अधिकार प्राप्त करने के संघर्षों का श्रीगणेश था, जिसकी अस्वीकृति के परिणाम-स्वरूप दोनों दलों में दीर्घकालीन संघर्ष का सूत्रपात हो गया, जो कालान्तर में भयंकर देवासुर-संग्राम के रूप में फूट पड़ा।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने रुहेलखण्ड से ऊपर, हिमालय के इसी प्रर्वत-प्रदेश में इन देवासुर-संग्रामों के होने का उल्लेख किया है। वेदों के भाष्यकार स्वा० दयानन्द सरस्वती ने भी **'सत्यार्थ प्रकाश'** अष्टम समुल्लास में इसकी पुष्टि की है।

आर्य जहाँ चतुर शिल्पी, अनेक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माता और व्यवहार-कुशल एवं संगठित थे, वहाँ असुरोपासक आर्य, असंगठित, सीधे-सादे, अस्त्र-शस्त्रों से अनभिज्ञ (अनायुधो सो असुरा अदेवः) और युद्ध-कलाओं से कोरे थे। बज्रधारी इन्द्र के नेतृत्व में संगठित होकर आर्य समय-समय पर इन असुरोपासक आर्यों पर आक्रमण करने लगे।

इन्द्र ने असुरों के विरुद्ध, सेनासहित आर्य-शरणार्थियों से मिल कर देवासुर-संग्राम की भीषणता में बृद्धि कर दी। वस्तुतः स्वर्गाधिपति इन्द्र के नेतृत्व के कारण ही असुरों की पराजय और देवताओं की विजय सम्भव हो सकी है। मालूम होता है कि इन्द्र की पूजा-प्रार्थनाओं से सम्बन्धित ऋग्वेद का अधिकांश भाग, जलप्लावन के बाद की रचना है। इन्द्र की उपासना प्रारम्भ होने से पूर्व, ऋग्वेद में मित्र, वरुण, अग्नि, वायु और यम की पूजा-प्रार्थना दोनों शाखाओं में समान रूप से प्रतिष्ठित थी। तब तक दोनों आर्य-शाखाएँ साथ थीं उनके देवी-देवता भी एक थे, परन्तु जलप्लावन के बाद, देवासुर-संग्राम में इन्द्र द्वारा प्रमुख भाग लेने और असुरों के युद्ध में पराजित होकर देशत्याग करने के

कारण, इन्द्र असुरों के वैदिक देवताओंके रजिस्टर मेंसम्मिलित नहीं हुए, वहाँ वे आर्यों के वैदिक देवी-देवताओं में, विशेष सम्मानसहित सम्मिलित किये गये।

आर्यों ने इन्द्र, सुदास और सुश्रुवा आदि के नेतृत्व में संगठित होकर असुरों के विरुद्ध जिहाद बोल दिया। असुर भी वृत्रासुर, शम्बर, कृष्णासुर, वरशिख, शुष्णासुर, तुग्र, चुमुरि, पिप्रु, नमुचि, कुत्स आदि बलशाली असुरों के नेतृत्व में आर्यों से भिड़ गये। पर्वत-प्रदेश इन देवासुर-संग्रामों से रक्तरंजित हो उठे। इन्द्र ने वृत्र का वध किया। नागराजा कृष्ण जो सूर्य के समान अवस्थान करता था, द्रुतगामी और दीप्तिमान देह धारण कर सकता था, अंशुमती नदी के तट पर सेना सहित पराजित हो गया (ऋ० ८।८५।१३,१४,१५)।

इन्द्र के वज्र-प्रहार से नब्बे नदियाँ और इक्कीस पर्वत-तट काँप उठे (ऋ० १०।१०९।८)। उसने तीस हजार असुरों का वध किया (ऋ० ५।१०।३)। उसने शरत असुर की सात पुरियों का विध्वंश किया, इसलिए उसका नाम पुरन्दर हुआ (ऋ० ६।९६।१०)। उसने राजा सुश्रवा के विरुद्ध लड़ने वाले बीस राजाओं और उनके साठ हजार निन्यानवें सैनिकों को पराजित किया (ऋ० १।५३।९)। उसने चालीस वर्ष से पर्वतों में छिपे हुए शम्बरासुर को खोज निकाला तथा अहि-नागों का विनाश किया। उसने असुरराज शम्बर के विशाल प्रस्तर-खंडो से निर्मित निस्यानवें सुदृढ़ दुर्गों को भूमिसात् करके उसके सौवें दुर्ग पर अधिकार कर लिया (ऋ० ७।९७।५)। उसकी कट्टर-रक्त-पिपासा से अमानुषिक हृदयहीनता के कारण अनेक आर्य-पुरुष भी उसके विरुद्ध हो गये। उसने उनका भी निस्संकोच निर्दयतापूर्वक वध किया (ऋ० १०।८३।१, ६।३३।३)। उसने सरयू नदी (कुमाऊँ की एक बड़ी नदी जो गढ़वाल और कुमाऊँ के सीमान्तक्षेत्र से निकलती है) के उस पार रहने वाले आर्यत्वाभिमानी अर्ण और चित्ररथ नामक आर्य-नरेशों को भी मार डाला (ऋ० ४।३०। १८)। आर्यगण दस्युओं और आर्य-शत्रुओं को पराजित करने के लिए बार-बार इन्द्र से प्रार्थना करते हैं (ऋ० १०।३८।३)। 'महाभारत' (आदि० प० १९।१९) के अनुसार, इस देवासुर-संग्राम में ऋग्वैदिक ऋषि नर और नारायण ने भी, जिनका आश्रम बदरीनाथ के निकट था, देवपक्ष की ओर से असुरों के विरुद्ध सक्रिय भाग लिया था। इससे गढ़वाल में ही देवासुर-संग्राम की भौगोलिक वास्तविकता भी प्रमाणित होती है।

देवासुर-संग्राम के बाद

इन देवासुर-संग्रामों में कितने असुरों का वध हुआ इसकी कोई गिनती नहीं। मालूम होता है कि चालीस वर्ष से अधिक समय तक देवासुर-संग्राम जारी रहा। अन्त में असंगठित एवं युद्ध-कलाओं से अपरिचित नवीन अस्त्र-शस्त्रों से रहित

असुरोपासक आर्यों का दल आर्यों के द्वारा पराजित हो गया। वे बलपूर्वक अपनी जननी-जन्मभूमि से बाहर निकाल दिये गये (ऋ० ७।५।६)। कुछ आर्य-धर्म में, दीक्षित किये गये, कुछ ने विजयी आर्यों के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया और कुछ दास बनाये गये। शेष जो प्रतिष्ठित आत्मसम्मानी असुर-सामन्त थे, वे आर्यों की अधीनता स्वीकार न कर, अपने शेष अनुयायियों सहित सदल बल, भारत से बाहर निकल गये। उस समय भी तराई भावर में समुद्र लहरा रहा था। अतः उनका शक्तिशाली अभियान दक्षिण की ओर न जाकर पश्चिमोत्तर प्रदेशों को होता हुआ, ईरान की ओर चला गया।

पारसियों के पैगम्बर भी ऋग्वेद (७।५।६) में वर्णित आर्यो द्वारा बलपूर्वक निकाले जाने की बात का समर्थन करते हैं★। वे भी कहते हैं कि वे बलपूर्वक अपने मातृदेश से बाहर निकाले गये। 'उस्तन्वेतिगाथा' में, असहाय जरदुस्त जो विलाप-प्रलाप करते हैं, उसमें भी उनके इस देश-निर्वासन की करुणस्मृति सुरक्षित है :

"मैं किस देश को जाऊँ? कहाँ शरण लूँ? कौन देश मुझको और मेरे साथियों को शरण दे रहा है? न तो कोई सेवक मेरा सम्मान करता है और न देश के दुष्ट शासक! मैं जानता हूँ कि मैं निःसहाय हूँ। मेरी ओर देख, मेरे साथ बहुत-थोड़े मनुष्य हैं। हे अहुरमज्द! मैं तुझसे विनीत प्रार्थना करता हूँ।"

अनेक इतिहासकारों के मतानुसार लगभग ४५०० ई० पू० से लेकर ३६०० ई० पू० की यह घटना है।

असुरोपासक आर्यों के इस शक्तिशाली अभियान ने ईरान (आर्यन) आदि देशों में पहुँच कर दजला और फरात-नदी प्रदेश में अत्यन्त समृद्धिशाली सुमेरियन एवं असीरियन साम्राज्यों की स्थापना की। वहाँ व्यवस्थित होने पर उन्होंने अपने आदि देश की कई सुखद और दुःखद अनुभूतियों को लिपिवद्ध कर सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। असुरों के इसी अभियान द्वारा मित्र, वरुण, अग्नि, वायु, यम आदि वैदिक देवी-देवताओं के नाम, जलप्लावन की घटना, तथा वैदिक उपाख्यान, वैदिक—शब्द-भंडार, और आसुरी-संस्कृति, एशिया-माइनर होती हुई यूरोप तक जा पहुँची। उनके आदि देश सप्तसिन्धु की परम पावनी सिन्धु, सरस्वती और सरयू, भी हप्तहिन्दु सिन्दु, हरह्वती और हैरायू के रूप में वहाँ भी उनके द्वारा स्मरण होती रही। **'साइन्स ऑफ लैंग्वेज'** (पृ०२७९) में प्रो० मैक्समूलर लिखते हैं :—"उत्तरी भारत में एक-एक उपनिवेश जोराष्ट्रियन

★जरदुस्त का समय ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व निश्चित है। इस हिसाब से वे आज से (३००० + १९६५) ४९६५ वर्ष पूर्व, आर्यावर्त्त से निकाले गये थे।

लोगों का भी स्थापित था। वे कुछ समय तक उन साथियों के साथ भी रहे जिनकी पवित्र ऋचाएँ हमारे लिए वेदों में सुरक्षित हैं, परन्तु किसी मतभेद के कारण जोराष्ट्रियन लोग पश्चिम की ओर ईरान को चले गये।"

'लास्ट रिजल्टस ऑफ दि पर्सियन रिसर्चेज' (पृ० ११२, ११३)में लिखा है कि "जोराष्ट्रियनों ने तथा उनके पूर्व पुरुषों ने वैदिक युग में भारतवर्षसे ईरान में प्रवेश किया, इसके समर्थन में कई प्रमाण उपलब्ध हैं। जिन देवी-देवताओं के नामों से यूरोप-निवासी अपरिचित हैं वे संस्कृत भाषा और पारसियों की जेन्द में, एक ही नाम से पूजे जाते हैं। भारतवर्ष-फारस के प्राचीन धर्म और पुराणों में भी विचित्र साम्य है। संस्कृत के कुछ पूज्य देवताओं के नाम जेन्द में निकृष्ट रूप में वर्णित हैं। अतः देवी-देवताओं के सम्बन्ध में जहाँ उनमें कुछ मत-भेद प्रमाणित होता है, वहाँ यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि वे किसी समय आर्यों के साथ रहते थे और किसी सामाजिक अथवा धार्मिक मत-भिन्नता के कारण एक-दूसरे से पृथक् हो गये।"

कुछ इतिहासकारों का यह कथन कि आर्य ईरान होकर भारतवर्ष में पहुँचे, उपहास्यास्पद है। पारसियों के धर्मग्रन्थों में जो सप्तसिन्धु, सरस्वती और सरयू (हरयू) आदि गढ़वाल और अल्मोड़े की प्रमुख नदियों का उल्लेख है, उससे उनका गढ़वाल से प्रयाण प्रमाणित होता है। इसके विपरीत भारत के वैदिक साहित्य में न तो किसी ईरानी नदी का नाम है और न वहाँ के किसी स्थान का उल्लेख है। नेहरू जी **'डिस्कवरी ऑव इंडिया'** (पृ० १६०)में लिखते है कि "अवेस्ता में भारत का उल्लेल है और उसमें, उत्तर-भारत का भी वर्णन है।" इसके विपरीत वैदिक साहित्य में, ईरान का कोई उल्लेख नहीं है। अतः स्पष्ट है कि वे सरस्वती और सरयू के तटवर्ती क्षेत्र से ईरान को गये हैं, क्योंकि यदि वे ईरान होकर भारत में आये होते तो वैदिक-वाङ्मय में, प्राचीन आर्यों द्वारा ईरानी नगर एवं नदियों का अवश्य उल्लेख होता। इस प्रकार प्राचीन ईरान की असीरियन एवं सुमेरियन सभ्यता एवं संस्कृति आर्य-सभ्यता एवं संस्कृति द्वारा स्पष्ठतः प्रभावित है।

डॉ० हौग **'ऐतरेय ब्राह्मण'** की भूमिका (पृ० २, ३) में लिखते हैं कि "ब्राह्मण और पारसियों के पूर्वज सजातीय के रूप में निर्विघ्नतापूर्वक साथ-साथ रहते थे। वह देवासुर-संग्रामों के पूर्व का समय था, जिनका उल्लेख प्रायः ब्राह्मण-ग्रन्थों में हुआ है। इनमें ब्राह्मणों के लिए देव शब्द तथा ईरानियों के लिए असुर शब्द प्रयुक्त हुआ है।" उत्तर वैदिक वाङ्मय में आर्यों द्वारा व्यक्त असुर शब्द में जो घृणा-भाव है वही भाव पारसियों द्वारा देव शब्द में अभिव्यक्त है। पारसीधर्म में मित्र, यम, वरुण, वायु, अग्नि आदि वैदिक देवताओं को असुर और

असुरों के कट्टर शत्रु इन्द्र को बुरी आत्माओं अर्थात् देवों का राजा कहा गया है। देवासुर-संग्राम के बाद, देवों और असुरों का कट्टर मनोमालिन्य पारसी धर्म-ग्रन्थों में अंकित है। जोरास्टर यस्न (१२ (१)) में लिखते हैं :—"मुझ जोरास्टर (अहुरमज्द के पूजक को) देवों का शत्रु और असुरों का भक्त बनना स्वीकार है। मैं दुष्ट, बुरे, असत्यवादी और असत्य एवं बुराई के जन्मदाता उन देवों का परित्याग करता हूँ जो अत्यन्त विषाक्त, संघातक तथा सम्पूर्ण जीवों से अधिक पतित हैं। मैं उन पतित देवों के धर्म की अपेक्षा इस धर्म का प्रशंसक हूँ, वह मुझे प्रिय है और स्वीकृत है।"

देवताओं को सोम प्रिय था, परन्तु इन्द्रदेव सोम के बहुत शौकीन थे। उसने घड़ों सोम पान कर असुरों का वध किया था। इसीलिए सोम के आध्यात्मिक महत्व को स्वीकार करते हुए भी, पारसियों की 'अहुनवैतीगाथा' (यस्न ३२) में वैदिक देवताओं के उस अत्यन्त प्रिय सोम के विरुद्ध लिखा है :—"हे देवो ! तुम उसी बुरी शक्ति से उत्पन्न हो जो सोम की मादकता के द्वारा तुम पर अधिकार कर लेती है। मानव जातिको ठगने और उनकी हिंसा करने के लिए वह तुम्हें अनेक उपायों द्वारा प्रेरित करती है, जिसके लिए तुम लोक विख्यात हो।"

पारसियों की '**स्पेंटा मैन्यूस**' गाथा में भी देवों के उस सर्व प्रिय सोम के विरुद्ध लिखा है कि—हे बुद्धिमान् ! उस उन्मत्तकारक मद्य (सोम) को भ्रष्ट करने के लिए साहसी और दृढ़निश्चयी पुरुष कब जन्म लेंगे। यह पैशाचिक कर्म मूर्ति पूजने वाले पुरोहितों को अत्यन्त घमंडी बना देता है। और वह पतित आत्मा देश पर शासन करती हुई उस अभिमान में वृद्धि करती है (डॉ० हौग द्वारा पारसी धर्म, पृ० १५९)।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि उत्तराखण्ड से पराजित असुरोपासक आर्यों का एक शक्तिशाली दल ईरान की ओर गया और वह जल-प्रलय और उसके बाद होने वाले देवासुर-संग्राम की कटु स्मृति भी साथ लेता गया। असीरियन साम्राज्य की स्थापना के बाद उक्त प्रलय-वृत्त तथा आर्यों के देवताओं के प्रति 'असुरों' का उग्र असंतोष उनके धर्म-ग्रन्थों में भी सुरक्षित है। स्मरण रहे कि उपर्युक्त विद्वान् भारतीय आर्यों को जोराष्ट्रियनों के ईरान से होकर भारत में आने का उल्लेख नहीं करते, वरन् जोराष्ट्रियन-आर्यों का भारत से जाने का उल्लेख करते हैं।

कुछ इतिहासकारों का कथन है कि जल-प्लावन की घटना और 'देवासुर-संग्राम' का उल्लेख भारत से बाहर विदेशियों के प्राचीन साहित्य में भी मिलता

है*, इसलिए उनका अनुमान है कि आर्यों की हिन्द-इरानी शाखा दक्षिण रूस से निकल कर भारत में पहुँचने से पूर्व, जब वे ईरान अथवा उसकी पूर्वी सीमाओं में साथ-साथ रहते थे, उक्त दोनों घटनाएँ घटीं। उसके बाद इनकी दो शाखाएँ हो गयीं। एक शाखा ने भारत में आकर वेदों की रचना की, और दूसरी शाखा ने जो ईरान में ही ठहर गयी थी, 'जेन्दावस्ता' ग्रन्थ की रचना की। 'जेन्दावस्ता' में और ऋग्वेद की भाषा-व्याकरण में बहुत साम्य है।

ईरानियों के धर्म-ग्रन्थों (**वेन्दीदाद**) में भारतीय नदियों और आर्यों के आदि देश के रूप में सप्तसिन्धु, सरयू और सरस्वती को सप्तहिन्दु, सरयू और सरस्वती के नाम से क्रमशः स्मरण किया गया है, (**अवेस्ता** की भूमिका १-८)। आर्यों की जो शाखा रूस से चल कर ईरान में ही रह गयी और भारत में नहीं पहुँच सकी, यदि उक्त इतिहासकारों का यह कथन सत्य है तो उनके धार्मिक ग्रन्थों में भारतवर्ष की सरस्वती, सरयू और सप्तसिन्धु का उल्लेख क्यों है ? इन सब वास्तविकताओं को नजरअन्दाज कर, इन इतिहासकारों का यह कथन कि आर्य, ईरान आदि पश्चिमी प्रदेशों से भारत में पहुँचे, जलप्लावन और देवासुर-संग्राम की घटनाएँ जिनका भारतीय साहित्य में विस्तारपूर्वक वर्णन है, इन दोनों शाखाओं के बीच भारतवर्ष में पहुँचने से पूर्व यात्रा-मार्ग में ही जब वे दोनों साथ-साथ रहते थे, घटित हुई हैं, मेरे विचार से युक्तियुक्त नहीं हैं। अपने मूल-स्थान दक्षिण रूस से हजारों वर्ष तक चलकर, भारतवर्ष में पहुँचने वाली आर्य-जाति के पास के ऋग्वैदिक शब्द-भंडार की इतनी अधिक विरासत आज तक सुरक्षित रह सकी है; परन्तु पश्चिमोत्तर प्रदेशों में वे जो मूलस्थान में ही रह गये तथा मूलस्थान के आस-पास ही थोड़ी दूर चलकर ठहर गये, उनके पूर्वजों के पास वैदिक विरासत दुष्प्राप्य हो गयी, यह कष्ट-कल्पना सर्वथा असंगत है। जिन भारतीय आर्यों ने वेदों के प्रत्येक अक्षर, शब्द और स्वर को अत्यन्त परिश्रमपूर्वक हजारों वर्ष तक—आश्चर्यजनक रूप से नितान्त शुद्ध रखकर विश्व-साहित्य के इतिहास में अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया है, उनको वैदिक सम्पति के वास्तविक वारिस न कह कर, दो-चार वैदिक शब्दों को भ्रष्ट रूप में रखने वालों को वैदिक सम्पति के वास्तविक वारिस घोषित करना निरा पक्षपात नहीं तो क्या है ?

यद्यपि ईंटों में अंकित इस प्रलय-वृत्त के कथावस्तु में साम्य होते हुए भी, वर्णित व्यक्तियों के नामों में साम्य नहीं है, परन्तु इस क्षेत्र के प्राचीन अधिकारियों द्वारा भारतीय साहित्य में वर्णित, 'बाइबल' में वर्णित नूह और भारतीय वाङ्मय का मनु एक ही व्यक्ति है। इससे प्रलय-वृत्त के मुख्य नायक मनु की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।

इन इतिहासकारों का यह कथन भी कि "ब्रह्मावर्त्त की भूमि आर्यों को इतनी सुखदायिनी प्रतीत हुई कि जो जाति यहाँ एक बार आकर बस गयी उन्होंने इस स्वर्ग को छोड़ कर बाहर जाने का नाम नहीं लिया। अतः यहाँ आकर पुनः पश्चिमी देशों की ओर उनका प्रयाण सम्भव नहीं है।" वे यह भूल जाते हैं कि* देवासुर-संग्राम में संगठित आर्य-शत्रुओं द्वारा पराजित होकर अयाज्ञिक असुरोपासक आर्यों ने अत्यन्त अनिच्छापूर्वक अपना देश-त्याग किया है। ऋग्वेद (६।२५।२,३ और ६।६०।६) में उन्हें बार-बार वध करने, पराजित करने तथा देश से निकाल बाहर करने का स्पष्ट उल्लेख है। अवेस्ता में भी लिखा है कि वे बलपूर्वक अपनी मातृभूमि से बाहर निकाले गये। केवल पश्चिम में ही नहीं, वरन् अपनी स्वर्गभूमि से सुदूर पूर्व, जावा, बोर्निया, श्याम आदि देशों में भी जाकर प्राचीन काल में भारतीयों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया था।

पारसी-भाषा एवं '**अवेस्ता**' में प्रायः 'स' का उच्चारण 'ह' किया जाता है। '**जेन्दावस्ता**' में सप्तसिन्धु को 'हप्तहिन्धु' सोम को होम, सर्व को हर्व, असुर को अहुर, दस को दह, सप्ताह को हप्ताह, सम को हम, सरस्वती को हरहैवती और सरयु को हरैयु कहा गया है। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि कुमाऊँ की सरयू से, उत्तर-गढ़वाल में सरस्वती के तटवर्ती क्षेत्र से लेकर, टिहरी की विष्ट, गमरी और नगुण पट्टियों में आज भी प्रायः 'स' का उच्चारण 'ह' किया जाता है। वे सड़क को हड़क, साग को हाग, सगवाड़ा को हगवाड़ा, सौरा को

*** ऋग्वेद में पणियों का कई स्थान पर उल्लेख है। पणिक एवं वणिक शब्द वनिक् (व्यवसायियों) के लिए रुढ़ सा हो गया है। पणिक आसुरी सभ्यता के अनुयायी थे, जो प्राचीन काल में उत्तर गढ़वाल की मुख्य सभ्यता थी। डा० सम्पूर्णानन्द आदि कुछ विद्वानों का कथन है कि सप्तसिन्धु में चलकर इन्हीं पणिकों ने (जो कालान्तर में प्यनिक फिनिक कहलाये) ईरान, मिश्र और भूमध्य सागर के समुद्र तटों पर व्यापार सम्पर्क स्थापित कर वहाँ प्राचीन आर्य सभ्यता और संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया है।**

कुछ विद्वानों के कथनानुसार यूरोप के जिप्सी भी मूलतः भारतीय बंजारों की सन्तान हैं। वे अपने को डोम कहते हैं। उनका रंग गहरे ताँबे से जैतून तक का होता है। और वे भारतीय डोमों का पेशा चटाई-टोकरी बीनना, बढ़ईगीरी, बेंत और बाँस का काम करना, रस्सियाँ बटना, साँप नचाना और गाना-बजाना करना है। इनका जीवन घुमक्कड़ का जीवन है। वे दास भी कहलाते हैं। उनका 'डोम' शब्द संस्कृत के 'डोम्ब' और प्राकृत डोम्भ से निकला है।

हौरा, सासू को हासू, निसुड़ों को निहुड़ो, मसाला को महाला, शुरू को हुरू, घास को घाह, सैंव को हैव, शुरआ को हुरआ और सैणी को ह्वैणि कहते हैं।

भाषा-साम्य के साथ उत्तराखण्ड से गये इन असुरोपासक आर्यों द्वारा पश्चिमोत्तर एशिया में कई सांस्कृतिक एवं धार्मिक विश्वासों की भी स्थापना हुई है। हजरत मोहम्मद से १६५ वर्ष पूर्व, पाँच स्वर्णपत्रों पर अंकित अरबी के **'सयारे-उल-उकूल'** नामक एक प्राचीन काव्य के ३१५ पृष्ठ पर तत्कालीन कवि विनतोय ने राजा विक्रमादित्य की प्रशंसा में लिखा है—'इस दयालु राजा के विद्वानों ने यहाँ पहुँच कर अपने सूर्य जैसे प्रकांड पांडित्य से हमारे अज्ञान अंधकार को दूर किया है और हमें सत्य और ज्ञान का मार्ग दिखाया है।' इसी काव्य में अरबी के अन्य कवि अबुलहकम ने भी वेदों और भारतवर्ष की प्रशंसा करते हुए लिखा है—'हे भगवान्! एक दिन के लिए मेरा भारत में वास हो जाय, जहाँ पहुँच कर मनुष्य जीवन-मुक्त हो जाता है।' ऋग्वेद के अनुसार असुरोपासक आर्य शिश्नों—लिंगों के उपासक थे। वे रुद्र के उपासक होते हुए भी शिव की संस्कृति से प्रभावित उसकी अश्लील-पूजा-पद्धति के भी कट्टर अनुयायी थे। गढ़वाल के प्रत्येक भाग में पत्थर के विशाल शिश्नों-लिंगों तथा ३६० महादेवों का अस्तित्व प्रमाणित हैं। भारत और पश्चिमी एशिया में प्राप्त अनेक मूर्तियों और शिव-लिंगों में भी साम्य है। मक्का के निकट हाल ही में ३६० शिव-लिंग प्राप्त हुए हैं। काबे के पूजा-स्थल में, ३६० मूर्तियाँ इस्लाम के जन्म पर नष्ट कर दी गयी थीं। मक्का का 'संगे असवद' केदारनाथ धाम की काली शिला और पारसियों की 'आतिशे वहराम' त्रियुगीनारायण की त्रेता-युग से प्रज्ज्वलित अखण्ड अग्नि की प्रतीक है। हज को जाने वाले प्रत्येक मुसलमान यात्री जिस प्रकार काबे की इस काली शिला 'संगे असवद' का भक्तिपूर्वक चुम्बन, आलिंगन एवं सात बार परिक्रमा करता है, ठीक उसी प्रकार केदारनाथ को जाने वाले प्रत्येक हिन्दू-यात्री केदारनाथ की काली शिला का भक्तिपूर्वक आलिंगन एवं सात बार परिक्रमा करने की परम्परा प्रचलित है। काबा पूजा-गृह के ऊपर की गुम्बद पर, भारत की स्थापत्य कला की छाप है। कुछ विद्वानों का मत है कि मक्का का प्राचीन नाम 'महाकाव्य' था। केदार क्षेत्र की भाँति मक्का में भी शिवलिंगों के रूप में असुरोपासना-पद्धति प्रचलित थी। मुहम्मद पैगम्बर तथा उनके अनुयायियों द्वारा उक्त 'बुतपरस्ती' विनष्ट की गयी। भारतवर्ष की साकारोपासना की इस पद्धति की काबा की बुतपरस्ती से तुलना करते हुए इसीलिये महाकवि अकबर ने भारतीय बुतपरस्ती के विरुद्ध जिहाद बोलने वाले मुसलमानों को कहा है :

बतलाते हैं बुत जलवए मस्ताना किसी का।
है काबए मकसूद भी बुतखाना किसी का॥

प्रलयकाल के बाद आर्य शरणार्थियों ने जनसंख्या की वृद्धि के कारण इस ऊबड़-खाबड़ पर्वत-प्रदेश की विषम प्रकृति के विरुद्ध यत्र-तत्र छोटे-बड़े सीढ़ीनुमा खेतों का निर्माण कर जीवन-संघर्ष छेड़ दिया था। वे लगभग चालीस से अधिक बरसों तक उत्तर-गिरि-प्रदेश में प्रलय-जल घटने की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करते रहे। इस बीच उन्हें स्थानीय असुरोपासकों के विरुद्ध देवासुर-संग्रामों में भी जूझना पड़ा। प्रतिकूल जलवायु एवं स्थानीय विघ्न-बाधाओं से अधिकांश लोग तंग आ गये थे। वे ऋग्वेद (८।३०।३) के अनुसार सदैव यह कामना करते रहे हैं कि वे पिता मनु से आये हुए मार्ग से भ्रष्ट न हों, ताकि जल-अवतरण पर वे उसी मार्ग से पुनः दक्षिण-गिरि-प्रदेश को निर्विघ्नतापूर्वक वापस लौट सकें।

इस प्रकार '**कामायनी**' के अनुसार 'उतर चला था तब जल-प्लावन और निकलने लगी महीं—' जिस क्रम से जलप्लावित उपत्यकाओं का जल सूखता गया और भूमि-भाग ऊपर निकलने लगा उसी क्रम से आर्यों ने हिमालय के उत्तर गिरि से उतर कर पुनः दक्षिण गिरि की ओर बढ़ना आरम्भ कर दिया। शतपथ में मत्स्य भगवान् ने मनु को आदेश दिया था कि यदि पर्वत के निवास-काल में तुम्हारा जल-सम्पर्क बना रहेगा तो ज्यों-ज्यों जल नीचे उतरेगा, उसके साथ उसी क्रम से तुम भी नीचे उतर सकते हो। सम्भव है कि प्रलय-जल के उतरने पर, आर्यों के दक्षिणी अभियान तक वैवस्वत मनु जीवित नहीं रहे परन्तु मनु-पुत्रों और अन्य आर्य-नेताओं को मत्स्य भगवान् का यह आदेश स्मरण था। जैसे-जैसे और जिस क्रम से प्रलय-जल उतरता गया आर्यगण पर्वत-शिखरों से उतर कर हिमालय की उपत्यकाओं में होते हुए जहाँ कहीं समतल भूमि प्राप्त हुई, उस ओर बढ़ने और बसते हुए चलते गये।

प्रलय-जल के अवतरण पर किसी भौगर्भिक परिवर्तन के कारण तराई-भावर और उत्तरी भारत का अधिकांश भू-भाग, जो इससे पूर्व समुद्र-गर्भ में अदृश्य था, ऊपर निकल आया। आर्यों का यह दक्षिणी अभियान इस बार उसे निर्विघ्नता पूर्वक पार कर ब्रह्मावर्त्त से भी आगे गंगा के मैदान आर्यावर्त्त में उतर आया। आर्यों की इस नयी दुनिया, नयी भूमि, नये चारागाह और अनुकूल जलवायु की खोज में, ब्रह्मावर्त्त से आगे उत्तर भारत तक लौट आने का नाम आर्य-आवर्त है। जलप्लावन से पूर्व उनके देश का नाम सप्तसिन्धु था। जलप्लावन के बाद, सप्तसिन्धु के स्थान पर उनके आदि देश का नाम 'ब्रह्मावर्त्त' और उसके बाद तराई-भावर से आगे गंगा के मैदान में पहुँचने पर 'आर्यावर्त्त' हो गया। ब्रह्मावर्त्त का आवर्त शब्द भी उनका वहाँ सप्तसिन्धु से जाने का सूचक है।

परन्तु अपने पितृ देश सप्तसिन्धु गढ़वाल के उत्तर गिरि (ब्रह्मावर्त्त) के प्रति उनका जो असीम आदर भाव था, उसको उन्होंने समस्त आर्य-साहित्य में, वेद और पुराणों द्वारा, आज तक सुरक्षित रक्खा है। इतना ही नहीं, आर्यावर्त्त में बसने के बाद वहाँ भी उन्होंने अपने आदि देश में प्रचलित, अपने प्रिय स्थानों, व्यक्तियों, ग्रामों और नगरों के नाम पर ही अपने नये स्थानों एवं नये परिवारों का भी प्रायः नामकरण किया है।

ब्रह्मावर्त्त के कई नगर, पर्वत और नदियों—जिनका आर्यावर्त्त में कोई अस्तित्व नहीं था उन्होंने—आर्यावर्त्त में—अपनी पवित्र स्मृति के आधार पर उनका भी, नामकरण किया। आर्य-साहित्य में सरस्वती नदी की तरह उनका भौगोलिक अस्तित्व न पाकर, लोग आज अपने अनुमान के आधार पर जगह-जगह उनका अस्तित्व प्रमाणित करते हैं। फिर भी, इस भू-भाग की प्राचीनता एवं उसके आध्यात्मिक महत्व से कोई इनकार नहीं करता। यही कारण है कि आज भी भारतवर्ष के प्रत्येक भाग से प्रति वर्ष लाखों यात्री यहाँ आकर अपने पितृ देश की यात्रा करना अपने जीवन का अनिवार्यंतः पुनीत कर्तव्य समझते हैं।

श्री नारायण पावगी लिखते हैं कि महा हिम युग में जब जलप्रलय ने उत्तरी ध्रुव देश को जल-मग्न कर दिया था, तो हमारे तृतीय कालीन पूर्वज हिमालय के मार्ग से आर्यावर्त्त की ओर लौटने को विवश हो गये। वे लोग अपने आदि देश सप्तसिन्धु से ध्रुव देश में गये थे। मनु ने उस सर्वोच्च हिमालय के मार्ग से उन्हें दक्षिण की ओर खींच लेने का प्रयत्न किया था, जिसका उत्तर गिरि के नाम से शतपथ में वर्णन है। श्री पावगी ने उत्तर गिरि को हिमालय बताकर उत्तरी ध्रुव से दक्षिण दिशा की ओर लौट आने की जो कल्पना की है वह वस्तु-स्थिति से सर्वथा प्रतिकूल है। आर्य उत्तर से दक्षिण गिरि की ओर नहीं, वरन् शतपथ के अनुसार उत्तर गिरि की ओर भागे थे, जिसका सीधा और स्पष्ट अर्थ यह है कि वे दक्षिण गिरि प्रदेश में रहते थे। जलप्लावन होने पर उन्होंने दक्षिण गिरि-प्रदेश से उत्तर गिरि की ओर प्रयाण किया। और प्रलय-जल उतरने पर वे पुनः उत्तर गिरि से दक्षिण दिशा की ओर, आर्यावर्त्त को लौट पड़े।

श्री अविनाशचन्द्र दास भी इसे स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं "मत्स्य मनु को उत्तर गिरि की ओर ले गया। उत्तर में हिमालय की ऊँची चोटियाँ हैं, जहाँ रक्षा हो सकती थी। उत्तर गिरि जाने में यह भी संकेत है कि मनु कहीं दक्षिण की ओर से गये थे।"

पुराणों में लिखा है कि दक्षिण में पहुँचने के लिए अगस्त्य ऋषि ने समुद्र का आचमन कर लिया था और विन्ध्याचल को नीचे कर दिया था। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि शिवालिक पर्वत के नीचे और विंध्याचल पर्वत से

ऊपर तराई-भावर में उस समय एक समुद्र था, जो उत्तर में रहने वाले भारत-वासियों को दक्षिण के भारतीयों से पृथक् करता था। जलप्लावन के अवतरण पर उक्त समुद्र सूख गया। ऋषि अगस्त्य के नेतृत्व में उत्तर गिरि से आर्य जाति का यह निष्क्रमण, तराई-भावर से होकर गंगा के मैदान को पार करता हुआ प्रथम बार विन्ध्याचल से आगे निर्विघ्नतापूर्वक दक्षिण भारत तक पहुँचने में सफल हुआ था। अगस्त्य ने प्रथम बार अपने इस ऐतिहासिक अभियान द्वारा उत्तर और दक्षिण भारत के बीच सदियों से पड़ी हुई उस खाई को पाट दिया था।

अगस्त्य ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषियों में एक थे। उत्तर गिरि में मंदाकिनी के तट पर 'अगस्त मुनि' नामक स्थान पर उनका आश्रम था। परगना नागपुर में आज भी उक्त स्थान उसी नाम से विख्यात है। दक्षिण में आर्य-संस्कृति का सफलता पूर्वक प्रचार-प्रसार करने के लिए अगस्त्य ऋषि ने वहाँ की लोक-भाषा तमिल का विधिवत् अध्यापन कर उसमें व्याकरणकी रचना की। दक्षिण देश में आर्य-सभ्यता का प्रचार-प्रसार का श्रेय ऋषि अगस्त्य को ही है जिनकी स्मृति आर्य ग्रन्थों में इस महत्वपूर्ण आख्यान के रूप में आज तक विद्यमान है। 'दक्षिण देश' की मातृ-प्रधान परम्परा और मन्दिरों की देवदासी प्रथा उत्तर गिरि प्रदेश की पम्पराओं की प्रतीक हैं। गढ़वाल के प्रमुख देवताओं बदरीनाथ और केदारनाथ का पौरोहित्य-पद उस क्षेत्र में विद्यमान अनेक विद्वान् ब्राह्मणों के बावजूद, जो दक्षिणी ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित है, हो सकता है कि उसका कारण भी यही हो। दक्षिण देश में गणपति प्रधान देवता के पद पर प्रतिष्ठित हैं। पार्वती पुत्र गणपति का उत्पत्ति-स्थल भी नागपुर में अगस्त आश्रम के निकट है।★

इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उत्तर गिरि का यह क्षेत्र प्रलय-जल उतरने पर तथा देवासुर-संग्राम के बाद सभ्य आर्यों एवं असुरोपासक आर्यों से

★रुद्रप्रयाग के लगभग ११ मील की दूरी पर स्थित अगस्त मुनि नामक विशेष नगर है, जहाँ पर प्राचीन भारत के एक महान् ऋषि अगस्त्य मुनि को समर्पित एक मन्दिर है। अगस्त्य मुनि का नाम न केवल उत्तर भारत में ही, अपितु दक्षिण भारत में लगभग सब जगह बड़े सम्मान से लिया जाता है। क्योंकि वह उन सन्तों में से एक थे, जिन्होंने विन्ध्याचल को पार किया तथा एक प्रकार से उत्तर व दक्षिण भारत को समान धार्मिक व सांस्कृतिक तन्तु में बाँधा। अतः भारत की उत्तरी सीमा के समीप स्थित उनके मन्दिर का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा। यहाँ से केदारनाथ के मुख्य मार्ग पर त्रियुगी-नारायण हैं।

सर्वथा रिक्त हो गया था। प्रलय-जल के उतरने पर जब निरन्तर हिमपात आदि कठिन परिस्थितियों से पीड़ित अधिकांश आर्यगण पुनः आर्यावर्त्त को लौट गये तो पर्वतीय परिस्थितियों से अभ्यस्त उत्तर गिरि के शेष स्वाभिमानी असुरोपासक अपने आदि देश में ही रह गये। प्राचीन इतिहासों एवं स्थानीय लोक गाथाओं से विदित होता है कि हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, बलि, बाणासुर, भस्मासुर, तारकासुर आदि अनेक असुरराज इसी क्षेत्र में समय-समय पर नवीन शक्ति संचित कर इन सभ्यताभिमानी आर्य-शत्रुओं से भिड़ते रहे हैं। वे आर्य भी जो अपनी परिस्थितिवश अपने आर्य बन्धुओं का साथ देने में असमर्थ थे, अल्प संख्यक होते हुए भी इस उत्तर गिरि-प्रदेश में ही रह गये। उत्तराखण्ड के वर्तमान निवासियों में अधिकतर उन्हीं आदिकालीन आर्य जाति के वंशज हैं। इसीलिए उत्तराखण्ड से चलकर आर्यावर्त्त में बस जाने के बाद उनके आचार-विचार, रीति-रश्मों में समय-समय पर परिवर्त्तन होते रहे हैं। उनसे वे प्रायः अछूते रहें हैं।

● ●

देवासुर शासन और संस्कृति

देवासुर-संग्राम के बाद जलप्लावन के अवतरण पर जब मत्स्य भगवान् के निर्देशानुसार ब्रह्मावर्त्त से कठिन शीत और अनेक पर्वतीय असुविधाओं से पीड़ित अगस्त्य के नेतृत्व में आर्यों का दक्षिणी अभियान आरम्भ हुआ तो हिमालय की इन पर्वतीय परिस्थितियों से जो स्वाभिमानी असुर-परिवार अभ्यस्त थे, वे आर्य-प्रभुओं का साथ न देकर अपने मूलस्थान में ही रह गये। वे अपने गत-वैभव और सुदृढ़-दुर्गों को भूले नहीं थे। आर्य शरणार्थियों ने दक्षिण गिरि-प्रदेश से आकर, बलात उनके घरों, खेतों और चरागाहों पर अधिकार कर उनके सुदृढ़-दुर्गों एवं राजनीतिक स्वाधीनता का अपहरण किया था, वह उन्हें स्मरण था। आर्यों के सम्पर्क में आकर उन्होंने उनकी शिक्षा-दीक्षा, युद्ध-कौशल, अस्त्र-शस्त्रों का संचालन एवं संगठन-शक्ति से भी जहाँ लाभ उठाया वहाँ अपने प्रबल शत्रु आर्यों से पृथक्, अपने अधिकांश धार्मिक आचार-विचार एवं सांस्कृतिक परम्पराओं को भी सुरक्षित रखा। आर्यों के ब्रह्मावर्त्त से चले जाने के बाद उन्होंने बाणासुर आदि असुरों के नेतृत्व में अपनी खोई हुई शक्ति संचित कर मध्य हिमालय के उत्तर-गिरि-प्रदेश पर पुनः अपना राज्य-शासन स्थापित कर लिया। शक्तिसम्पन्न होने के बाद शीघ्र चिर शत्रु आर्यों के साथ उनके धार्मिक एवं राजनीतिक संघर्ष जारी हो गये।

मैं इससे पहिले भी लिख चुका हूँ कि जलप्लावन से पूर्व भी आर्यों की दोनों शाखाओं, सौत-पुत्रों में परस्पर युद्ध जारी थे। उत्तरी हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र में कश्यपपुत्र असुरराज हिरण्याक्ष का राज्य-शासन था। उसने शक्तिसम्पन्न होने के बाद जब दक्षिणी आर्यों के सीमान्त क्षेत्रों पर आक्रमण किया तो वह आर्य-नेता 'वराह' द्वारा वध किया गया। हिरण्याक्ष के तीनों पुत्रों ने कैलास-क्षेत्र में शिव के आश्रम पर भी आक्रमण किया, परन्तु शिव-स्नातकों द्वारा उन तीनों के तीनों पुर भस्म कर दिये गये। इसीलिये शंकर को त्रिपुरारि भी कहा जाता है।

हिरण्याक्ष की मृत्यु के बाद उसके भाई हिरण्यकशिपु ने राज्य की बागडोर संभाली। गद्दी पर बैठते ही उसने भी आर्य-शत्रुओं पर आक्रमण आरम्भ कर दिये। उसने सबसे पहले अपने पड़ोसी देवराज इन्द्र पर आक्रमण कर, उसके स्वर्ग राज्य पर अधिकार कर लिया। पराजित आर्यों को जब हिरण्यकशिपु के विरुद्ध सीधे संग्राम में विजय प्राप्त करने की आशा नहीं रही तो उन्होंने उसके पुत्र प्रह्लाद को उसके परम्परागत धर्म एवं संस्कृति के विरुद्ध, आर्य-संस्कृति में

दीक्षित करके अपने पक्ष में कर लिया। अपने कट्टर शत्रुओं के साथ अपने पुत्र की यह कुलद्रोही घनिष्ठता हिरण्यकशिपु को अत्यन्त अनिष्टकारी प्रतीत हुई। अपने माता, पिता एवं गुरु द्वारा बहुत समझाने-बुझाने पर भी प्रह्लाद किंचित् भी अपने दृढ़ निश्चय से विचलित नहीं हो सका। अन्त में हिरण्यकशिपु अपने विद्रोही पुत्र के प्राण लेने पर उतारू हो गया, परन्तु आर्य-शत्रुओं की अप्रत्यक्ष सहायता के कारण, प्रह्लाद का कोई अनिष्ट न हो सका और वह स्वयं आर्य-जाति के नेता 'नरसिंह' द्वारा मार डाला गया।

कुछ विद्वानों के कथनानुसार असुरराज हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु असीरियन वंश के सम्राट् थे। भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में कश्मीर तक उनके राज्य की सीमा थी। मुलतान और उसके बाद स्यालकोट उसकी राजधानी थी। इस दृष्टि से गढ़वाल, कश्मीर का निकटतम पर्वतीय पड़ोसी होने के कारण उत्तरी गढ़वाल का यह क्षेत्र उनके राज्यान्तर्गत होना भी असम्भव नहीं है परन्तु उनके इस आधार की प्रामाणिकता विवादास्पद है।

भारतीय वाङ्मय के अनुसार वैदिक युग से पौराणिक युग तक अविच्छिन्न रूप से ऊत्तर गढ़वाल, नागपुर, दशोली और बधान क्षेत्र में असुरों का राज्य-शासन प्रमाणित होता है। कतिपय स्थानीय स्मारकों एवं लोक गाथाओं से इसके अधिकांश भाग में हिरण्यकशिपु के राज्य-शासन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। गढ़वाल में प्राचीन काल से प्रचलित इन लोकगाथाओं में यद्यपि वृत्रासुर और शम्बर का उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु उनमें हिरण्यकशिपु के बाद, बाणासुर तक वंशक्रमानुसार सब असुर शासकों का जो वर्णन आता है, वह निराधार नहीं है। **'विष्णुपुराण'** (१७।२, ६; २१।२) में ब्रह्मा के मानसपुत्र कश्यप से दिति के हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु दो महावीर पुत्र उत्पन्न हुए। ये दैत्य कुल के आदि पुरुष कहलाये। हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा से वर प्राप्त कर त्रिलोक-विजय कर स्वर्ग के इन्द्रासन पर भी अधिकार कर लिया। देवतागण उसके त्रास से स्वर्ग छोड़ कर इधर-उधर वनों में मनुष्य रूप धारण कर घूमने लगे। **'भागवत'** के सातवें स्कन्ध में भी हिरिण्यकशिपु का स्वर्ग में आने-जाने का उल्लेख है। उसका पुत्र प्रह्लाद, प्रह्लाद से विरोचन, विरोचन से बलि और बलि से वाणासुर हुआ। पुराणों में यह भी लिखा है कि हिरण्यकशिपु ने अपनी देह को चार भागों में बाँट कर, स्वर्ग का राज्य-शासन किया था। स्वर्ग के तीन भाग (त्रिविष्टप) प्रसिद्ध ही हैं, जिसका मुख्य भाग वेद और पुराणों के अनुसार हरिद्वार से ऊपर की भूमि है। हिरण्यकशिपु की राजधानी उत्तर गढ़वाल में अवस्थित इसी स्वर्ग क्षेत्रान्तर्गत, ज्योतिषपुर जिसको प्राग्ज्योतिषपुर, ज्योतिर्धाम, ज्योतिर्मठ या जोशीमठ भी कहते हैं, थी। इसका प्राचीन नाम 'नरसिंहपुरी' भी

है । आर्य-नेता नरसिंह और हिरण्यकशिपु के युद्ध की स्मृति में वहाँ नरसिंह का प्राचीन मन्दिर आज तक सुरक्षित है । गढ़वाली लोक गीत में कहा है :—डौंडया नरसिंह रहलो ऊँचा जोशीमठ । दूध्या नरसिंह रहलो शमशानी-घाट । अर्थात्, नरसिंह—भयंकर रुद्र रूप में, जोशीमठ में और उदार रूप में श्मशान में निवास करते हैं ।

इसी गन्धमादन पर्वत क्षेत्र में इन्द्र का स्वर्ग भी था । इसी क्षेत्र विष्णुप्रयाग में इन्द्र के छोटे भाई विष्णु भी रहते थे । यहीं अलकनंदा के उस पार असुर और नागराजाओं का राज्य भी था । प्रह्लाद और बलि के साथ 'महाभारत' (शां० २२२, २२३, २२५) में इन्द्र का बार-बार उल्लेख हुआ है ।

जोशीमठ में ही नहीं, बदरीनाथ क्षेत्र में भी वाराह नृसिंह प्रह्लाद से सम्बन्धित अनेक प्राचीन स्मृति-चिन्हों का '**केदारखंड**' (५८।११८, १३६) में उल्लेख है ।

गढ़वाल के एक परगने का नाम वाराहस्यूँ है । हो सकता है कि आर्य नेता वाराह द्वारा हिरण्याक्ष के बध की स्मृति-स्वरूप उक्त क्षेत्र का नाम 'वाराहस्यूँ' रखा गया हो । जलप्लावन के समय, अनेक गूलों और नालियों का निर्माण कर जलमग्न स्थलों का जल सुखा देने की सार्वजनिक व्यवस्था करने के सम्बन्ध में भी 'वाराह' भगवान् को स्मरण किया जाता है । '**वाराह पुराण**' (१४१) में लिखा है कि वाराह अवतार का गुप्त स्थान हिमवन्त की पीठ पर है ।

गढ़वाल के प्रत्येक परिवार के कुलदेवताओं में अन्य सब देवी-देवताओं से प्रथम नरसिंह देवता अधिक पूजित और प्रतिष्ठित हैं । शत्रु का सर्वनाश करने के लिए परपीड़ित गढ़वाली ग्रामीण आज भी उसका आह्वान करते हैं । नरसिंह के पश्चात् प्रत्येक गढ़वाली परिवार में नागराजा का स्थान भी सुरक्षित है, परन्तु नरसिंह प्रत्येक ग्रामीण द्वारा नागराजा से अधिक पूजित और प्रतिष्ठा प्राप्त है । लोक-गीतों और लोक-नृत्यों में आज भी उसका प्रभावशाली स्थान स्पष्ट है । यहाँ के कुशल जागरी (धामी) गीत और वाद्यों द्वारा प्रत्येक घर में किसी स्त्री अथवा पुरुष पर समय-समय पर उसको अवतरित करके उसकी पूजा करते हैं । पीढ़ियों से गढ़वाल के घर-घर में विशेष श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रचलित इस अटूट लोक-परम्परा के साथ इस देश की कोई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना की स्मृति अवश्य सुरक्षित है, जो जनता के जीवन के साथ इतनी गहराई से घुल-मिल गयी है कि अनेक शताब्दियों की सामाजिक एवं धार्मिक क्रांतियों के बावजूद भी सर्वथा अप्रभावित रह सकी है ।

पराजित असुरों के इतिहास में प्रह्लाद का आर्य-धर्म में दीक्षित होना एक इतिहास-प्रसिद्ध घटना है । उस गरीब ने आर्यों को प्रसन्न करने के लिए अपनी

जाति से विश्वासघात किया और कुलद्रोह करके अपने बाप तक को मरवा डाला, तथा आजीवन अपनी चाटुकारिता एवं भक्तिपूर्वक सेवा-सत्कार से इन आर्य-प्रभुओं को कभी अप्रसन्न नहीं होने दिया। परन्तु वह सदैव उनका दास (दस्यु) ही रहा। उस अभागी का जीवन 'हाँ हजूरी' में ही व्यतीत हुआ। सर्व प्रभुत्व-सम्पन्न, विजयी आर्य-प्रभु उसको और उसके जातीय बन्धुओं को अपना 'भक्त' एवं अनुचर बनाने को तो सहमत थे परन्तु उनको अपने समकक्ष स्थान देने में वे रात-दिन हीला-हवाला ही करते रहे। वे उन्हें द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य) तो कहाँ, उनके असंख्य बलिदानों, त्याग और तपस्याओं के बावजूद, कभी मनुष्य मानने के लिए भी तैयार नहीं हुये !! उन्होंने सर्व गुण-सम्पन्न परम शक्तिशाली रावण तक को, जो आर्य-ऋषि पुलस्त्य का पौत्र और विश्रवा मुनि का पुत्र था; ब्राह्मण-कुमार था, मनुष्य के रजिस्टर से खारिज करके, साधिकार राक्षस करार दे दिया।

रावण का सौतेला भाई कुबेर शुद्ध आर्य-रक्त से उत्पन्न होने के कारण आर्यों द्वारा जहाँ आर्य-जाति के चार दिक्पालों के पद पर अभिषिक्त हो चुका था, वहाँ असुर-माता से उत्पन्न होने के कारण रावण राक्षस का राक्षस रखा गया। स्वाभिमानी रावण ने भी इन जात्याभिमानी आर्यों की शासन-सत्ता समाप्त करने में अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग किया। उसने एक बार लंका से लेकर उत्तर-गढ़वाल हिमालय के अंतिम छोर दशोली, अलकापुरी और कैलास तक अनेक आर्य-नरेशों को, यहाँ तक कि अयोध्यापति राम के प्रपितामह का युद्ध में वध कर डाला था। उसने राक्षसों की सेना लेकर आर्य दिक्पालों यम, वरुण, इन्द्र और कुबेर को पराजित किया; और असुरों के कट्टर शत्रु इन्द्र को तो वह बन्दी बना कर लंका ले गया था। दक्षिण भारत में खर और दूषण उसके दो पराक्रमी राजदूत नियुक्त थे। उसने इन गर्वोन्मत्त आर्यों की इस वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध केवल कृपाण का ही नहीं, कलम का भी—जिसका वह भी धनी था—प्रभावशाली प्रयोग किया। उसने आर्य जाति की परम पूज्य पुस्तक वेद पर भाष्य लिख कर आर्यों के द्वारा विशेष प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था पर भी जो आक्रमण किया वह उसके वेद-भाष्य 'कृष्णयजुर्वेद' में व्यक्त है, जिसमें आर्यों के द्वारा अधिकार पूर्वक प्रचारित, न शाखा-भेद है और न गोत्र-विस्तार।

राक्षसराज प्रह्लाद ने ही नहीं, विभीषण ने भी इन आर्य-प्रभुओं के लिए क्या-क्या नहीं किया। उसने अपने आर्य-प्रभु को प्रसन्न करने के लिए, सर्व प्रभुत्व सम्पन्न अपने समस्त परिवार की बाजी लगा दी, परन्तु उसके इस विलक्षण बलिदान से भी आर्यों के जातीय अभिमान में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। आर्यगण असुरों को, वे अलौकिक देवगुणों से भी सम्पन्न क्यों न रहे हों, अनार्य, अमानुष

बलि को दक्षिण में महाबलिपुर का राजा करार दिया है। उनके कथन की प्रमाणिकता का आधार क्या है, यह वही जानें, परन्तु जहाँ तक प्राचीन ऐतिहासिक स्मारक भौगोलिक वास्तविकता का प्रश्न है, हम गढ़वाल में उनके प्राचीन अस्तित्व के सम्बन्ध में इससे पूर्व पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत कर चुके हैं। गढ़वाल की लोकगाथाओं में, राजा हिरण्यकशिपु प्रह्लाद और बलि के उपाख्यान सर्वत्र आज भी मुखरित हैं। जब विष्णु वामन के रूप में, असुरराज बलि के दरबार में पहुँचते हैं तो गढ़वाल की प्रचलित लोकगाथाओं में उनका परस्पर जो वार्तालाप होता है, उसका संक्षिप्त अंश यह है :

बोला, बोला बरमा ! क्या दान चैंद ?
ले-लेवा बरमा ! सोना को दान।
सोना को दान नी चैंद राजा !
गौंको सुनार गऽढ़ी नि देन्दो।
दुबलो गढलो हरि देलो आधी।
ले-लेवा बरमा जी ! तामा को दान।
तामो तमोटो पूरो नि देन्दो।
आधी हरलो, आधी गढ़लो।
बोला बोला बरमा ! क्या दान चैंद।
दे देवा राजा जी ! वचन को दान।
ले-लेवा बरमा ! वचन को दान।
दे देवा राजा जी ! तिखुटी धरती।
तिखुटी धरती देण तीन खुटा जगा।
या क्या मांगे बरमा तिखुटी धरती।
छाँट-छाँट बरमा ! तीन खुटा जगा।
बरमा न धुई खुटा धरती मा धार्या।
नापीने बरमा ! तिन तीनी लोक।
एक खुटो रैंगे बरमा को खाली।
कख धारू राजा जी ! मै तीजो पैर ?
नी रैंगे राजा जी धरती मा ठौर।
धरि देवा बरमा जी ! कांधि मा पैर।

बलि :—ब्रह्मणदेव ! कहिए, आपको किस वस्तु का दान चाहिए ? क्या आप सोने का दान स्वीकार करेंगे ?

वामन :—नहीं राजन्, मुझको स्वर्ण की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि गाँव

का सुनार उसे ठीक तरह नहीं गढ़ता। वह उसे दुर्बल गढ़ता है और उस पर भी आधा चोर देता है।

बलि :—तो ब्राह्मणवर ! आप ताम्बे का दान ग्रहण करें।

वामन :—नहीं राजन् ! तमोटा पूरा ताम्बा नहीं देता, वह भी आधा चोर लेता है, और आधे का बर्तन गढ़ता है।

बलि :—तो ब्राह्मणदेव ! आपको क्या दान दूँ ?

वामन :—राजा ! मुझे आप वचन दें।

बलि :—ब्राह्मणदेव ! मैं आपको वचन-दान देता हूँ।

वामन :—राजा ! आप अपने वचन के अनुसार तीन पैर धरने को भूमिदान दीजिए।

बलि :—ब्राह्मणदेव ! आप केवल तीन पैर भूमि लेकर क्या करेंगे ? आप तीन पैर से नाप कर कहीं पर भी भूमि छाँट लें।

वामन ने अपने दोनों पैर पृथ्वी में धरे और केवल दो कदमों से तीनों लोकों को नाप लिया। ब्राह्मण का जब तीसरा कदम शेष रह गया तो वह राजा बलि से बोला :—राजन्, बताइये, अब मैं अपना तीसरा पग कहाँ धरूँ ? क्योंकि अब पृथ्वी में तीसरा पैर धरने को कोई ठौर शेष नहीं रह गयो है। बलि बोले :—ब्राह्मण देव ! आप अपना तीसरा कदम मेरे कंधे पर रखें।

इस प्रकार राजा बलि की यह पराजय गढ़वाल की लोकगाथाओं में प्राचीन काल से.गायी जाती रही है। आर्यों के इस विजयोत्सव का नाम गढ़वाल में बलिराज और बग्वाल है। गढ़वाल में भाद्रपद शुक्ला एकादशी को आज भी वामन अवतार की पूजा होती है। इन लोकगाथाओं में राजा बलि और बाणासुर की गीत-गाथा विभिन्न रूपों में प्रचलित है। राजा बलि के इस लोकगीत में, ब्राह्मण से स्वर्ण के पश्चात् चान्दी का दान न कह कर, जो सीने ताम्बे का दान माँगने का आग्रह करते हैं, उससे उनके राज्य में, चान्दी का सर्वथा अभाव एवं ताम्बे की अधिकता का एक महत्वपूर्ण ऋग्वैदिक ऐतिहासिक तथ्य भी प्रकट होता है। हम इससे पूर्व, गढ़वाल में, विशेषकर बलि के राज्य नागपुर क्षेत्र में, चाँदी का अभाव और सोने तथा ताम्बे की प्रचुरता सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं। अलकनन्दा (सिन्धु) जिसको ऋग्वेद में (हिरण्यवर्तिनी) अर्थात् सोना देने वाली नदी कहते हैं, आज भी सोना निकलता है और नागपुर क्षेत्र में ताम्बे की सबसे अधिक खानें हैं।

राजा बलि की पराजय से असुरों की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति और भी दमनीय हो उठी। विजयी आर्यों के समक्ष उनकी सामाजिक और आर्थिक अवस्था निकृष्ट वर्णों से भी बदतर होती गयी, परन्तु एक शक्तिशाली जाति को,

जिसका आदि स्रोत एक ओर अतीव गौरपूर्ण रहा हो, पददलित कर उसको समान मानवीय अधिकारों से कब तक बलात् वंचित रखा जा सकता था। राजा बलि की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र वाणासुर नागलोक (नागपुर) का राजा बना।*।उसने अपने चिर शत्रु विजयोन्मत्त आर्यों के ब्रह्मावर्त्त छोड़ कर, आर्यावर्त्त में चले जाने के बाद, अपनी आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति सुदृढ़ कर, अनेक विध्वंशकारी युद्धास्त्रों से सुसाज्जित होकर, आर्यों के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। वाणासुर का यह विकट संग्राम प्राचीन लोकगीतों द्वारा गढ़वाल में आजतक प्रतिध्वनित है। मैखंडा (नागपुर) जहाँ पर भगवती महिषमर्दिनी ने महिषासुर का वध किया था और बामसू (वाणासुर) में बाणासुर द्वारा निर्मित अनेक ऐतिहासिक स्मारक सुरक्षित हैं।

संसार के सर्वोत्तम प्राकृतिक सौंदर्य से सम्पन्न देवनदी मंदाकिनी की यह उपत्यका अनेक प्राचीन तीर्थों और ऐतिहासिक स्मारकों से अलंकृत है। यहीं गुप्तकाशी के सम्मुख मन्दाकिनी के वाम पार्श्व में आचार्य शंकर द्वारा स्थापित मठ के पास उखीमठ-बामसू में वाणासुर द्वारा निर्मित उसकी पुत्री उषा का मन्दिर है। लमगौरी स्थान में उषा के प्रियतम श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का भी मन्दिर हैं। बामसू गाँव में यादव सेना के साथ वाणासुर के युद्ध में अगणित सैनिकों का शोणित बहा था। इसलिए वह स्थल आजतक शोणितपुर के नाम से विख्यात है। इसी के निकट वाणासुर के प्राचीन दुर्ग के भी अवशेष हैं।

शक्तिशाली आर्य-शत्रुओं के ब्रह्मावर्त्त से चले जाने के बाद, बाणासुर ने

+ केदार १९४।१०

वैदिक काल के पूर्वार्द्ध में पैतृक धन और सम्पत्ति के असमान सौतिया बाँट से असहमत सौतपुत्रों (देवों और दानवों) के पारस्परिक मनोमालिन्य के फलस्वरूप ऋग्वेद में असुरराज हिरण्याक्ष से लेकर राजा बलि तक, देवताओं के विरुद्ध असुरों के युद्धों का वर्णन है। ये युद्ध जलप्लावन से पूर्व हो चुके थे। जलप्लावन के अवसर पर, आर्य शरणार्थियों के अप्रत्याशित प्रवेश से उत्पन्न सामाजिक और आर्थिक भेद-भावों के कारण, उनका परम्परागत मनोमालिन्य देवासुर-संग्राम के रूप में फूट पड़ा। मालूम होता है कि देवासुर संग्राम में बन्द जल-अवतरण पर जो पराजित असुर-परिवार ब्रह्मावर्त्त को छोड़ कर न तो अपने साथियों के साथ पश्चिमोत्तर देशों को गये और न आर्यों के दक्षिणी अभियान के साथ आर्यावर्त्त को ही जा सके, उनमें राजा बलि की संतति भी थी, जिसने ब्रह्मावर्त्त में अपनी शक्ति संचित कर अपने पिता, प्रपितामह के शत्रु आर्यों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी।

निष्कंटक होकर अपने राज्य का विस्तार, गढ़वाल-कुमाऊँ में ही नहीं, वरन् हिमालय के पर्वत-प्रदेश में बहुत दूर तक, फैला दिया था। कुमाऊँ में लोहगढ़ को भी (शोणितपुर) वाणासुर को राजधानी कहा जाता है। श्री बदरीदत्त पांडे ने **'कुमाऊँ का इतिहास'** (पृष्ठ १४) में कौटोलगढ़ को भी वाणासुर द्वारा स्थापित बताया है।

प्राचीन काल में रुद्रप्रयाग से लेकर रुद्रनाथ तक इस समस्त मन्दाकिनी उपत्यका में सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन पर ऋग्वैदिक रुद्र का एकछत्र शासन था। इस क्षेत्र में स्थान-स्थान पर रुद्र के ऐतिहासिक स्मारकों के बाहुल्य से इसकी पुष्टि होती है। इसी क्षेत्र में उनके आचार्यत्व में कहीं एक महत्वपूर्ण विश्वविद्यालय स्थापित था, जिसके स्नातकों में देव और असुर दोनों को शिक्षा-प्राप्त करने का समान अधिकार था; परन्तु असुरों के राज्यान्तर्गत होने के कारण वहाँ शिव के अहियों और असुर-भक्तों का बाहुल्य होना स्वाभाविक था। ऋग्वेद में अहियों का देवों से पराजित होने के बाद, रुद्र की शरण, जाने का उल्लेख है। इस प्रकार यह मन्दाकिनी-उपत्यका कैलास का यह क्षेत्र स्थानीय आचार्य शिव और पार्वती की संरक्षता से शिव-संस्कृति से प्रभावित असुरों एवं शैव-सभ्यता का ही मुख्य केन्द्र नहीं रही है, वरन् इसी क्षेत्रान्तर्गत मैखंडा (महिष-खंडा) में शाक्तों की उपास्य देवी शक्ति भी महिषमर्दिनी, महिषासुर बध के लिए अवतरित हुई थी।

महादेव और पार्वती वाणासुर के संरक्षक और कुलदेव थे। केदारनाथ, रुद्रनाथ, मदमहेश्वर, तुंगनाथ, गुप्तकाशी, ऊखीमठ और रुद्रप्रयाग में उनके आश्रम थे। कई विद्वानों का मत है कि शिव का 'केदार' नाम केदार क्षेत्र के असुर निवासियों द्वारा ही प्रचलित हुआ है। जो कुछ भी हो केदार नाम पर, हरिद्वार से ऊपर सारे पर्वतीय प्रदेशों का केदारखंड नाम होना, मंदाकिनी-उपत्यका की इसी शिव-संस्कृति के व्यापक प्रभाव का स्पष्ट परिचायक है। इन्हीं आश्रमों में यहाँ के असुर निवासियों के साथ वाणासुर ने शिव और शक्ति की उपासना कर उनसे सर्वशक्ति-सम्पन्न होने का वरदान प्राप्त किया था। उसके साथ उसकी पुत्री उषा भी पार्वती से विद्याध्ययन करती थी। वाणासुर और रावण शिव के शिष्य, लिंग के उपासक और शैव-सम्प्रदाय के कट्टर भक्त होने के कारण आपस में घनिष्ट मित्र एवं गुरु-भाई थे। दोनों सहपाठियों ने आचार्य शंकर के चरणों में बैठ कर उनसे साथ-साथ शस्त्र-शास्त्रों का अध्ययन किया था।

बदरीनाथ के निकट, गन्धमादन-पर्वत-प्रदेशान्तर्गत सरस्वती के तट पर अलकापुरी में लंकापति रावण का भाई कुबेर, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष और राक्षसों सहित राज्य करता था। रुद्र के साथ कुबेर की मैत्री थी (**महाभारत**, शां० प०

४७।२८।१)। वह रावण से पहले लंका का अधिपति था परन्तु रावण के बार-बार आक्रमणों से तंग आकर उसने अपने पिता की सलाह लेकर रावण के लिए लंका का राज्य त्याग दिया था और स्वयं कैलास में अलकनन्दा के तट पर अलकापुरी में अपनी राजधानी बना कर रहने लगा था। हिमालय के भौतिक विप्लवों, विशेषकर १८०३ के ऐतिहासिक भू-कम्प द्वारा गढ़वाल के अनेक प्राचीन स्मारक और प्राचीन नगरों के भग्नावशेष भी यत्र-तत्र भूमि-गर्भ में विलीन हो गये, परन्तु गढ़वाल की जनपदीय लोक-गाथाओं के साथ स्मृतिस्वरूप उनकी नामावली तथा अनेक ऐतिहासिक वृत्त अभी तक सुरक्षित हैं।

रावण का पिता आर्य विश्रवा और माता असुरराज सुमाली की पुत्री कैकेसी थी। यह भी उल्लेखनीय बात है कि रावण का भाई कुबेर विश्रवा मुनि और आर्य-ऋषि भारद्वाज की पुत्री से उत्पन्न था। विशुद्ध आर्य-रक्त से उत्पन्न होने के कारण कुबेर आर्यों द्वारा उनके चार दिक्पालों में, धनेश कुबेर के नाम से प्रतिष्ठित किये गये। कुबेर का पुष्पक-विमान प्रसिद्ध था। ऋषि भारद्वाज, जिनका आश्रम हरिद्वार में था (**महाभारत**, आदि० १२९।६), अनेक दिव्य शस्त्र-शास्त्रों के आचार्य थे। उनके द्वारा रचित प्राचीन ग्रन्थ **'यंत्र सर्वस्व'** जिसमें अनेक प्रकार के विमानों के निर्माण और उनके संचालन से सम्बन्धित अनेक वैज्ञानिक रहस्यों का वर्णन है, इन्हीं भरद्वाज ऋषि की रचना है। मालूम होता है कि अपने दौहित्र कुबेर को यह विलक्षण पुष्पक-विमान इसी **'यंत्र-सर्वस्व'** के रचयिता आचार्य भरद्वाज द्वारा ही दिया गया था।

इसी कैलास-क्षेत्र के अन्तर्गत दशोली (दशमौलि) वैरासकुंड में रावण ने अपने दसों मौलियों को काट कर उन्हें शिव जी को समर्पित किया था और उनसे तीन वर प्राप्त किये थे। इसी क्षेत्र में रावण ने वेदों का पांडित्यपूर्ण अध्ययन किया और उन पर अपना प्रसिद्ध **'कृष्ण-यजुर्वेद-भाष्य'** लिखा। यहाँ से वे कभी-कभी नागलोक (नागपुर) जाकर अपने परम मित्र बाणासुर के उत्सवों में भी सम्मिलित हो जाता था। पुराणों में रावण का कई बार नागलोक में बाणासुर के पास जाने का उल्लेख है। **'रामायण'** में भी राम-लक्ष्मण के विरुद्ध रावण और मेघनाद का हिमवन्त में बार-बार शिव-पूजन के बहाने शस्त्र-शास्त्रों के आचार्य शंकर से युद्ध-कला से सम्बधित आवश्यक आदेश-निर्देश प्राप्त करने के लिए पधारने का उल्लेख है। पुराणों में तुंगनाथ-पर्वत पर रावण-शिला स्थान के निकट रावण का शिव की तपस्या और उनसे वरदान प्राप्त करने का वर्णन है (**केदारखंड** ८१।१६,१७)।

सुदूर द्वारिका-धाम से श्रीकृष्ण और अनिरुद्ध का, बात-की-बात में हिमालय के उत्तर में पहुँचने से पाठकों को कुछ आश्चर्य होगा। **'महाभारत'** के अनुसार

श्रीकृष्ण जी का गढ़वाल में कई बरसों तक निवास-स्थान रहा है। वे कई बार रुक्मिणी सहित गढ़वाल में पधारे हैं। **महाभारत**, (सौप्तिक पर्व १२।३०,३१) में लिखा है कि हिमालय के इसी क्षेत्र में रहकर कृष्ण ने रुक्मिणी के गर्भ से प्रद्युम्न को जन्म दिया। भगवान् कृष्ण ने सायंगृह मुनि होकर १० हजार वर्ष तक निवास किया था (महा० वन० १२।११)। उन्हें यह क्षेत्र इतना प्रिय था, कि यदुवंश के नष्ट होने पर उन्होंने अपने प्रिय सखा उद्धव को (**विष्णुपुराण**, ५।३४।३७) बदरीकाश्रम में जाने का उपदेश दिया था। गढ़वाल को भगवान् कृष्ण के परममित्र पाँचों पाण्डवों की जन्मभूमि होने का ही गौरव प्राप्त नहीं है, वरन् उन्होंने अपने वनवास का अधिक समय इसी क्षेत्र में विचरण कर व्यतीत किया था। उनके वनवासकाल में श्रीकृष्ण का बार-बार उनके पास पधारना भी असम्भव नहीं है। गढ़वाल के लोकगीतों में, प्रचलित लोक-गाथाओं के अनुसार यहाँ के नागराजाओं के साथ श्रीकृष्ण की घनिष्ट आत्मीयता के अनेक उदाहरण हैं, जिनसे उनके दीर्घकाल तक गढ़वाल-निवास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अतः उनके इस दीर्घकालीन गढ़वाल-वास के समय उषा-अनिरुद्ध का प्रणय-सम्बन्ध, तथा वाणासुर-श्रीकृष्ण के युद्ध की अधिक सम्भावना है।

जो कुछ भी हो पुराणों के कथनानुसार जब श्रीकृष्ण को वाणासुर द्वारा अनिरुद्ध के बन्दी बनाये जाने की सूचना मिली तो वे तुरन्त ससैन्य व्योमयान (गरुड़) द्वारा जोशीमठ जिसको विष्णुप्रयाग के निकट होने से प्राग्ज्योतिषपुर भी कहते थे, नागपुर पहुँचे। उस युग में भी आज की ही भाँति स्थलीय यानों द्वारा इस अगम्य पर्वत-प्रान्त में गमनागमन अत्यन्त असुविधाजनक था। केवल नागपुर—वाणासुर के राज्यान्तर्गत—गौचर अगस्तमुनि के निकट कुछ ऐसे विस्तृत समतल भू-भाग हैं, जहाँ आज भी हवाई-जहाज के अड्डों का निर्माण किया गया है।

कुछ विद्वान् पुराणों में वर्णित वाणासुर की राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर को आसाम में बतलाते हैं। '**हरिवंश**' के कथनानुसार श्रीकृष्ण, वाणासुर-युद्ध के पश्चात्, सत्यभामा सहित प्राग्ज्योतिषपुर से लौट कर गन्धमादन पर्वत क्षेत्रान्तर्गत, स्वर्गाधिपति इन्द्र के यहाँ स्वर्गलोक अमरावतीपुरी में गये थे जिससे प्राग्-ज्योतिषपुर की भौगोलिक स्थिति स्पष्टतः आसाम में नहीं, वरन् जैसा हम इससे पूर्व भी लिख चुके हैं, स्वर्ग राज्य के निकट—गन्धमादन पर्वत क्षेत्रान्तर्गत है।

महादेव-पार्वती का सहयोग एवं आशीर्वाद पाकर, उनकी संरक्षता में वाणासुर अनेक अद्भुत शस्त्र-शास्त्रों से संपन्न एक शक्तिशाली नरेश हो गया था। उसकी अनेक विशाल बाहें (आर्म्स) उसकी विशाल हवाई, स्थल और जल-सेना की सूचक थीं। अँग्रेजी में भी आर्म्स (भुजाएँ) अनेक प्रकार की

युद्ध-कुशल सेनाओं का पर्याय है। श्रीकृष्ण भी शस्त्र-शास्त्रों में परम प्रवीण और युद्ध-कलाओं के मर्मज्ञ थे। दोनों ओर से विकट संग्राम होने लगा। स्वयं बाणासुर के कुलदेव रुद्र, बाणासुर और उसकी राजधानी की रक्षा के लिए रणक्षेत्र में लड़ने लगे। रण में अनेक आश्चर्यजनक आग्नेय-अस्त्रों के अतिरिक्त शीत-पित्तज्वर, रोग-कीटाणुओं तथा सम्मोहनास्त्रों (विषैले गैसों) का भी प्रयोग किया गया था। अन्त में उषा-अनिरुद्ध के वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा बाणासुर के शैव और श्रीकृष्ण के वैष्णवों दोनों सम्प्रदायों में सन्धि हो गयी। सुर और असुरों का देव और दानवों का पीढ़ियों का मनोमालिन्य समाप्त होकर असुर-वंश पुनः अपने मूल वंश आर्य-समाज में सम्मिलित हो गया।

उत्तर-गिरि प्रदेश में मन्दाकिनी की यह उपत्यका केवल शैव-सम्प्रदाय के लिए ही नहीं, वरन् शाक्तों के लिए भी आध्यात्मिक दृष्टि से विशेष गौरवपूर्ण रही है। नागपुर—मैखंडा (महिषखंडा) के उत्तरी भाग में काली मठ स्थान पर महिषमर्दिनी देवी ने असुरराज महिषासुर एवं उसके वीर सेनापति रक्तबीज का वध किया था*। **'बाराहपुराण'** के अनुसार ब्रह्मा ने महिषासुर के विनाश के लिए भगवती की हिमालय में स्थापना की, जिससे वह अत्यन्त आनन्दित हुई। इसी कारण भगवती का नाम 'नन्दा' पड़ा। अन्य ग्रन्थों में लिखा है कि भगवती देवलोक नन्दन कानन और पवित्र हिमालय में रह कर परम आनंदित हुई, इस कारण उसका नाम 'नंदा' पड़ा (**शब्दार्थ-पारिजात** पृ० ४५५)। स्मरण रहे कि यहाँ का नंदा-पर्वत एवं नन्दा देवी के सर्वोच्च पर्वत-शिखर जहाँ के निकट-निवासियों द्वारा आज भी प्रत्येक बारह वर्ष व्यतीत होने पर बड़ी धूमधाम से विधिपूर्वक नन्दा देवी की पूजा होती है, पुराण प्रसिद्ध इसी ऐतिहासिक स्मृति के सूचक हैं (**केदारखंड** १०४।५)।

'केदारखंड' (अध्याय ८२ से ८८ तक) तथा **'देवी-भागवत'** में असुरों के साथ इसी क्षेत्र में देवी-देवताओं के भयंकर युद्धों का उल्लेख है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि इस क्षेत्र में असुरों का प्राचीन काल में प्राबल्य था। इसी क्षेत्र में महाकवि कालिदास कृत **'कुमार सम्भवम्'** के कथानुसार स्वामी कार्तिकेय द्वारा तारकासुर का भी वध किया गया था। हिरण्याक्ष, हरिण्यकशिपु बलि और बाणासुर की भाँति तारकासुर भी देवताओं का इतना घोर शत्रु था कि बार-बार पराजित देवताओं को कुमार कार्तिकेय की उत्पत्ति के निमित्त सती

*** प्रसिद्ध रूपकुण्ड के आस-पास जो हजारों मानव-अस्थि-पंजर पड़े हैं, वे इसी नन्दा-उत्सव के समय, यात्रा-पथ में—आकस्मिक अधिक हिमपात के कारण मृत यात्रियों के शव हैं।**

की मृत्यु के पश्चात् संसार से विरक्त भगवान् शिव को पुनः पार्वती से विवाह करने की प्रार्थना करनी पड़ी। इसीलिए गंगाजी को तारकासुर-हंत्री (केदार० ३८।२७) कहा गया है। मंदाकिनी के तट पर गौरीकुण्ड में स्वामी कार्तिकेय की उत्पत्ति के लिए पार्वती जी ने ऋतुस्नान किया था* (केदार० ४२।४८)। इस क्षेत्र में कार्तिकेय-शिखर पर स्वामी कार्तिकेय का प्राचीन मन्दिर उस प्राचीन स्मृति का स्मारक है (केदार० ४२।३१)। इसी क्षेत्र में श्रीकृष्ण और बाणासुर के युद्ध में, महादेव जी और कुमार कार्तिकेय दोनों श्रीकृष्ण के विरुद्ध लड़े थे।

इस प्रकार उत्तर गढ़वाल के परगना नागपुर, दशोली और बधाण क्षेत्र में वेद और पुराणों के अनुसार असुरोपासक शैव और शाक्तों का बाहुल्य रहा है। बधाण के निकट जिला अल्मोड़े के अन्तर्गत दानपुर यही दानव जाति की स्मृति की सूचक है। आज भी वहाँ की 'दानव' नाम की जाति प्राचीन दानवों का स्मरण दिलाती है। '**महाभारत**' में द्रौपदी सहित पाँचों पांडवों ने अपने वनवास के दस वर्ष अलकन्दा के तटवर्ती क्षेत्र में गन्धमादन, बदरीनाथ, नर-नारायण-आश्रम, मेरु और कैलास-पर्वत पर विचरण करते हुए व्यतीत किये थे। इस पावन क्षेत्र में जहाँ यक्ष और असुरों की अधिकता थी, वहाँ वह ब्राह्मस्थिति को प्राप्त वेद-वेदांग में पारंगत अनेक ब्राह्मण ऋषि-महर्षियों से भी सदैव परिपूर्ण रहता था। यही वसुधारा तीर्थ है, जहाँ जाने से अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है (**महाभारत**, वन पर्व ८२।७६)।

भीमसेन ने वनवास काल में अपने भाइयों एवं माता कुन्ती की सलाह से हिडिम्बा नामक एक असुर-महिला से यहाँ विवाह किया था। उसी से भीमसेन का घटोत्कच नामक एक असाधारण शक्तिशाली एवं परम पितृभक्त पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसने अपने प्रबल पराक्रम द्वारा महाभारत के युद्ध में कौरव सेना के अनेक महारथियों के दाँत खट्टे कर दिये थे। पाँडवों ने गन्धमादन पर्वत के अगम्य वन-प्रदेश में निर्विघ्नतापूर्वक विचरण करने के लिए इस पर्वत-प्रदेश की विषमताओं से अभ्यस्त अपने इस पितृभक्त पुत्र का आह्वान किया था।

इसी क्षेत्र में भीमसेन ने विचित्र कमल पुष्पों पर आशक्त द्रोपदी के आग्रह पर कमल आदि अगणित पंचरंगी सुवासित पुष्प-समूहों से आच्छादित और अनेक

*** स्वर्गारोहण के समय पाँचों पांडव इसी पावन क्षेत्र में स्वर्गवासी भी हुए। इसीलिये 'महाभारत' (वन पर्व १४१।२२,२४) में इस विशालापुरी (बदरीकाश्रम) को आर्य विप्रों का उत्पति स्थल बताया गया है।**

मनोहर सरोवरों से पूर्ण कुबेर के नन्दनकानन में जिसको आज 'भ्यूँधार घाटी' (भीमधार घाटी) एवं फूलों की घाटी कहते हैं, कमल-पुष्पों की खोज करते हुए जटासुर और मणिमान नामक दो बलशाली असुरों का वध किया था। इसी भ्यूँधार (भीमधार) शब्द में आज तक भीमसेन की स्मृति सुरक्षित है। इसी भ्यूँधार उपत्यका में विचरण करते हुए 'हनुमान चट्टी' के निकट भीमसेन को हनुमान जी के भी दर्शन हुए थे। इसी क्षेत्र से स्वर्गलोक में प्रवेश कर अर्जुन ने इन्द्र से पाश, दंड, अन्तर्धान और देवाधिदेव शंकर से पाशुपत तथा वरुण, कुबेर और यम से अनेक दिव्यास्त्र प्राप्त किये थे।

'महाभारत' के अनुसार महाराजा पांडु दिग्विजय करने के पश्चात् समस्त प्राप्त धन और सम्पत्ति भीष्म और सत्यवती को सौंप कर कुन्ती और माद्री को लेकर हिमालय (गढ़वाल) के दक्षिण पर्श्व में फैले हुए रम्य शालवन में मृगया के लिए चले गये। इस क्षेत्र में युगल पत्नियों के साथ कामोपभोग करते रहने के कारण उन्हें राजयक्ष्मा हो गयी। इसलिए ऋषियों ने उनके लिए ग्राम्य सुख एवं कामोपभोग निषिद्ध कर दिया। वे पुनः हस्तिनापुर नहीं लौटे और आरण्यक मुनियों का धर्मव्रत धारण कर हिमालय में विचरते हुए गन्धमादन पर्वतक्षेत्र में पहुँच कर वहीं रहने लगे, पर उन्हें वहाँ यह चिन्ता हुई कि अपत्य के बिना सद्गति नहीं होती। अतः उन्होंने कुन्ती को बहुत समझा-बुझाकर इससे अपने लिए तीन और माद्री के लिए, दो पुत्र पांडुकेश्वर में नियोग द्वारा उत्पन्न किये। यही पाँचों पांडव कहलाये; जो गन्धमादन पर्वतक्षेत्र में स्थित पांडुकेश्वर में ऋषि-मुनियों द्वारा सम्वर्द्धित हुए।

इसी बीच माद्री के प्रतिरोध के बावजूद एक दिन माद्री से संभोगरत पांडु की मृत्यु हो गयी। माद्री पति के साथ सती हो गयी। **'महाभारत'** वन पर्व,* के अनुसार पांडु के देहावसान पर आश्रमवासी तपस्वी पांडु और माद्री के अवशेष लेकर कुन्ती और पाँचों पाडवों के साथ हस्तिनापुर पहुँचे और उन्हें भीष्म, धृतराष्ट्र, बिदुर, सत्यवती, गांधारी और पौरजनपद लोगों भी सौंप आये।

सुरक्षित भाषावशेष

जल-अवतरण पर आर्यों के दक्षिणी अभियान के पश्चात् जो थोड़े-बहुत आर्य एवं असुरोपासक आर्य अपने अनुयायियों के साथ यहाँ रह गये, उनका कालान्तर में तिब्बती, हूणों, भोटियों,शकों और मंगोलों के आक्रमण-प्रत्याक्रमणों के कारण रूप-रङ्ग, आचार-विचार, बोली-भाषा में उत्तरोत्तर भिन्नता आती गयी। भाषा-साम्य और सांस्कृतिक विरासतों से दो जातियों की मौलिक एकता का अनुमान लगाया जाता है। यद्यपि उत्तर और पूर्वी देशों के शक्तिशाली आक्रमण-प्रत्याक्रमणों से यहाँ के अल्प संख्यकों द्वारा अपनी पैतृक विरासत की

पूर्णतः रक्षा असम्भव थी, तो भी प्राचीन ऋग्वैदिक भाषा-सम्बन्धी मौलिक एकता की पुष्टि के लिए ऋग्वेद के विद्वान् पं० हरीराम धस्माना के लेख का (कर्मभूमि, २० मार्च, ३९) निम्नलिखित छोटा-सा उद्धरण पर्याप्त होगा :

ऋग्वैदिक शब्द	गढ़वाली	हिन्दी
स्या	स्या	वह स्त्री
केन	केन	किसने
समेति	समेत	सहित
इत्था	यत्थ-इथई	इस ओर
अधः	उन्ध	नीचे
उर्द्ध	उब्ब	ऊपर
पर्चो	पर्चो	परिचय
गौरि	गौड़ि	गाय
मिथो	मिथई	मुझको
पृचान	पिचकाणो	निचोड़ना
विवाल्य	उमाल	उफान
वव्रि	वव्रि	निचली मंजिल
अचेति	अचेती	अज्ञान
सत्तु	सत्तु	सत्तु
माणा	माणो	१६ मुट्ठी अन्न
पाथो	पाथो	चार माणा
द्रोण	दोण	१६ पाथा
कुक्कुट	कुखड़ो	मुर्गी
खार्य	खार	२० द्रोण
मनसा	मनसा	इरादा
बिट	बिट	द्विज
शीर्ष्णी	सौणी	स्त्री
वस्यूरन	वस्युरनु	निवास करना
सपर्यति	सपोड़ना	सपसपाना
रीति	रीति	रिक्त
तृष्णा	तीस	प्यास
शुष्को	सूखो	सूखा
कः	को	कौन
सः	सो	वह

भित्ति	भीत	दीवार
भृत्य	भुर्त्या	नौकर
तृषाणा	तिषालो	प्यासा
स्यमान्या	समन्या, समनन	प्रणाम
त्रिश्नु	चुशणा	पुंल्लिग
ऐना	एना	ऐसे
एतान	एतई	इसको
कूल	कूल	गूल
बर्त	बर्त	रस्सी
कुक्कुर	कुक्कुर	कुत्ता
लवन	लौण	फस्ल काटना
मर्दन	माँडण	माँडना
सूर्प	सूप्पो	सूप
फाला	फालो	हल का अग्र भाग
बह्लिा	बह्लिो	बाँझ
बेहत	वेत	कितने बच्चे वाली
एदिके	इथिके	इतना ही
उदिके	उथिके	उतना ही
धार	धार	पर्वत, शिखर
रुज	रुजना	भोगना
कतरा	कतरा	कितने
कति	कति	कितने
गोष्ट	गोठ	गोशाला
तमि	तमि	तुम
भोर	भोल्	कल (आने वाला)
व्यय, वेला	व्यालि	गया कल
वुज	वूज	झाड़ी
आयन	आयने	आ गये
ब्यति	विश्रन्त	अनंत
कतमत	कतमत	हड़बड़ाना
चन	छन	हैं
लट	लाटो	मूढ़
पूषन	प्यूंसा	गाढ़ा दूध

पुराणो	पुराणो	पुराना
द्यौ	द्यौ	दिब
द्विपुरो	द्विपुरो	दो मँजिला
स्थूल	ढुलो	बड़ा
आँखु	आँखु	आँख
काणि	काणि	काना
वृथा	विरथा	व्यर्थ
पर्योति	पर्मामा	कलसे में
गाध	गाड़, गवेरा	छोटी नदी
मोत	मौत	मृत्यु
वात	वतौं	वायु
जीवसे	जीभसे	जिह्वा से
हिम	हिंव	बर्फ
ओसक	असेऊ	पसीना

नागवंश नागलोक और नागपुर गढ़वाल

ब्रह्मा के मानस-पुत्रों में सबसे जेष्ठ, दक्षिण गढ़वाल के आर्य-नरेश दक्ष प्रजापति की पुत्री और कश्यप ऋषि की पत्नी कद्रू से नागों की उत्पति हुई। ऋग्वेद में असुरोपासक आर्यों की जिस पर्वतीय शाखा को 'अहि' एवं असुर कहा गया है,उसको नग (पर्वत) निवासी होने के कारण कालान्तर में पुराणों में नाग भी कहा गया है। पर्वत पर आश्रित वृत्रासुर को नागवंश में सबसे प्रथम उत्पन्न होने का गौरव प्राप्त है (ऋ० १।३२।१,२,३,५)। असुर-राज शम्बर को भी स्पष्टतः अहि (नाग) और दानव कहा गया है (ऋ० २।१२।११)। नाग राजा कृष्ण अंशुमती नदी के तट पर रहता था। वह सूर्य के समान द्रुतगामी और दीप्तिमान शरीर धारण कर सकता था। इन्द्र ने दस सहस्त्र नागों को मारकर नाग राजा कृष्ण को पराजित किया था (ऋ० ८।८५।१३।१४,१५)। ऋग्वेद (३।३३।७) में भी वृत्रासुर को 'अहि' कहा गया है। यद्यपि ऋग्वेद में वृत्र और शम्बर को दनु का पुत्र (केदार० ८।२८) कहा गया है परन्तु एक ही पिता कश्यप से उत्पन्न होने से दनु की सन्तान को ऋग्वेद में उसके सौतेले भाइयों (अहियों) का सजातीय होने के कारण, 'अहि' भी कहा गया है। वृत्र की माता दनु का भी इन्द्र ने वंध किया था (ऋ० १।३२।९)। **'आर्यों का आदि देश'** में डॉ० सम्पूर्णानन्द लिखते हैं :

"मूल में अहि शब्द आया है। अहि का अर्थ सर्प भी हैं परन्तु यह भी

स्मरण रखना चाहिए कि वृत्रासुर की कथा में—वेद में वृत्रासुर को अहि कहा गया है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर अहियों का उल्लेख है" (ऋ० ३५।१३; ऋ० ७।३४।१७)।

ऋग्वैदिक इतिहास में श्री हरिराम धस्माना ने (पृष्ठ ६३ से १२७ तक) इन दस सहस्त्र अहिमन्यों का नागराज कृष्ण के नेतृत्व में सप्त बुघ्नों के देश में रुद्र, मरुत और इन्द्र के साथ कई सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक संघर्षों का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया है। ऋग्वेद (१०।१०६।३) में इन्द्र को अंतरिक्ष में अहियों का नेता कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि इन्द्र और अहियों का निवास-स्थान अंतरिक्ष (स्वर्ग) अर्थात् गढ़वाल के इसी पर्वत प्रदेश में था। गढ़वाल के लोक-गीतों में, आज तक 'कद्रू का ह्वैने नाग और विनता का गरुड़' की यह गीत-गाथा प्रचलित है। नागों के निवास-स्थान को नागपुर अथवा नागलोक कहते हैं। ऋग्वेद में इस क्षेत्र को अहिक्षेत्र, अहिर्बुघ्न, चाँदपुर (चन्द्रपुर) को चन्द्रबुघ्न और वधाण को केवल बुघ्न कहा गया है। पुराणों में नागपुर (नागलोक) को भ्रमवश पाताल लोक भी कहा गया है। नागपुर में रुद्रप्रयाग से ऊपर रुद्रनाथ (१२०००) और उर्गम पट्टी तक ऋग्वैदिक रुद्र के शासन काल में दस सहस्त्र उदंड नागों का निवास-स्थान था। उनकी उद्दंडता और हिंसक वृत्तियों से त्रस्त हो कर राजा रुद्र ने अनेक अस्त्र-शस्त्रों से युक्त अपनी महती-सेना द्वारा सहस्त्रों हिंसक नागों का वध किया था। अन्त में नागराज कृष्ण के नेतृत्व में अहियों ने रुद्र से संधि करके उनका आश्रय स्वीकार किया था। वाल्टन **'गढ़वाल गजेटियर्स'** (पृ० १८७ और पृष्ठ १११) में गढ़वाल में अनेक स्थानों पर इस रहस्यमयी नाग जाति के प्राचीन अवशेष पाये जाने का उल्लेख करते हैं। वे लिखते हैं कि यहाँ एक ऐसी जाति थी जो नागों को पूज्य मानती थी। यहाँ की लोक-गाथाओं में उनके अनेक प्रतीकों द्वारा इस जाति के प्रतिनिधियों का परिचय प्राप्त होता है। ह्वीलर भी **'भारत का इतिहास'** में गढ़वाल में नागों के अनेक प्राचीन अवशेषों का अस्तित्व स्वीकार करता है; और अलकनन्दा की उपत्यका को, परम्परानुसार नागों का आदि स्थान मानता है। उसके कथनानुसार नागपुर और उर्गम पट्टियाँ नागों की प्राचीन ऐतिहासिक बस्तियों की सूचक हैं।

उत्तर गढ़वाल के इस क्षेत्र में असुरों और नागों का बाहुल्य था। **'केदारखंड'** के गंगा-सहस्त्र नाम में भगीरथ ने गंगा को नागालय निवासिनी 'नागानां जननी चैव', 'नागप्रीतिविवर्द्धिनी', 'नागेश्वरसहाया', 'कैलाशनिलया' कहा है (**केदार०** ३८।३२।३३)। इससे प्रकट होता है कि टिहरी और गढ़वाल के उत्तर में गंगा नदी के उद्गम-स्थल एवं नागपुर-क्षेत्र तक नाग जाति का आदि

स्थान है। गंगावतरण के समय जब भगीरथ जह्नु ऋषि से मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् आगे-आगे भागीरथी का मार्ग-प्रशस्त कर रहे थे तो उस समय इसी क्षेत्र में नागों ने उनकी इस अनधिकार चेष्टा के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी थी। वे भगीरथ से बलपूर्वक गंगा नदी के प्रखर प्रवाह को अपने नाग-निलय नागपुर क्षेत्र की ओर ले जाने लगे। उस समय भी नाग जाति इतनी शक्तिशालिनी थी कि राजा भगीरथ, जिनकी धनुष की टंकार से अब तक शत्रुओं में भगदड़ पड़ जाती थी, स्वयं 'किं कर्त्तव्यं क्व गच्छामि को मे दुःख निवारयेत् ?' (**केदार०** ३८।५) कहते हुए नागों से भयभीत हो कर, उनकी खुशामद करने लगते हैं। जब उन्होंने नागों के नेता शेषनाग का, विष्णु-भगवान् कह कर पूजन किया तब नागों ने भगीरथ को मुक्त किया।

'**केदारखण्ड**' (अध्याय ८०) में लिखा है कि हिमालय में अवस्थित नागपुर में पुष्कर-पर्वत पर पुष्कर, पद्मक, वासुकि, तक्षक, कमलाश्व, शेख, शंख और पुलिस नामक नागों ने रुद्रदेव को प्रसन्न करके उनके आश्रम में अभय दान प्राप्त किया था। '**केदारखण्ड**' (८०।४,६, २१।४१।४८) में अहियों द्वारा शिवानुग्रह प्राप्त करने की ऋग्वैदिक कथा का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन है।

श्री हरिराम धस्माना '**ऋग्वैदिक इतिहास**' (पृष्ठ १०३) में लिखते हैं कि "रुद्र का देश ही नागपुर प्रान्त नाग-पर्वत करके प्रसिद्ध हो गया। उनकी पद-प्रतिष्ठा ज्यों-की-त्यों रह गयी। नागवंशियों का राज-चिन्ह नाग था ही। उन्होंने अपने राज-चिन्ह के आभूषणों से अपने रक्षक (रुद्र) को विभूषित करके, उसकी शोभा की वृद्धि कर दी। कवियों ने भी इस प्रान्त को 'अहिर्बुध्न' नाम से प्रख्यात कर दिया और (नागराज) कृष्ण भी मूल पुरुषों की श्रेणी में आ गया। केदार-प्रान्त में नागवंशियों की जनसंख्या अधिक हो गयी। × × × कृष्णसर्प ने अपनी राजधानी पुष्कर के निकट रखी, और वह भी पुष्कर नाग करके प्रसिद्ध हो गया। पौराणिक समय का पुष्कर तीर्थ और नागनाथ का मन्दिर उसके स्मारक हैं। वह नाग जाति का स्वामी माना गया। यही पुष्कर तीर्थ वर्तमान समय का पोखरी ग्राम है। कुछ विद्वानों की कल्पना है कि यही पुष्कर नाग अनंतनाग है। अहि-वंश में मानवता थी, लेकिन देवों में, सुरों से उनमें कुछ भिन्नता अवश्य थी, जिससे उनको अदेव और असुर कहते थे। सभ्यता में वे पिछड़े हुए थे। वे आयुध नहीं बना सकते थे, 'अनायुधासो असुरा अदेवा'। ऋग्वेद (८।९६।९) में इनके मूल-पुरुष को 'आदि एक पादजा' कहकर अहि नाम से इनका वर्णन किया गया है।

'**महाभारत**' (आदि पर्व ३६।३४) में शेषनाग का हिमालय-क्षेत्र में तपस्या करने के लिए आने का उल्लेख है। रुद्रप्रयाग में शेष आदि अनेक नाग-महात्माओं

की तपस्या का वर्णन है। **'केदारखण्ड'** (६३।५; वनपर्व ८४।३३) के अनुसार हरिद्वार—कनखल से नागराज कपिल के 'नागतीर्थ' में स्नान करने से सहस्रों कपिला-दान करने का पुण्य प्राप्त होता है। नागों के इस निवास-स्थान नागपुर में उनके परम आराध्यदेव, शिव के अनेक शिव-मन्दिर स्थापित हैं, जहाँ अनेक नागकुल निवास करते हैं। यहाँ सुवर्ण आदि धातुओं की खाने हैं और ताम्रमय पर्वत हैं (स्वर्णादिधातुनिलयास्तथा ताम्रमया नगाः)। यहीं नागों ने रुद्र से यह भी वरदान प्राप्त कर लिया था कि नाग उनके आभूषण बनें। वे समस्त मनुष्यों द्वारा पूजित एवं सम्मानित हों, और यह क्षेत्र नागपुर सदैव उन्हीं के नाम से विख्यात हो (**केदारखण्ड**, ८०।३४।३५)।

देवासुर-संग्राम के बाद भी इन असुरों और अहियों का नागों के नाम से आर्य-जाति के साथ पैतृक विद्वेष जारी रहा। जय-पराजय होने पर भी दोनों वंशों का पारस्परिक मन-मुटाव शान्त नहीं हुआ। समय-समय पर अनुकूल ईंधन मिलते ही उनका पैतृक विद्वेषानल भड़क उठता था। **'महाभारत'** के अन्त में जनमेजय के सर्प-यज्ञ तक **महाभारत** और पुराणों में दोनों जातियों के बीच अनेक संघर्षों का वर्णन मिलता है। **'महाभारत'** में तो अनेक स्थानों पर नागवीरों, नाग-महात्माओं और नाग-तपस्वियों के कारनामों से भरा है। नागराज तक्षक ने जब इन्द्रप्रस्थ-निर्माण का विरोध किया, तो पाण्डवों ने उसे पराजित कर दिया। खाण्डव-वन में (जिसका भौगोलिक अस्तित्व भी गढ़वाल के अन्तर्गत बताया जाता है★) पाण्डवों द्वारा अनेक नागों का निर्दयतापूर्वक वध किया गया। उसी पुरानी शत्रुता का बदला चुकाने के लिए तक्षक ने भी राजा परीक्षित को मार डाला। राजा परीक्षित की मृत्यु के उपरान्त उनके पुत्र जनमेजय ने सर्पयज्ञ द्वारा पृथ्वी से नागवंश का मूलोच्छेदन करने का संगठित प्रयत्न किया। इस यज्ञ में केवल नागराज तक्षक जीवित बच निकले।

गुप्तकाशी से दो मील दूर नागपुर (गढ़वाल) के 'भेत' नामक गांव में, वहाँ की प्राचीन जन-श्रुति के अनुसार जनमेजय का सर्प-यज्ञ हुआ था। **'केदारखण्ड'** (८०।२९) से भी स्पष्ट है कि हिमालय के इसी प्रदेश में पुष्कर, वासुकि और तक्षक आदि नागराजाओं का राज्य स्थापित था। हो सकता है कि जनमेजय

★ पौड़ी के नीचे ५ मील के लगभग खांडव नदी के तट पर खांडव ऋषि का स्थान आज भी 'खांडाक' नाम से प्रसिद्ध है। यह नदी बिल्व-केदार के निकट गंगा से मिलती है। इस नदी का तटवर्ती क्षेत्र ही प्राचीन काल में खांडव वन कहलाता था। अर्जुन ने इसी क्षेत्र में आकर बिल्वकेश्वर महादेव की आराधना कर पाशुपत अस्त्र प्राप्त किये थे (केदारखण्ड १८१।९७)।

द्वारा पराजित तक्षक आदि नागराजाओं को उस युद्ध में अपने अनेक सहायक नागों के मारे जाने के पश्चात् अपना राज्य-विस्तार नागपुर गढ़वाल तक ही सीमित करना पड़ा हो।

नाग-संस्कृति—नाग आर्यों के कथनानुसार प्राणियों के हिंसक ही नहीं थे, वरन् उनमें अनेक परम महात्मा और सम्मानीय भी थे।

असुरों के कट्टर शत्रु आर्य-पुरोहित वशिष्ठ ने, जो असुरों और अहियों को बार-बार अनार्य और रक्षस कहते नहीं अघाता और जो उनके विनाश के लिए इन्द्र से बार-बार प्रार्थना करता है कि "ये राक्षस मुझ अराक्षस को भी राक्षस कहते हैं, यदि मैं राक्षस हूँ तो मैं मर जाऊँ, अन्यथा ये जो मुझे वृथा राक्षस कहकर सम्बोधित करते हैं और अपने को शुद्ध दूध का धोया समझते हैं, इनके दस वीर पुत्र मर जाँय" (ऋ० ७।१०४।१५, १७)। उन्होंने भी अनेक नागों को महात्मा कहकर सम्मानित किया है। ऋग्वैदिक काल में भी अहिमानवों में अनेक नागों का स्थान, सर्व साधारण मनुष्यों से अधिक आदरणीय था। कई विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेद (मण्डल १० सूत्र १८९) के ऋषि सर्प राज्ञी नागवंशी थे। महाराजा ययाति के पिता और पुरूरवा के पौत्र राजा नहुष को, जिसने अपने तेज और तप से देवताओं को पराजित कर, स्वर्ग के सिंहासन पर बैठ कर एक हजार वर्ष तक इन्द्र-पद का उपभोग किया था, '**महाभारत**' में नागराज और नागेन्द्र कहा गया है। नागराज आर्य पृथा (कुन्ती) के पिता शूरसेन के नाना थे। दुर्योधन द्वारा गंगा में डुबाये जाने पर अपने दौहित्र के दौहित्र भीमसेन को इन्होंने नागलोक में अमृत पिला कर उसको एक हजार हाथियों के समान वलवान् बनाया था।

नाग-जाति एक शक्तिशाली जाति ही नहीं थी, वरन् वह अत्यन्त सभ्य और सुसंस्कृत भी थी। वेद और पुराणों में अनेक नाग-कन्याओं के साथ सभ्य आर्यों के विवाह-सम्बन्धों के दृष्टांत मिलते हैं। '**महाभारत**' के अनुसार इस नागपुर-प्रदेश के निवासी कौरव्य नागराज की कन्या उलूपी से अर्जुन ने गन्धर्व-विवाह किया था (आदि० २९३।१२।१३)।इस उर्गात्मजा उलूपी के द्वारा अर्जुन हरिद्वार से नागलोक (नागपुर) की ओर आकर्षित हुए थे। नागकन्या उलूपी से अर्जुन का इरावन नामक पुत्र था। उलूपी अत्यन्त स्वाभिमानिनी और प्रभावशालिनी महिला थी। उसने बिना युद्ध किये अर्जुन की शरण में जाने के लिए, बभ्रुवाहन को फटकारा और वीर-पुत्र की भाँति अपने पिता अर्जुन से युद्ध करने के लिये उत्साहित किया। रणांगण में बभ्रुवाहन द्वारा मारे गये मृतक अर्जुन को उलूपी ने ही द्रोणगिरि की प्रसिद्ध संजीवनी-बूटी से पुनर्जीवित किया (अश्व० ८०।५०, ५२)। बभ्रुवाहन और चित्रांगदा के साथ उलूपी ने भी हस्तिनापुर में प्रवेश कर

शरीरान्त किया (महा० प्र० १।२७)। कालिदास ने भी '**कुमारसम्भव**' में हिमालय के मैनाक नामक पुत्र से नाग कन्या के विवाह का उल्लेख किया है।

धर्म—वस्तुतः नागों ने पर्वत-प्रान्त में एक शक्तिशाली राज्य स्थापित करके समस्त उत्तर भारत में अपनी एक विशिष्ट सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक सत्ता सुदृढ़ कर ली थी। 'नाग' इस जाति का राष्ट्रीय चिन्ह था। राज-चिन्ह एवं राष्ट्रीय प्रतीकों के प्रति सम्बन्धित प्रजावर्ग को भी राजकीय सम्मान प्रदर्शित करना अनिवार्य होता है। नागराजाओं का आज देश में शासन-प्रभुत्व समाप्त हो गया है, परन्तु उनके प्रतीक के रूप में नागों का आज भी सर्वत्र सम्मान किया जाता हैं। नागों का वध वर्जित है। नागराजा प्रजा को चल और अचल सम्पति, गृह और भूमि के क्षेत्रपति, क्षेत्रपाल अधिपति थे। घर के भीतर तथा खेती में हल चलाते समय जब कहीं नागों के दर्शन हो जाते हैं तो उनका वध ही यहाँ वर्जित नहीं, वरन् उनकी पूजा भी की जाती है। अब तक समाज में सुरक्षित उनकी यह पूजा-प्रतिष्ठा, उन्हीं प्राचीन भूमिपति नागराजाओं के व्यापक राजनीतिक प्रभुत्व के प्रति परम्परागत सम्मान की सूचक है।

वेदों के असुर और अहि, 'नग' (पर्वत) निवासी होने के कारण कालान्तर में उत्तर वैदिक काल में नाग कहलाये। अपनी वंश-परम्परानुसार वे भी वैदिक रुद्र के जो पौराणिक काल में शिव और शक्ति के नाम से प्रसिद्ध हुए, कट्टर उपासक थे। नागराज हिमालय के आदि निवासियों के आराध्य देव होने के कारण पर्वत-पुत्री पार्वती, गंगानदी और नागराज शिव-शरीर के अभिन्न भाग हैं। शिव के शिर में गंगा और गले में लिपटे हुए नागराज शिव के स्थायी आभूषण हैं। मोहन-जो-दड़ो में भी शिव जी की जो मूर्ति प्राप्त हुई है, उसके गले में भी नागदेव विराजमान हैं और उनके सम्मुख भी दो नाग-मूर्तियाँ फण फैलाये हुई हैं। अजन्ता के भिति-चित्रों में देवताओं के साथ नाग और नागिनियों की मूर्तियाँ भी निर्मित हैं। जब आर्य-अनार्यों, देव और असुरों के निरन्तर संघर्षों के बाद रुद्र की संरक्षता में दोनों दलों में सन्धि स्थापित हो गयी, तब से वे आपस में यथा-साध्य शांतिपूर्वक रहने लगे थे, परन्तु पुनः नागों पर आर्यों द्वारा स्थापित सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रतिबन्धों के कारण, जब एक-दूसरे के विरुद्ध, तलवारें बार-बार म्यान से निकलने लगीं, तो कुछ विद्वानों के कथनानुसार वोधिसत्व आर्यावलोकितेश्वर द्वारा वैष्णव सम्प्रदाय और नागों के बीच श्रावण की नागपंचमी के दिन पुनः सन्धि हो गयी। तब से नागपंचमी आर्य-जाति का प्रसिद्ध त्योहार बन गया। उस दिन सर्वत्र नाग-पूजा होती है और घर-घर उत्सव मनाया जाता है।

इन सन्धियों के अनुसार भागवत धर्म एवं असुरोपासक नागों के अनुयायियों

ने एक-दूसरे के राजकीय चिह्नों के स्वीकार कर लिया था। कालान्तर में आर्यों के विष्णु और नागों के नागराजा कृष्ण एवं शेष अवतार—दोनों ईश्वरावतार बन कर दोनों सम्प्रदायों के आराध्यदेव बन गये। नागों के नागधारी शंकर भी वैष्णवों के शेषशायी विष्णु के समान दोनों सम्प्रदायों द्वारा सर्वत्र निःसंकोच पूजे जाने लगे। पहले शिव को ही नाग प्यारे थे। वे उन्हें सदैव सोते-जागते प्रेमपूर्वक गले का कंठहार बनाकर लटकाये फिरते थे; इस सन्धि के बाद विष्णु भी स्वयं नागराजा शेषावतार होकर तदाकार हो गये। उस दिन से उनका भी सोते-खाते, उठते-बैठते नागों की शेष-शैया से क्षण भर भी इधर-उधर हिलना-डोलना असम्भव हो गया। वे रात-दिन चौसट पहर लक्ष्मी के साथ शेष-शय्या पर पड़े-पड़े आनन्द पूर्वक खुर्राटे भरने लगे।

नागमन्दिर—तब से गढ़वाल के प्रत्येक परिवार में कुलदेव के स्थान पर नागराजा भी प्रतिष्ठित है। गढ़वाल और कुमाऊँ में नागराजा का आज भी प्रत्येक परिवार द्वारा पूजन अनिवार्य है। यह भी असम्भव नहीं कि ऋग्वैदिक अहिमानवों और आर्यों की सन्धि के पश्चात्, ऋग्वैदिक अहियों के अधिपति नागराजा कृष्ण वैष्णवों के आराध्य कृष्ण में परिणत हो गये हो, क्योंकि गढ़वाल में नागराजा के इस पूजन को सब विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण की पूजा मानते हैं। यहाँ के 'जागरी' और 'धामी' देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बन्धित लोक-गीतों और लोक-नृत्यों द्वारा नागराज का आह्वान करते हैं। प्रत्येक परिवार के विशेष व्यक्ति पर नागराजा अवतरित होते हैं। प्रत्येक गाँव में नागराजा के मन्दिर हैं, जिनमें लोग नागराजा अथवा नागदेव की मूर्ति को विष्णु तथा श्रीकृष्ण भगवान् मानकर पूजते हैं। एटकिंसन ने **'हिमालयन-डिस्ट्रिक्टस'** (२) (पृ० ७०२) में ६१ वैष्णव मन्दिरों के अतिरिक्त गढ़वाल में जिन ६५ स्वतंत्र नाग-मन्दिरों का उल्लेख किया है, उनमें गढ़वाल के ब्राह्मण, राजपूत और हरिजनों के प्रत्येक परिवार में स्थापित नागराजा के देव स्थानों तथा गाँवों के निकट, वृक्षों के झुरमुट में बने हुए छोटे-छोटे नागमन्दिरों की गणना नहीं है। मौटेनियर **'हिमालय यात्रा'** (पृ०१८७-१८९) में लिखता है कि लगभग-प्रत्येक पर्वत पर वृक्षों के बीच यहाँ नागराजा के मन्दिर है।

गढ़वाल की उर्गम और नागपुर की पट्टियों के नाम नागों के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। यहाँ अनेक नाग-मन्दिरों की व्यापकता नागों के ऐतिहासिक प्रभुत्व की परिचायक है। आजकल भी शेषनाग की पूजा पाँडुकेश्वर में, भीखल नाग की रथगाँव में, मंगलनाग की तल्वर में, वनपुर नाग की कीमर गाँव में, लोदिया नाग की नीतिघाटी में, पुष्कर नाग की नागनाथ में और नागदेव की पौड़ी में

पूजा होती है। दशोली में तक्षक नाग की और नागपुर में, जहाँ एक प्रसिद्ध ताल का नाम नाग-लोक के राजा वासुकिनाग के नाम से प्रसिद्ध है, वासुकी नाग की पूजा होती है ।

वधान में कैल और पिंडर नदो के संगम-स्थल के निकट, एक पत्थर पर एक नाग का आकार अंकित है। सर्प सारी शिला को लपेट कर बैठा है। प्राचीन लोक-कथानुसार इस क्षेत्र में, नदी के आर-पार 'साँगल' और 'बौना' नामक दो नाग-राजाओं का राज्य था। दोनों में श्रेष्ठ कौन है, इसके लिए एक बार इस सर्प–शिला से अपने राज्य में प्रथम पहुँचने की प्रतिद्वन्द्विता में साँगल नाग ने अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित की थी। तब से कार्तिक पूर्णमासी को निकटवर्ती ग्रामीणों द्वारा यहाँ घूम-धाम से नाग-पूजा की जाती है।

गढ़वाल में ही नहीं, कुमाऊँ में भी अनेक नाग-मन्दिर हैं। महर पट्टी के बस्तड़ी ग्राम में शेषनाग है। वेनीनाग और पुगराऊ पट्टी में आठ नाग मन्दिर हैं। वेनीनाग, कालीनाग, फेणीनाग, धौलनाग, करकोटकनाग, खरहरीनाग और अठगुलीनाग की आज भी वहाँ पूजा होती है। पाँडेगाँव छकाता में करकोटक नाग है। दानपुर में वासुकीनाग है । सालम में नागदेव, पदमगीर तथा अन्य क्षेत्रों में भी अनेक नाग-मन्दिर स्थापित हैं। गरुड़ और बैजनाथ संग्रहालय में एक मूर्ति के नीचे 'सूत्राधार श्री जयनागस्य पुत्रेण आनन्देन घटित' अंकित है। यह मूर्तिकार नागवंशी श्री जयनाग का पुत्र था। एटकिंसन (११। पृ० ३७५; ६३५) के कथनानुसार कुमाऊँ में अब नागपूजा का आम प्रचार नहीं है परन्तु यहाँ के कई मन्दिरों और स्थानों से प्रमाणित होता है कि किसी समय यहाँ उसका व्यापक प्रचार था।

टिहरी गढ़वाल में भी इसी प्रकार सर्वत्र नाग-पूजा प्रचलित है। कलिंग नाग सरवडियाड रंवाई में, स्यूड़िया नाग, रैंथल (टकनौर) में, महासर नाग थाती कठुड़ में और हूण नाग भदुरा में पूजा जाता हैं। रमोली पट्टी के सेमगाँव में गढ़वाल का सर्वाधिक प्रसिद्ध नाग-राजा का मन्दिर है, जहाँ प्रति वर्ष नवम्बर के महीने में नाग-राज की यात्रा के लिए गढ़वाल के प्रत्येक भाग से हजारों स्त्री-पुरुष यात्री जाते हैं।

टिहरी के उत्तरकाशी क्षेत्र में, प्रतापनगर में १६, १७ मील दूर लगभग ७००० फुट की ऊँचाई पर, रमोली पट्टी में सीम-मुखीम ५०० से अधिक मवासों का एक गाँव है। इस गाँव के आस-पास आसणी सीम, वासणी सीम, गुप्त सीम, प्रकट सीम, मुख्य सीम, काला सीम और तलबला सीम आदि सात सीम प्रसिद्ध हैं। जहाँ लोक-गाथाओं के अनुसार गुप्तरूप से नागराज श्रीकृष्ण (नारायण रौतेला) वास करते हैं। सीम का अर्थ दल-दल वाली भूमि हैं। यहाँ इस प्रकार

की भूमि अधिक है। सीम-मुखीम में गंगू रमोला द्वारा निर्मित नागराज कृष्ण का प्रसिद्ध मन्दिर है, जिसमें शिर पर पगड़ी पहने हुए वासुदेव की मूर्ति है। यहाँ नाग के रूप में कृष्ण की पूजा होती है, और गढ़वाल के प्रत्येक भाग से हजारों यात्री नवम्बर के महीने, चाँदी का नाग बना कर इस मन्दिर में चढ़ाने आते हैं। 'नारायण रौतेला' कितना बावरा और रसिक था, इस सम्बन्ध में अनेक लोक-गीतों में उसकी रसिकता की अभिव्यक्ति है। एक लोक-गीत में सीम-मुखीम के 'नारायण रौतेला' द्वारा अनेक हाव-भाव के साथ, अंग मोड़-मोडकर पगड़ी पहनने का मनोरम चित्र अंकित है :

नारायण रौतेलो लाँद पगड़ी,
अंग मोड़ी-मोड़ी, छैलू हेरी-हेरी लाँद पगड़ी।

गढ़वाल में नाग-वीरों और नाग-वीरांगनाओं की अनेक लोक-गाथाएँ गायी जाती हैं। एक प्रचलित लोक-कथानुसार टिहरी के सीमान्त क्षेत्र में रमोली के आस-पास वासुकी नाग का राज्य था। उसकी धर्मपत्नी 'विमला देवी' एक परम धर्म-परायण नाग-माता थी ("जती-सती जिया ब्बै नगीण जो भूखों देखिका भोजन नी खान्दी और नागों देखिकी आँचल नि लान्दी")। उससे वासुकी की दुधिया कौंल (कुँवर), ब्रह्मी कौंल, सूरज कौंल, धर्म कौंल, नीम कौंल, फूल कौंल, जत कौंल, सत कौंल आदि नौ नाग-पुत्र और नौ नाग-कन्याएँ इन्हीं नामों की उत्पन्न हुईं। एक बार पति की मृत्यु के बाद जब नाग-माता हरिद्वार से लेकर बदरीनाथ की यात्रा करने चली तो यात्रा-पथ में वह भगवान् श्रीकृष्ण के सम्पर्क में आयी, जो स्वयं भी रुक्मिणी सहित इस क्षेत्र की यात्रा कर रहे थे। नागमाता उनके व्यक्तित्व और उपदेशामृत से बहुत प्रभावित हुई। स्वयं कृष्ण के हृदय में भी नागमाता की धर्मपरायणता से उनके प्रति स्नेह और श्रद्धा उत्पन्न हो गयी।

लोक-गाथानुसार सीम-मुखीम में नागराजाओं का सामन्त गंगू रमोला अत्यन्त उद्दण्ड और कट्टर नास्तिक था। जब जनता गंगू की नास्तिकता एवं अत्याचारों से तंग आ गयी तो, अवयस्क नागकुमार नागमाता की इच्छानुसार भगवान् कृष्ण को बुला लाये। भगवान् कृष्ण ने पथ-भ्रष्ट गंगू को सतपथ पर लाने के लिए बहुत समझाया-बुझाया, परन्तु उसकी उद्दण्डता कम नहीं हुई। उसने कृष्ण को भी ऐसे क्षेत्र में निवास-स्थान दिया, जहाँ एक मनुष्यभक्षी राक्षसी रहती थी। कृष्ण ने राक्षसी को वहाँ से मार भगाया और वे वहाँ शांतिपूर्वक रहने लगे। उधर गंगू के अत्याचार उत्तरोत्तर बढ़ने लगे, तो उसकी धन-सम्पति सब नष्ट हो गयी और वह दाने-दाने को तरसते लगा। अंत में वह भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में आ गया और उनके उपदेशामृत से वह कृत-कृत्य होकर उनका परम भक्त बन गया। उसको उसकी नष्ट हुई सम्पत्ति पुनः प्राप्त हो गयी। उसने

सीम-मुखीम में भक्तिस्वरूप भगवान् कृष्ण का एक मन्दिर स्थापित किया। सीम-मुखीम के अद्वितीय प्रकृति-वैभव से चमत्कृत होकर, भगवान् श्रीकृष्ण भी स्थायी रूप से वहाँ रहने लगे।

गंगू रमोला के पुत्र का नाम चौहानी और पत्नी का नाम मैणा था। चौहानी के सिद्वा और विद्वा दो पुत्र थे। नागमाता के द्वारा भगवान् कृष्ण रमोली राज्य के नौ अवयस्क नागकुमारों के संरक्षक हुए और सिद्वा उनका मित्र तथा राज्य का प्रधान आमात्य हुआ। विद्वा को भी कुंजणी मालकोट का शासन प्रबन्धक नियुक्त किया गया। प्रचलित जनपदीय गीत-गाथाओं में ब्रह्मी कुँवर और सूरज कुँवर द्वारा भोंट-(तिब्बत) विजय की अलग-अलग कष्टमय, परन्तु सुखान्त प्रेम कहानियाँ हैं, जिसमें सूरज कुँवर की विजय-गाथा अधिक प्रसिद्ध है। गढ़वाल के लोक-गीतों में वीर एवं शृङ्गार रस पूर्ण ये प्रणय-गाथाएँ विभिन्न प्रकार से गायी जाती हैं। ब्रह्मी कौंल की गीत-गाथा में श्रीकृष्ण को ब्रह्मीनाग का बड़ा भाई, दूधिया कौंल भी कहा जाता है। जो कुछ भी हो गीत-गाथाओं से यह स्पष्ट है कि नागमाता, (जिसको सब जिया ब्वै नागीण) माता कहकर सम्मानित करते थे और उसके नौ पुत्रों के साथ श्रीकृष्ण की इतनी घनिष्ट आत्मीयता थी कि सब उन्हें ब्रह्मी का बड़ा भाई ही कहते थे। कृष्ण जैसे अवतारी पुरुष की संरक्षकता पाकर नागपुत्रों द्वारा जेष्ठ भ्राता के समान उनकी यह पद-प्रतिष्ठा स्वाभाविक थी।

पौराणिक कथानकों में यादवों के साथ नागों की आत्मीयता के कई दृष्टान्त मिलते हैं। श्रीकृष्ण की एक बहिन एकानसा को **'हरिवंश'** (२-४।१०१। ११-१८) में नागकन्या कहा गया है। श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम को नागराज शेष का अवतार कह कर स्मरण किया गया है। **'महाभारत'** के (मौसल पर्व ४।१३।११) में उनके देहावसान के समय अनेक नागों का, उनके दर्शनार्थ आने का उल्लेख है। स्वयं भगवान् कृष्ण द्वारा बदरीनाथ क्षेत्र में सायंग्रह मुनि के रूप में दस हजार वर्षों तक कठोर तपस्या करने का (**महाभारत**, वन० १२। ११) उल्लेख है। **'महाभारत'** (सौतिक पर्व १२।३०,३१) में लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने इस क्षेत्र में कठोर तपस्या करके रुक्मिणी देवी के गर्भ से प्रद्युम्न को जन्म दिया था। **'महाभारत'** (अनु० पर्व १४।४३,४५ और द्रोण पर्व ८०।२३,२४) में भी श्रीकृष्ण का इस क्षेत्र में आने का उल्लेख है। भगवान् कृष्ण को गन्धमादन का पर्वत-प्रदेश इतना अधिक प्रिय था कि उन्होंने यदुवंशियों के विनाश के पश्चात् अपने परम मित्र उद्धव को नर-नारायण आश्रम की लोकोत्तर अद्वितीयता बतलाते हुए उन्हें तुरन्त वहाँ चले जाने का आग्रह किया था। **'विष्णु पुराण'** (५।३७।३४), **'भागवत पुराण'** (२,४,१८) के अनुसार, खस जो आर्य धर्म से वहिष्कृत यहाँ की एक जाति थी, कृष्ण जी की कृपा से आर्य-धर्म में दीक्षित

हुई ।

अपने इस दीर्घ-कालीन निवास में भगवान् श्रीकृष्ण का इस क्षेत्र के प्रमुख नागराजाओं एवं नाग-महात्माओं से घनिष्ट स्नेह-सम्बन्धों द्वारा भाई-चारा स्थापित हो जाना स्वाभाविक है । '**गीता**' में स्वयं भगवान् 'अनंतश्चास्मि नागनां' सर्पाणामस्मि वासुकिः कह कर इस वासुकि नाग (जिसके नौ नागपुत्रों का यहाँ उल्लेख है) और अनन्त नाग के प्रति अपनी परम आत्मीयता की घोषणा भी करते हैं ।

गढ़वाल की गीत-गाथाओं, '**महाभारत**' और पुराणों में वर्णित जीवन-वृत्त के अतिरिक्त श्रीकृष्ण की कुछ स्वतंत्र प्रणय-कथाएँ भी प्रचलित हैं । "**छोड़ धौंपेली, धौंपेली को हाथ**" के लोक-प्रसिद्ध गीत में नारायण ठाकुर द्वारा सुन्दरी कुसुमा कोलिन पर अनेक छल-छद्मों सहित डोरे डालने की प्रणय-वार्ता है । एक अन्य गीत में साली चन्द्रावली के साथ (जो लोक-गाथानुसार रुक्मिणी की बहिन थी) उनकी प्रेम-कथा चलती है । एक बार बातों-ही-बातों में, रुक्मिणी द्वारा साली चन्द्रावली की अद्वितीय सुन्दरता का बखान सुनकर नटवर नागर कृष्ण उसका प्रेम प्राप्त करने के लिए आतुर हो उठते हैं । कभी भिक्षुक ब्राह्मण, हाथ देखकर भविष्य फल बतलाने वाले (फेकवाल) बन कर, तो कभी फटे-पुराने चिथड़े पहन कर, (गरीब-गत्ता चिरीं-लत्ता धारण कर) नौकर के रूप में छद्म-वेश से चन्द्रावली को हरण करना चाहते हैं, परन्तु जब वह उन्हें पहचान कर दुत्कार देती है तो वे निराश होकर (लुड़बुड़ी धौणी और तिरछी मोणी से) वापस लौट आते हैं और उसके बाद रांग के से बूंद अविरल अश्रुधारा (पथेणा नेतर) छोड़ती हुई विधवा रुक्मिणी का वेश बनाकर अनेक छल-छद्मों द्वारा वे साली से प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करने में सफल होते हैं ।

गढ़वाल में नागराजा की प्रत्येक घर और प्रत्येक परिवार में परम्परानुसार यह पूजा-प्रतिष्ठा भगवान् कृष्ण के जीवन-चरित्र के साथ इस प्रकार एकाकार हो गयी है कि गढ़वाल में नागराजा कहते ही भगवान् कृष्ण का जीवन-वृत्त सम्मुख उपस्थित हो जाता है । गढ़वाल के घर-घर में प्रचलित प्राचीन नाग-गाथाओं के साथ भगवान् कृष्ण की यह ऐतिहासिक अविच्छिन्नता अकारण नहीं हो सकती । इस प्रकार ब्रह्म कुँवर की गीत-गाथा में कृष्ण को जो बड़ा भाई कह कर सम्बोधित किया गया है, वह तत्कालीन नाग-प्रमुखों के साथ उनकी घनिष्ट आत्मीयता का स्पष्ट सूचक है ।

गढ़वाल के लोक-नृत्य में पांडव-नृत्यों का प्रमुख स्थान है । गढ़वाल के लोग अपने लोक-गीत-वाद्यों के साथ, अपने छोटे-बड़े उत्सवों में पांडव-नृत्य का आयोजन करते हैं । यहाँ के अशिक्षित औजी, पांडवों से सम्बन्धित महाभारत की समस्त

छोटी-बड़ी घटनाओं से पूर्ण परिचित हैं। वे पांडव-नृत्य में ढोल-दमामों के साथ अपनी मर्मस्पर्शी स्वरलहरी के साथ उनकी जीवन-गाथा गाते हैं तो कई श्रोताओं पर, पांडव, कुन्ती, द्रौपदी और उनसे सम्बन्धित अनेक वीर अवतरित होकर, नाचने लगते हैं। गढ़वाल के घर-घर में सदियों से प्रचलित पांडव-नृत्य की यह परम्परा, गढ़वाल के लोक-जीवन के साथ, पांडवों के आत्मीय सम्बन्ध की परिचायक है। पांडवों का जन्म से लेकर, मृत्यु तक इस प्रान्त से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। वे यहीं पैदा हुए; यहीं मरे और अपने जीवन के अज्ञातवास में भी उन्होंने अपना पर्याप्त समय इसी क्षेत्र में विचरण करते हुए व्यतीत किया था। टिहरी गढ़वाल के जौनसार क्षेत्र में उनके लाक्षाभवन (लाखामंडप) के अवशेष आज भी सुरक्षित हैं, जहाँ दुर्योधन ने पांडवों को कुन्ती सहित जला कर मार डालने की व्यवस्था की थी। यहाँ से बच कर निकल भागने के बाद भी वे पर्याप्त समय तक गुप्त रूप में इसी क्षेत्र में निवास करते रहे। इसी क्षेत्र की प्राचीन काल से प्रचलित बहुपतित्व की परम्परानुसार, पाँचों भाइयों ने निस्संकोच द्रौपदी से ब्याह किया था। आज भी यहाँ वह परम्परा पूर्ववत् प्रचलित है।

गढ़वाल में पाण्डवों के लोक-नृत्यों में पाण्डवों के साथ भी नागों की स्थानीय गीत-गाथाओं द्वारा सूरज कुँवर और नागमल आदि नाग-वीरों का आह्वान किया जाता है। प्राचीन काल से प्रचलित यह लोक-प्रसिद्ध गाथा सूरज कुँवर आदि इन नागराजाओं के साथ पांडवों की आत्मीयता की भी सूचक है। **'महाभारत'** (आदि प० १२३) के अनुसार गढ़वाल के इस क्षेत्र पांडुकेश्वर की केवल पाँचों पांडवों की जन्मभूमि होने का ही गौरव प्राप्त नहीं है, वरन् (महा० आश्रम पर्व ३७।३१,३२ के अनुसार) पांडु, माद्री, कुन्ती, धृतराष्ट्र, गांधारी ने भी इसी क्षेत्र में भागीरथी के तट पर तपस्या करते हुए प्राणत्याग किये थे। पाण्डवों ने अपना वनवास का अधिकांश समय इसी क्षेत्र मे भ्रमण कर व्यतीत किया और अन्त में स्वर्गारोहण के लिए भी इसी पावन क्षेत्र में आकर उन्होंने मुक्ति प्राप्त की। पाण्डवों के लाक्षागृह में जल मरने के लिए कौरवों ने जिस स्थान पर पाण्डवों को भेजा था, जौनसार-जौनपुर का वह क्षेत्र गढ़वाल में ही है। उसके बाद द्रौपदी स्वयम्बर के समय, पाण्डवों का समस्त वनवास काल टिहरी गढ़वाल के जौलसार-जौनसार में ही व्यतीय हुआ था। उस समय यह समस्त पर्वत क्षेत्र द्रुपद के उत्तर पांचाल राज की सीमान्तर्गत था। यहाँ की प्राचीन काल से प्रचलित बहुपतित्व प्रथानुसार, जो आज भी वहाँ उसी प्रकार सुरक्षित है, द्रोपदी का पाँचों पाण्डवों के साथ विवाह किया था। **'महाभारत'** में स्वयं युधिष्ठिर ने बहुपतित्व की इस प्रथा को इस क्षेत्र में प्रचलित होने का उल्लेख किया है। गढ़वाल में यत्र-तत्र आजकल पाण्डवों के जीवन-वृत्त से सम्बन्धित अनेक स्मारक

सुरक्षित हैं।

'महाभारत' (विराट पर्व २।१४) में इसी वासुकि नाग की बहिन के प्रति जिसके राज्य-शासन का यहाँ उल्लेख है, अर्जुन के आकर्षित होने का भी वर्णन है। यहाँ की एक प्रसिद्ध लोक-गाथानुसार नागों की एक बहिन 'बाली वासुदत्ता' का विवाह अर्जुन के साथ हुआ है।

'महाभारत' (आदि पर्व २१३।१३) के अनुसार हरिद्वार में अर्जुन का इस प्रदेश के नागराज कौरव्य की पुत्री द्वारा आकर्षित होकर नागलोक (नागपुर) जाने का जो उल्लेख है, उससे इस प्रसिद्ध लोक-कथानक की भी पुष्टि होती है। **'महाभारत'** (सभा पर्व २७।१६) के अनुसार अर्जुन ने उर्गा—(उर्गम नागपुर) नामक एक पर्वतीय नगर में राजा रोचमान को परास्त किया था। इस पर्वतीय नगर उर्गा से उर्गात्मजा अलूपी या उसके नागवंश का सम्बन्ध प्रकट होता है। जो पावन प्रदेश पाँचों पाण्डवों का जन्म और मृत्यु स्थल है, जिन पाँचों पाण्डवों ने अपने जीवन का अधिक भाग इस क्षेत्र के आदि-निवासियों के साथ दुःख-सुख में साथ रहकर व्यतीत किया हो, उनके साथ वहाँ उनका पारस्परिक स्नेह-सम्पर्क यदि वैवाहिक सम्बन्धों में भी परिणत हो गया हो तो आश्चर्य ही क्या है? पांडवों के साथ श्रीकृष्ण की घनिष्टता से यहाँ के इन नाग-नरेशों के साथ उनकी आत्मीयता भी स्वाभाविक थी।

इस प्रकार प्रचलित लोक-गीतों में वर्णित तथ्यों के आधार पर तथा पुराण-ग्रन्थों के अनुसार, नागराजाओं के साथ पांडवों का सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक सम्बन्ध स्पष्ट हैं। वनवास-काल में इन नौ नागराजाओं के क्षेत्र में पांडवों का भी निवास-स्थान था। लोक-गाथानुसार एक बार नागों के 'सिलंग' के वृक्ष (डाली) से पांडव-भवन पर 'वेद' (अशुभ प्रभाव) हो गया। पांडवों ने जाकर दूधिया नाग की इच्छा के विरुद्ध, सिलंग को काट डाला, जिसके परिणामस्वरूप दोनों में युद्धस्थिति उत्पन्न हो गयी। श्रीकृष्ण ने मध्यस्थ बनकर दोनों पक्षों में सन्धि स्थापित की। लोकगीत के अनुसार तिब्बत की राजकुमारी मोतीमाला ब्रह्मी के बड़े भाई दूधिया नाग (श्रीकृष्ण की) धर्मपत्नी जो प्रायः अपने ही मैके में रहती थी पाशों के सम्पूर्ण दाँव-पेंचों में प्रवीण एक अत्यन्त चतुर महिला थी। उसने कई राजकुमारों को पाशों में पराजित कर बन्दी बना रखा था। उसके पास अत्यन्त रहस्यमय हस्तीदन्त पाशे और चाँदी की चौपड़ें थीं। सन्धि-शर्तों के अनुसार दूधिया नाग ने पांडवों के लिए मोतीमाला से चाँदी की चौपड़ तथा हस्तीदन्त पाशों के सहित, पाशों के सम्पूर्ण गुप्त गुरों की शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त ब्रह्मी को, जो स्वयं भी पाशों का कुशल खिलाड़ी था, तिब्बत भेजा। जिन पाशों के खेल की अकुशलता के कारण पांडव राजपाट से च्युत होकर बाहर

बरसों से वनों में विचरण कर रहे हों उन पाशों का पांडवों के समक्ष महत्व स्पष्ट था। परन्तु तिब्बत पहुँचकर ब्रह्मी भी अन्य राजकुमारों की भाँति पराजित हो कर बन्दीगृह में डाल दिया गया।

नौ भाई नागराजाओं में दो भाइयों (ब्रह्मी कुँवर और विशेषकर सूरज कुँवर) द्वारा तिब्बत के भोटन्त (हूणोदय)—विजय की गीत-गाथाएँ गढ़वाल में बहुत प्रसिद्ध हैं। लोक-कथानुसार तिब्बत के राजा की मोतीमाला, रतनमाला और ज्योतिर्माला नाम की तीनों राजकुमारियाँ पाशा खेलने तथा रूप और गुणों में अद्वितीय थीं। सूरजकुँवर की प्रसिद्ध गाथानुसार ब्रह्मकुँवर तिब्बत-विजय नहीं कर सके, और वहीं कहीं भोट की इन चतुर राजकुमारियों द्वारा बन्दी बना कर रखे गये (तेरो दिदा ब्रह्मी गये, घर बौड़ो नी होय, तेरो दिदा ब्रह्मी रैंगे वरमी ढुंगी पर)। परन्तु सूरजकुँवर तिब्बत-विजय कर, राजकुमारी ज्योतिर्माला को विवाह कर ले आये। यह अत्यन्त कष्टमय किन्तु सुखान्त विजय-गाथा गढ़वाल के पांडव-नृत्यों एवं 'थड़्या-गीतों' में विविध रूपों में आज भी गयी जाती है।

ब्रह्मकुंवर की एक लोक-गाथानुसार जब एक बार द्वारिका में भगवान् कृष्ण अपनी मित्र-मण्डली के साथ पाशा खेल रहे थे तो उन्हें नारद जी से सूचना मिली कि हिमालय कांठे 'जौंलाताल में मोतीमाला नाम की राजकुमारी पाशा खेलने में अत्यन्त' प्रवीण है, उसने पाशों के खेल में कई राजकुमारों को पराजित कर बन्दी बना दिया है। उसके पास अपराजेय हस्तीदन्त पाशे और चाँदी की चौपड़ें हैं। वह रूप और गुणों में भी अद्वितीय है, तो श्रीकृष्ण उससे विवाह करने को आतुर हो उठे। परन्तु उस अलंघ्य पर्वत-प्रदेश में कौन जाय ? सहसा उन्हें हिमालय की भौगोलिक कठिनाइयों से अभ्यस्त अपने नाग-बन्धु ब्रह्मकुँवर का ध्यान आ गया। ब्रह्मकुँवर स्वयं पाशों में प्रवीण थे। अत: वे हस्तीदन्त पाशे और चाँदी की चौपड़ के साथ मोतीमाला को प्राप्त करने के लिए, पूरी तैयारी के साथ तिब्बत भेजे गये। ब्रह्मकुँवर ने तिब्बत पहुँचकर मोतीमाला की दासी, सौंली शारदा से पाशों के सम्बन्ध में मोतीमाला के गुप्त दाँव-पेंच मालूम कर मोतीमाला को पराजित कर दिया। उसने पराजित भाभी मोतीमाला को अपने साथ द्वारिका चलने को कहा तो वह बोली कि मेरी छोटी बहिन रतनमाला जो रतनागिरि में है, वह अत्यन्त सुन्दरी है और तेरे ही योग्य है। जब तू उसको ब्याह कर लायेगा, तब मैं तेरे साथ द्वारिका चलूँगी। भाभी के उलाहने से उत्तेजित होकर ब्रह्मीकौंल रतनागिरि पहुँचता है :

ब्रह्मीकौंल पौंछे जैकी, रतनागिरि बीच
रतनागिरि रैंद नागू माँ को भूपू नाग

रींगदी अटाली जैंकी ऊड़दी डंडचाली
वाली रतनमाला होली भूपू की पियारी

भूपू नाग कहीं बाहर गया था। ब्रह्मीकौंल जाकर रतनमाला के पलंग पर बैठ गया, रतनमाला बोली :

केकू आई केकू बाला! वैरी का बदाण ?
वैरी का बदाण आई काल का डिसाणा।
ना कर ना कर बाला! ज्वानी को बिणास
मेरो नाग आलो बाला! त्वीलैं डसी जालो
बावरों बरमी वीं का पलंग बैठिगे
बाजि गये पलंग को धावड़िया घाँड
घाँड का पौछिने सुर जैकी नाग लोक
बवरैकी बीजे भूपू भभड़ैकी उठे।
को बैरी ऐ होलो मेरा रतनागिरि बीच ?
को निहुन्या पौंछि उख सात बाड़ी नांघी ?

भूपू नाग रतनागिरि पहुँच कर जब ब्रह्मी को अपने घर में धृष्टतापूर्वक घुसा हुआ देखता है तो वह आपे से बाहर हो जाता है। कहता है (कै राँड को छई छोरा! कुल को विणास ?) अरे। अपने कुल का विनाशक, तू किस राँड का छोकरा है ? दोनों में तुरन्त युद्ध आरम्भ हो जाता है। भूपू ने ब्रह्मी को नागपाश द्वारा बन्दी बनाकर बन्दीगृह में डाल दिया।

सूरजकुँवर की गीत-गाथा में भिमली में ब्रह्मी के अनुज सूरजू को स्वप्न में भोट की राजकुमारी ज्योतिर्माला उलाहना देती हुई दीखती है :

शेरणी को ह्वेल्यो, ऐल्यो ये बाँका भोटन्त
स्यालणी को ह्वेल्यो, रैल्यो भीमली बाजार
जो ह्वैल्यो कुँवर! साँचो सिहणी सपूत
तू ऐल्यो सूरजू! मेरा ताता लुहागढ़

रूप की राशि ज्योतिर्माला के इस उलाहने के साथ उसके अद्वितीय सौन्दर्य ने सूरजकुँवर का चित्त चंचल कर दिया। कवि के शब्दों में :

हीया च सूरीज जैंको पीठी चन्दरमा।
कमरी दिखेन्द जैंकी कुमाली सी ठाण।।
विणोंटी दिखेन्द वींकी डाँड-सी चुड़ीण।
सिन्दोली दिखेन्द वींकी धौली जैसी फाट।।
फिलोरी दिखेन्द जैंकी धोबी-सी मुँगरी।
नाकुणी दिखेन्द जैंकी खांडा जसि धार।।

ओठणी दिखेन्द जैंकी दालिमा-सि फूल।
दांतुणी दिखेली वींकी जाई जसी कली।।
बैठायूं को रंग तैंको कठायूं टूटद।
सोवन सिर्वाणी जैंकों रूपा की पैंद्वाणी।।
सुतरी पलंग जैंकों नेलू झमकान्द।
कवासुलि सेज जैंकों धावड़िया घांड।।

सुन्दरी ज्योतिर्माला के उलाहने से उत्तेजित होकर सूरजकुमार किसी भी प्रकार भोटन्त-विजय कर ज्योतिर्माला को प्राप्त करने के लिए अपनी माता (जिया व्वे नागींण) के कई प्रकार समझाने-बुझाने के बावजूद तिब्बत-विजय को चल पड़ा। वहाँ पहुँच कर पाशों में ज्योतिर्माला को पराजित कर, वह विजय-गर्व से गर्वित धूमधाम पूर्वक ज्योतिर्माला के साथ अपनी भिमली को लौट आया।

सूरजकुँवर की विजय-गाथा ब्रह्मकुँवर की विजय-गाथा से अधिक प्रसिद्ध और लोक-प्रिय है। वह विभिन्न लोकगीतों में भिन्न-भिन्न प्रकार से गायी जाती है। उसकी तिब्बत-विजय सर्वसाधारण के समक्ष अधिक गौरवपूर्ण, असाधारण एवं उल्लेखनीय रही है। ब्रह्मकुँवर की लोक-गाथा में उसके छोटे भाई सूरज कुँवर द्वारा भोटन्त-विजय का उल्लेख नहीं हैं, वरन् उसमें ब्रह्मी के बन्दी बनाये जाने की सूचना मिलने के बाद, भगवान् कृष्ण द्वारा भेजे गये सिद्वा को तिब्बत-विजय का श्रेय दिया गया है। सूरज की विजय-गाथा और उसकी लोकप्रियता एवं प्रसिद्धि को देखते हुए, इस भोटन्त-विजय में ब्रह्मी और सिद्वा से सूरज का अधिक पराक्रम निश्चित है। सूरज कुँवर के गीत में ब्रह्मी के बन्दी बनाये जाने की बात कही गयी है। अतः ब्रह्मी के पराजय के पश्चात् अपने आमात्य सिद्वा के साथ सूरज कुंवर द्वारा ब्रह्मी की मुक्ति और तिब्बत को विजय करने की अधिक सम्भावना हो सकती है। गीतों में इसका कुछ-कुछ आभास भी है। सिद्वा जहाँ भगवान् कृष्ण का परम मित्र था, वहाँ उसको सूरज की बहिन सूरजी का पति भी कहा गया है। बड़े भाई का बन्दी बनाये जाने का सम्वाद पाकर, सूरजू के समान आत्म-सम्मानी युवक की निष्क्रिय होकर चुपचाप घर पर बैठे रहने की सम्भावना भी युक्तिसंगत नहीं है। अतः यह निश्चित है कि ज्योंही ब्रह्मी के बन्दी बनाये जाने की खबर सूरजू कुँवर को मिली, उसने अपने बुद्धिमान् आमात्य सिद्वा के साथ श्रीकृष्ण के परामर्शानुसार रतनागिरि-नरेश 'भूपू' पर आक्रमण कर दिया और उसको परास्त करने के बाद भाई को बन्दी गृह से मुक्त कर, भाभी रतनमाला को लेकर वह भोटन्त पहुँचा और वहाँ ज्योतिर्माला को लेकर ब्रह्मी और सिद्वा के साथ धूम-धाम से तिब्बत-विजय कर 'भिमलीं' लौट आया।

ब्रह्मकुँवर और सूरजकुँवर दोनों की गीत-गाथाओं में ब्रह्मी और सूरजू द्वारा मोतीमाला को भाभी कहकर सम्बोधित किया गया है। इससे उन जागरियों के कथन की भी पुष्टि होती है कि अपने बड़े भाई कृष्ण के लिए मोतीमाला को प्राप्त करने के लिए, ब्रह्मकुँवर तिब्बत गया था। तथा जागरियों के उस कथन की पुष्टि होती है जो कहते हैं कि मोतीमाला ब्रह्मी के बड़े भाई दूधियानाग की पत्नी थी।

यह निश्चित है कि गंगू और सिद्धा-विद्धा का निवास स्थान रमोली क्षेत्र था, परन्तु दूधिया, ब्रह्मी और सूरजू की राजधानी भिमली कहाँ थी, तथा उनका राज्य-विस्तार कहाँ तक था—यह अविदित है। तो भी यह निर्विवाद है कि टिहरी के उत्तरी क्षेत्र से लेकर, गढ़वाल और अलमोड़ा के उत्तरी क्षेत्र में वैदिक अहियों का जो कालान्तर में नाग जाति के नाम से प्रसिद्ध हुए, प्राचीन काल में एक शक्तिशाली राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित था; गढ़वाल के अलमोड़ा में ही नहीं, वरन् कश्मीर से लेकर सुदूर नैपाल और तिब्बत तक एक समय नाग-जाति का राज्य-विस्तार हो चुका था। नैपाल में काठमांडू के निकट नागह्रद सरोवर में करकोटक नामक नागराजा का निवास-स्थान था, जिसके नाम पर आज भी वहाँ मेला लगता है। तिब्बत वाले तो अपने को नागवंशी और अपनी भाषा को नाग-भाषा कहकर गौरव अनुभव करते हैं। कश्मीर का प्रसिद्ध क्षेत्र अनन्तनाग उस नाग जाति के प्राचीन प्रभाव से प्रभावित है। कल्हण की **'राजतरंगिणी'** (२०४ से २७४ प्रथम स्तरंग) में भी नाग-राजाओं का वर्णन आता है। महापंडित राहुल ने अपनी **'जीवन-यात्रा'** (खंड (२), पृ० ६५६-५७) में पश्चिमी तिब्बत पर सं० १०२५ में नागराजा (देव भट्टारक) का शासन स्वीकार किया है। यद्यपि उन्होंने नागराजा को तिब्बती नरेश लिखा है परन्तु उसके नाम से भारतीय राष्ट्रीयता स्वयं बोल रही है। अतः इस नाम से उसके तिब्बत का आदि निवासी होने की सम्भावना नहीं है। वह सर्वथा भारतीय नाम है। राहुल जी ने तिब्बत में सतलज से ऊपर गंग प्रदेश में भी तेरहवीं सदी में जिङमल, कल्याणमल और प्रतापमल राजाओं द्वारा शासन करने का भी उल्लेख किया है। (**कुमाऊँ**, पृ० १७४) और ये स्पष्टतः हिन्दू नाम हैं।

पुराणों और **'महाभारत'** के अनुसार त्रिविष्टप सदैव आर्यों का क्रीड़ास्थल रहा है। बौद्ध काल तक भारत से अनेकों राजाओं, ऋषि-महर्षियों का वहाँ आना-जाना प्रमाणित है। भारत-तिब्बत सीमा से लगभग ७० मील की दूरी पर स्थित थोलिङ् मठ में नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान कई महीनों रहे थे।

इस बौद्ध विहार से प्रति वर्ष बदरीनाथ को निश्चित भेंट-चढ़ावा भेजे जाने

की प्राचीन परम्परा से भी पश्चिमी तिब्बत का बदरी-क्षेत्र के राज्याधीन होना स्वयं सिद्ध है। जो लोग बदरीनाथ को बौद्ध विहार और उसकी मूर्ति को बुद्ध-मूर्ति कह कर पश्चिमी तिब्बतियों द्वारा थोलिङ्ग के बौद्ध-बिहार से बदरीनाथ को भेंट सामग्री प्रस्तुत करने का दस्तूर प्रमाणित करते हैं, उनके इस निराधार कथन के लिए अब तक कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं कि बदरीनाथ कभी तिब्बती राज्यान्तर्गत बौद्धों का तीर्थ स्थान एवं बौद्ध-बिहार था। इसके प्रतिकूल वेद और पुराणों द्वारा बदरीकाश्रम का हिन्दू-धर्मानुसार प्राचीन अध्यात्मिक महत्व बुद्ध और शंकर से हजारों वर्ष पूर्व से आज तक प्रतिपादित है। यह स्थान ऋग्वेद-काल से, ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषि, नर और नारायण का तथा अनेक योगियों और योगीश्वरों का प्रसिद्ध तप-स्थान रहा है। बदरीनाथ की मूर्ति इन्हीं तपस्वी ऋषि-महर्षियों में ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुष सूक्त के रचयिता योगीश्वर नारायण की ध्यानावस्थित मूर्ति है। नर और नारायण ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषि ही नहीं थे, वरन् हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों में, नर और नारायण को साक्षात् विष्णु का अवतार कहा गया है। **केदार०** (५८।११६) में लिखा है कि यहाँ श्रीपति विष्णु भगवान् की अनेक मूर्तियाँ कई स्थानों पर कई मुद्राओं में विद्यमान है।

किसी लिपिबद्ध ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में भी यदि बदरीनाथ को प्राचीन बौद्ध-बिहार एवं बौद्धों का केन्द्र-स्थान मान भी लिया जाय तो भी आचार्य शंकर के बाद गत ८, ९ शताब्दियों से आज तक जब बदरीनाथ बौद्ध-बिहारों की सूची से पूर्णतः पृथक् होकर, कट्टर हिन्दू-मन्दिर घोषित हो चुका है, तो तिब्बत के थोलिंग-बौद्ध-बिहार से पश्चिमी तिब्बतियों द्वारा अभी तक बदरीनाथ को अविछिन्न रूप से, भेंट-सामग्री प्रस्तुत करने का स्पष्ट अर्थ यह है कि पश्चिमी तिब्बत अभी तक गढ़वाल-राज्य की राजनीतिक सीमा के अन्तर्गत है। इतिहास में विजयी विधर्मी-शासकों द्वारा, विजित विधर्मियों से 'जजिया' आदि विशेष राजकीय कर लेने के तो अनेक प्रमाण मिलते हैं परन्तु विजयी शासकों द्वारा स्वयं विजित-विधर्मियों को अविछिन्न रूप ऐसा कोई राजकीय कर देते रहने का कहीं उदाहरण नहीं मिलता है। थोलिंग बौद्ध-बिहार का बदरीनाथ के वैष्णव-मन्दिर के साथ कोई धार्मिक सम्बन्ध इतिहास में अविदित है। अतः थोलिंग बौद्ध-बिहार पर बदरीनाथ के वैष्णव धर्मावलम्बी गढ़वाल नरेशों का प्राचीन काल से राजनीतिक प्रभुत्व ही स्पष्ट है।

तिब्बत के मठों में संगृहीत अनेक प्राचीन दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थों की उपलब्धि से तिब्बत पर हजारों वर्षों से भारतीय संस्कृति एवं आचार-विचारों का गहन प्रभाव स्पष्ट है। राहुल जी का यह कहना है कि बदरी क्षेत्र पर तिब्बतियों का धार्मिक एवं राजनीतिक दासत्व रहा है, तर्कसंगत एवं वास्तविक

नहीं है। बदरीनाथ, नारायण आश्रम प्राचीन काल से ही ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनियों का अध्ययन-केन्द्र रहा है। उसके प्रमाण अनेक ग्रन्थों में सुरक्षित हैं।

ईसा से शताब्दियों पूर्व से, गढ़वाल का बदरी तीर्थ, प्रमुख विद्याकेन्द्र एवं आर्य-तपस्वियों का आश्रयस्थल रहा है।

इस प्रकार गढ़वाल द्वारा, भोट (तिब्बत, हूणदेश) विजय के सम्बन्ध में गढ़वाल में कई लोक-गीत प्रचलित हैं। गढ़वाल में ही नहीं, वरन् कुमाऊँ के प्रसिद्ध लोक-गीत 'मालूशाही' और 'राजुला' के अनुसार भी विराट नगर का नरेश मालूशाही जब हूणदेश में बन्दी बनाया जाता है तो उसकी माँ ने अपने भाई 'मिरतुआ गढ़वाली' को भेजकर उसने तिब्बत में हूणों को परास्त किया था।

नागराजाओं के शासन काल में ही नहीं, वरन् गढ़वाल-नरेश महीपति शाह के शासन काल (सन् १६६४) तक पश्चिमी तिब्बत गढ़वाल राज्यान्तर्गत था। महीपति शाह ने लोदी रिखोला के सेनापतित्व में तिब्बत के राजा दापा को मार कर, थोलिंग के बौद्ध बिहार पर अधिकार करके तिब्बत में सतलज नदी तक अपने राज्य का विस्तार कर दिया था। श्री माधोसिंह और उसका भाई, गढ़वाल-नरेश की ओर से इस क्षेत्र के शासक नियुक्त किये गये थे। इतना ही नहीं, सतलज की घाटी में तिब्बत से मिला हुआ भू-भाग जो उस युग में 'छोटा चीन' कहलाता था, और आज हिमालय प्रदेश में महासू जिले में सम्मिलित है, एक बार गढ़वाल-नरेश महीपति शाह की राज्य-सीमा के भीतर था। तिब्बत से गढ़वाली राजाओं को पाँच सेर सोना, एक चँवर, वार्षिक भेंट-स्वरूप प्राप्त होता था।

ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार ऋग्वेद-काल में आर्यों की जिस असुरोपासक शाखा को असुर एवं अहि कहा गया है, वह उत्तर वैदिक युग में कृष्ण-बाणासुर-युद्ध एवं जनमेजय के नाग-यज्ञ के कुछ शताब्दी बाद तक नाग-जाति नाम से उत्तर भारत के पर्वतीय-प्रदेशों में राजनीतिक उत्कर्ष की चरम सीमा पर रही है। इस प्रकार गढ़वाल में नागों का शासन काल खसों, बौद्धों एवं कत्यूरियों से पूर्व लगभग ३२०० ई० पूर्व से लेकर २५०० ई० पूर्व तक रहा है। कृष्ण-बाणासुर सन्धि के बाद असुर एवं नागों का आर्य जाति में विलोनीकरण आरम्भ हो गया था और अन्त में जनमेजय के सर्प-यज्ञ के दो-एक शताब्दी के बाद उनका पूर्णतः हिन्दू-संस्कृति में विलीनीकरण होकर, उनके आराध्य देवों का हिन्दुओं के आराध्यों, पांडव और कृष्ण के साथ गढ़वाल-जनपद में आदरणीय स्थान सुरक्षित हो गया था।

प्राचीन ग्रन्थों '**महाभारत**' और पुराणों में कुछ नये नाम एवं नये कथानक प्राप्त होने के कारण इतिहासकारों को उनकी प्राचीनता पर सन्देह होने लगता है। वे उस समस्त प्राचीन ग्रन्थों को निस्संकोच आधुनिक कवि की कृति करार

दे देते हैं। वे प्रायः इस बात को नजर-अन्दाज कर देते हैं कि भारत में प्राचीन ग्रन्थों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रायः कंठस्थ रखने की परम्परा प्रचलित रही है, जिसके कारण लोग उनमें प्राचीनता की मोहर लगाने के लिए, नये-नये नाम और नये-नये कथानकों को भी यथासमय जोड़ते रहे हैं। फलतः इन नये प्रक्षिप्तांशों के कारण ऐसे अनेक प्राचीन ग्रन्थों की प्राचीनता एवं मौलिकता विवादास्पद हो गयी है। लोक-गीतों की स्थिति जो आज भी जनता में मौखिक रूप से ही प्रचलित है, इस सम्बन्ध में और भी दयनीय है। लोक-गायकों-द्वारा समय-समय पर स्वेच्छानुसार नये-नये नाम और नये-नये कथानकों के सम्मिश्रण से लोक-गीतों की प्राचीनता में भी सन्देह होना स्वाभाविक है।

सूरजकुँवर के गीत में गोरखनाथ का भी उल्लेख है। गुरु गोरखनाथ का समय श्री परशुराम चतुर्वेदी **'उत्तर भारत की सन्त परम्परा'** (पृष्ठ ६०) में लगभग १००० ई० मानते हैं। यद्यपि गोरखनाथ का समय विवादास्पद है तो भी सूरजकुँवर की लोक-गाथा में गोरखनाथ का अर्थ भगवान् कृष्ण से परम मित्र सिद्धा से है जो युद्ध-कुशल होने के साथ-साथ तंत्र-मंत्रों तथा यौगिक चमत्कारों में प्रवीण था; क्योंकि लोक-कथानुसार तिब्बत में उसके द्वारा शत्रु-सेना पर तलवार से तंत्र-मंत्रों का अधिक सफल प्रयोग किये जाने का उल्लेख है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोक-साहित्य में वर्णित कथानकों की कोई सर्व सम्मत, नियमबद्ध, व्यवस्थित प्रणाली न होने से एकमात्र स्वच्छन्द मौखिक परम्पराओं के कारण प्रत्येक लोक-गायक, जागरी, धामी, औजी, हुड़क्या एवं ढाकी, बादी अपने-अपने समय पर उनमें इच्छानुसार तोड़-मरोड़ करने के लिए स्वतंत्र रहे हैं। परिणामस्वरूप लोक-साहित्य की ऐतिहासिक सत्यता अत्यन्त अस्पष्ट एवं विकृत होती गयी है। उपर्युक्त नागराजाओं से सम्बन्धित लोक-गाथाओं में भी यद्यपि कथानकों की यह विशृङ्खलता, असम्बद्धता, एवं प्रक्षिप्तता अक्षम्य रूप से विद्यमान है। तो भी गढ़वाल में आज तक नागों के सर्वव्यापी एवं प्रभावशाली अस्तित्व को देखकर उनकी ऐतिहासिक वास्तविकता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

कुछ लोग नागों का शासन कत्यूरी सम्राटों के साथ या उनसे पीछे बतलाते हैं, जो युक्तियुक्त नहीं। कत्यूर वंश लगभग दो तीन शताब्दी पूर्व से लेकर आठवीं शताब्दी तक गढ़वाल का अत्यन्त समृद्धिशाली राजवंश हो चुका है। नागों की तरह कैंतुरा भी गढ़वाल के विशेष वर्ग के व्यक्तियों पर अवतरित होकर नाचते हैं परन्तु नागों के प्रति बहुसंख्यक जनता का जो देव-भाव है, वह कैंतुरों के प्रति नहीं। अतः नाग 'कैंतुरों' से अधिक लोकपूज्य एवं प्राचीन हैं। वे आज भी पांडवों एवं भगवान् कृष्ण के समकक्ष आदरणीय स्थान पर प्रतिष्ठित हैं।

कत्यूरों का उदय पाँच-चार शताब्दी ईसवी पूर्व और उनका अवसान गढ़वाल में प्रमार-वंश का प्रारम्भ-काल है। कत्यूर राज्य से शताब्दियों पूर्व गढ़वाल में नागों का शासन-सूर्य अस्त हो चुका था। जनमेजय का सर्प-सत्र लगभग ३१०० ई० पूर्व नागों का अन्तिम उत्कर्ष-काल है। '**महाभारत**' में स्थान-स्थान पर जहाँ नागों का वर्णन है, वहाँ दो-एक स्थान पर खसों का भी उल्लेख है, परन्तु उसमें बौद्धों का वर्णन नहीं है। अतः नागों का ऐतिहासिक अस्तित्व बौद्धों से ही नहीं, खसों से भी अधिक प्राचीन है (**महाभारत**, द्रोण पर्व १२१।४२)। इस प्रदेश में जब खस जाति का अरुणोदय हो रहा था, तो नागों का सूर्य अस्त हो रहा था। उसके पश्चात् असुरोपासक नाग जाति अन्य जातियों की भाँति आर्य एवं खस जाति में विलीन हो गयी। उनकी असुरोपासना-पद्धति उनकी सभ्यता और संस्कृति सम्पूर्णतः हिन्दू संस्कृति में समा गयी।

स्व० रतूड़ी जी ने '**गढ़वाल का इतिहास**' (पृष्ट १६७-१६८) में असवाल और राणा जाति की पूर्व जाति संज्ञा नाग बतलायी है। उनके कथनानुसार (पृष्ट ३२३) गढ़वाल के ५२ गढ़ों में नागपुर गढ़ और बांगर गढ़ नागवंशी राजाओं के गढ़ थे। असवाल (असिवाले खड़गधारी) मध्ययुगीन गढ़वाल में इतनी शक्तिशाली जाति थी कि गढ़वाल के पँवारवंशीय राजाओं के शासन काल में भी 'आधा असवाल और आधा गढ़वाल' की कहावत प्रचलित थी। यदि आधे-गढ़वाल के शासक की राजधानी का नाम श्रीनगर था तो, आधे-गढ़वाल के शासक असवालों की राजधानी का नाम भी 'नगर' था। नगर बारहस्यूं में पट्टी असवालस्यूं में एक गाँव का नाम है, जहाँ आज भी असवालों का बाहुल्य है।

महापंडित राहुल ने '**हिमालय-परिचय**' (१), (पृष्ठ ५१) में नागपुर गढ़ के अतिरिक्त दशौली और पैनखण्डा को भी नागों का गढ़ बताया है। उनके कथनानुसार प्रागार्यकालीन नागों के बहुत से गढ़ भारत के अन्य भागों (राजगृह आदि) में भी मिलते हैं। हो सकता है कि हिमालय के इस भाग के कितने ही पुराने गढ़ इन्हीं नागों (अहियों) के रहे हों। हम राहुल जी के इस कथन से पूर्णतः सहमत हैं। ऋग्वेद में वर्णित असुर-राज शम्वर भी नागवंशी (अहिमानव) था। गढ़वाल के पर्वत शिखरों पर प्राचीन गढ़ों के अधिकांश खण्डहर शम्बरासुर के १०० ऋग्वैदिक गढ़ों के अवशेष हैं। राहुल जी भी गढ़वाल और कुमाऊँ में शम्वरासुर के साथ आर्यों के युद्धों का अन्यत्र उल्लेख कर चुके हैं।

सारांश यह है कि गढ़वाल, टिहरी और कुमाऊँ में ही नहीं, हिमालय-प्रदेश के प्रत्येक गाँव में एक बार इन असुर-अहियों एवं नागों का सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। आर्यों के सामूहिक आक्रमण-प्रत्याक्रमणों एवं घृणा और द्वेष के बावजूद अपने आदि देश हिमालय से उतर

कर नागों ने आर्यावर्त्त के अनेक भू-भागों पर भी अधिकार कर लिया था। गौतम बुद्ध के जीवन-काल में भी नागों का थोड़ा-बहुत अस्तित्व पाया जाता है। जैनों के एक तीर्थंकर तो नागवंशी ही थे। प्रयाग के किले के भीतर के स्तूप पर लिखा है कि सम्राट् समुद्रगुप्त ने गणपति नाग को पराजित किया था (वह जाति हिमालय के पार, सम्भव है इसी नागपुर गढ़वाल की थी)। सिकन्दर के यात्रा विवरण में तक्षशिला के राजा द्वारा नागों की पूजा का उल्लेख है। विक्रम सम्वत् १५० तथा २५० के बीच मथुरा से लेकर भरतपुर, ग्वालियर, उज्जैन आदि प्रान्तों में आठ नागवंशी राजाओं का जिन्हें गुप्तवंश ने पराजित किया था, राज्य-शासन था। शकों को विध्वंस करने में आर्य जाति के जिन राजाओं ने सक्रिय भाग लिया था, उनमें विदिशा के नागों के राजा रामचन्द्र नाग भी एक थे।

ह्वानचाँग आदि पर्यटकों के कथनानुसार पंजाब और गंगा की उपत्यका में पाँचवीं-सातवीं शताब्दी में भी नाग-संस्कृति का अस्तित्व पाया जाता है। अजन्ता के भित्ति-चित्रों में देवताओं के साथ नाग और नागनियों की मूर्तियाँ भी निर्मित हैं। इतना ही नहीं, महात्मा बुद्ध की मूर्ति के ऊपर फन फैलायी हुयी नागमूर्ति का तात्पर्य स्पष्टत: यह है कि बौद्धों के व्यापक विस्तार एवं सफल प्रचार और प्रसार का पूर्णत: श्रेय नागजाति को ही है।

प्राचीन काल में दो सम्प्रदायों एवं दो विरोधी राज्यों में जब धार्मिक एवं राजनीतिक संधियाँ होती थी; तो वे एक-दूसरे के धार्मिक एवं राष्ट्रीय चिह्नों को भी अपने धार्मिक एवं राष्ट्रीय चिन्हों के साथ सम्मिलित करना स्वीकार कर लेते थे। मौर्यवंश के पतन के पश्चात् पश्चिमोतर प्रदेशों से जब शक तथा हूणों ने टिड्डीदल की भाँति भारतवर्ष पर आक्रमण किया, और भारतीय बौद्ध, शैव एवं वैष्णव आदि सम्प्रदाय धार्मिक विवादों में पड़कर लड़ रहे थे, उस समय ईसा से ५७ वर्ष पूर्व वैष्णव और शैव ने एक-दूसरे के राष्ट्रीय चिन्हों को स्वीकार कर एक राष्ट्रीय ध्वज के नीचे संगठित होकर शक और हूणों को आत्मसात कर मालव-गणतंत्र की स्थापना की थी। बहुत सम्भव है कि तत्कालीन आर्यों ने बौद्धों को वेदों के विरुद्ध होते हुए भी इसी राजनीतिक एवं धार्मिक समन्वय के लिए उनके भगवान् को भी अपने दस अवतारों में सम्मिलित कर लिया हो। गणपति—द्रविड़ के मुख्य आराध्य है परन्तु गणपति और उनके भाई कार्तिकेय का जन्म केदारनाथ के निकट नागपुर क्षेत्र में हुआ था।

कुछ विद्वानों का मत है कि आर्यों में गणेश-पूजन की प्रथा का श्रीगणेश आर्यों और द्रविड़ों के युद्धों, धार्मिक एवं राजनीतिक संघर्षों का समन्वयात्मक परिणाम है। हाथी द्रविड़ जाति का राष्ट्रीय चिह्न था। द्रविड़-गण-राज्य के

नायक (गणनायक, गणपति, गणेश) के साथ सन्धि होने के पश्चात् आर्यों ने अपने प्रत्येक धार्मिक कार्यों में गणेश-पूजन अनिवार्य करके उनके राष्ट्रीय चिह्न को सम्मानपूर्वक अपने धर्म में सम्मिलित कर दिया था। यह सन्धि गणेश-चतुर्दशी को हुई थी, तब से गणेश-चतुर्दशी भी आर्यों का एक प्रसिद्ध त्योहार हो गया। उस दिन विशेष कर दक्षिण भारत में घर-घर आनंदोत्सव मनाये जाते हैं।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों तथा धार्मिक एवं राजनैतिक वाद-विवादों से पीड़ित तत्कालीन भारत के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक एकीकरण के निमित आर्य-नेताओं ने शैवों के शिव, नागों के शेष, बौद्धों के गौतम-को विष्णु के अवतारों में, तथा द्रविड़ों के गणेश-पूजन को अपने धार्मिक उत्सवों में सम्मिलित कर, देश के विभिन्न विरोधी तत्वों को आत्मसात कर दिया था।

दक्षिण भारत के द्रविड़ देश में आर्य और द्रविड़ों की सभ्यता, संस्कृति और साहित्य के इस समन्वय का श्रेय आर्य-ऋषि अगस्त्य और विश्वामित्र को था। इन दो ऋग्वैदिक ऋषियों के आश्रम उत्तर गढ़वाल में थे। इन दोनों आर्य-ऋषियों और उनके शिष्यों-प्रशिष्यों ने जलप्लावन के अतवरण पर गढ़वाल के उत्तर-गिरि से चलकर दक्षिण-गिरि और आर्यावर्त्त से आगे विन्ध्याचल को पार कर सुदूर दक्षिण देश में पहूँच कर द्रविड़ों के साथ आर्य-जाति का धार्मिक एवं राजनीतिक सामंजस्य स्थापित किया। तब से आज तक गढ़वाल के प्रमुख तीर्थों केदारनाथ और बदरीनाथ का पौरोहित्य-पद सुदूर दक्षिण की द्रविड़ जाति के लिए सुरक्षित है। पूना के निकट पुरन्दर का सर्वोच्च पर्वत-शिखर आज भी केदार के नाम से विख्यात है, (एटकिन्सन हि० द्वितीय खंड पृ० ७३०)।

उत्तर-गिरि-प्रदेश 'केदारखंड' की अनेक धार्मिक एवं सामाजिक आस्था में सुदूर दक्षिण देश में, उनके मठ-मन्दिरों में प्रचलित हैं। इस उत्तरी केदारक्षेत्र की देवचेली प्रथा, और दक्षिण में प्रचलित देवदासी प्रथा में पूर्ण साम्य हैं तेलगु और तामिल में इस 'उत्तराखंड' के माहात्म्य से ओतःप्रोत कई प्राचीन ग्रन्थ हैं। वैष्णव ग्रन्थ '**अलावार**' में 'कंडबेनु कड़िनगरे' के नाम में देवप्रयाग का विस्तार-पूर्वक आध्यात्मिक महत्व प्रतिपादित है। '**अलावार**' में बदरीकाश्रम के प्राचीन माहात्म्य का भी श्रद्धापूर्वक उल्लेख है। उत्तर और दक्षिण भारत के एकीकरण के लिए आर्य और द्रविड़ दो परस्पर प्रतिद्वन्द्वी जातियों के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक समन्वय के लिए उक्त आर्य ऋषियों का यह दूरदर्शितापूर्ण प्रयास स्तुत्य है। गढ़वाल में, इस देश के ही योग्य ब्राह्मण-पंडितों के होते हुए भी गढ़वाल के प्रमुख मन्दिरों, प्रति वर्ष लाखों रुपयों की आय के एकमात्र और

निश्चित स्रोतों—केदारनाथ और बदरीनाथ का स्वामित्व गढ़वाली द्विजों को न देकर सुदूर दक्षिण के नम्बूदरी और जंगम जाति के लिए ही सुरक्षित रखना अकारण नहीं है। गत सदियों से—हजारों बरसों से उत्तर-गिरि-प्रदेश हिमालय में स्थित गढ़वाल निवासियों की धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक सहिष्णुता, आज दक्षिण-भारतीयों के इस दावे को, डंके की चोट से व्यर्थ प्रमाणित कर रही है कि उत्तर भारत के लोग दक्षिण भारतीयों पर हावी हैं। गढ़वाल के इन सर्वोत्तम और सुदृढ़ आय के एकमात्र स्रोतों पर, सुदूर दक्षिण के नम्बूदरी और जंगम जाति के लोगों की नियुक्ति, दक्षिण के द्रविड़ों के साथ उत्तर गढ़वाल के आदि निवासियों के आदि कालीन सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक सम्बन्धों का स्नेह-सूचक एवं विभिन्न आर्य संस्कृतिकों के एकीकरण का राष्ट्रीय प्रतीक है।

आज से हजारों वर्ष पूर्व मध्य हिमालय के इस उत्तर गिरि-प्रदेश के अगस्तमुनि स्थान से महर्षि अगस्त्य ने विंध्याचल से आगे सुदूर दक्षिण में पहुँच कर जिस प्रकार उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच भेद-भाव की दीर्घ दीवारों को तोड़ कर समस्त आर्यावर्त्त में सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक एकता की स्थापना का स्तुत्य प्रयास किया था, उसी प्रकार दक्षिण देश से चल कर ईसवी सन् ८वीं शताब्दी में आचार्य शंकर ने आर्यावर्त्त में सर्वत्र घूम-घूम कर, उसके चारों कोनों पर चार-धामों की स्थापना कर भारत का पुनः राजनैतिक सीमा-निर्धारण किया है। भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों, जातियों, उपजातियों के एकीकरण का अगस्त्य ऋषि के बाद, भारत के इतिहास में यह द्वितीय शक्तिशाली प्रयास था। इस एकीकरण के निमित्त आचार्य शंकर ने चार धामों की पैदल यात्रा की, जनता की अनेक धार्मिक एवं राजनैतिक शंकाओं का समाधान किया, चारों धामों में भात-रोटी के झूठे भेद-भावों को दूर किया। वे सुदूर दक्षिण देश से, उस युग में जब यातायात की अनेक असुविधाएँ मार्गों में थीं स्थान-स्थान पर चोर-डाकुओं का भय एवं अनेक भौगोलिक विघ्न-बाधाएँ मुँह बाये खड़ी थी वे सुदूर दक्षिणदेश से पैदल चल कर, दो बार बदरी-केदार पहुँचे और वहीं केदारनाथ के समाधिस्थ हुए। भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए, राजनैतिक दृष्टि से उनका यह महत्वपूर्ण प्रयास उनकी आध्यात्मिक सेवाओं से अधिक चिरस्मरणीय रहेगा।

● ●

मध्य हिमालय के वर्तमान निवासी

प्राचीन काल में जब आर्यावर्त्त समुद्र-गर्भ में था, उस युग में हरिद्वार से ऊपर, शिवालिक पर्वतमाला से लेकर मानसरोवर तक का समस्त गिरि-प्रदेश सप्तसिन्धु कहलाता था। इसके उत्तरी भाग को उत्तरगिरि, मध्य को अन्तर्गिरि और दक्षिणी भाग को दक्षिणगिरि भी कहते थे। इस प्रदेश की सौतियाबाँट प्रथा के अनुसार उस मातृप्रधान युग में उत्तरगिरि का अधिकांश भाग दिति के दैत्यों, दनु के दानवों और नागों के हिस्से में था। जोशीमठ, ऊखीमठ उनकी राजधानियाँ थीं। अन्तर्गिरि के सर्वोत्तम प्रकृति-श्री से सम्पन्न गन्धमादन पर्वत क्षेत्र (स्वर्गराज्य) पर सबसे ज्येष्ठ होने के नाते (इस क्षेत्र की प्राचीन प्रथानुसार ज्येष्ठवंश (जेठुन्डा) के रूप में) इन्द्र ने अधिकार कर लिया। इन्द्र देवों में सबसे ज्येष्ठ होने के कारण देवराज कहलाते थे। ज्येष्ठ भाई को प्राचीन शास्त्रकारों ने पिता की मृत्यु के बाद भाई-बाँट में विशेष पैतृक अधिकार प्रदान किये हैं। ज्येष्ठ भाई को ज्येष्ठांश के रूप में अन्य भाइयों से अधिक भाग देने का आदेश है। गढ़वाल में धर्म-संस्थापक मनु का मूलस्थान होने के कारण प्राचीन काल से इस प्रथा का दृढ़तापूर्वक पालन होता रहा है। यहाँ पैतृक परम्परानुसार ज्येष्ठ भाई को उसके सिकमियों द्वारा पैतृक प्रतिष्ठा के मौलिक अधिकारों के साथ 'जेठुन्डा' के रूप में बँटवारे के समय सबसे बड़ा खेत देने की प्रथा रही हैं। एल० डी० जोशी को हिन्दू संसार में इस प्रथा का अस्तित्व प्राप्त नहीं हुआ है। अतः केवल गढ़वाल में ही सौतियाबाँट की भाँति उक्त प्राचीन प्रथा के प्रवर्तित रहने के कारण उन्होंने अपनी **'खस फैमिली ला'** पुस्तक में हिन्दू संसार से अतिरिक्त अलग खस जाति करार दिया है। बड़े भाई के इन विशेष अधिकारों एवं इन जेठुन्डा और सौतियाबाँट की प्राचीन प्रथाओं की अनिवार्यता के सम्बन्ध में सिकमियों में असंतोष उत्पन्न होने के समय पीढ़ियों के बाद भी कानूनी विवाद उठते रहे हैं।

देवराज इन्द्र के विरुद्ध भी इन विशेष शास्त्रीय सुविधाओं के कारण केवल असुरों में ही नहीं, वरन् इन्द्र और देवताओं के बीच अनेक बार युद्ध-स्थिति उत्पन्न होती रही है। फिर भी धर्मशास्त्रों द्वारा ज्येष्ठ भाई को उसे अन्य भाइयों से अधिक सामाजिक एवं आर्थिक सुविधाएँ प्रदान करने के साथ अपने छोटे भाइयों की आवश्यकता पड़ने पर उचित सहायता करने का प्रतिबन्ध था। देवासुर-संग्रामों में जब कभी देवों ने इन्द्र से सहायता की याचना की है; उसने

सदैव देवताओं का नेतृत्व कर, अपने कर्त्तव्य का पालन किया है। शेष दक्षिण-गिरि प्रदेश अदिति के अन्य आदित्यों के हिस्से में आया। कनखल, हरिद्वार के आस-पास उन्होंने अपनी राजधानियाँ बसायीं।

उस युग में आर्यावर्त्त के अस्तित्व में आने में पूर्व हरिद्वार से विन्ध्याचल पर्वत के नीचे जो समुद्र था उसमें अनेक आकस्मिक भौगर्भिक उपद्रव हो रहे थे, जिनका छह भयंकर प्रलयों के रूप में आर्य-ग्रन्थों में वर्णन मिलता है। सातवें मन्वन्तर में जब इस दक्षिण गिरि-प्रदेश पर सप्तम वैवस्वत मनु का राज्य था, पुनः तराई का समुद्र ऊपर उठा और उसके प्रलय-जल ने सप्तसिन्धु का लगभग ७-८ हजार फुट ऊँचा समस्त गिरि-प्रदेश जलमग्न कर दिया। तत्कालीन भूगर्भ-शास्त्रियों की अग्रिम घोषणाओं से सतर्क आर्य शरणार्थी मनु के नेतृत्व में अपनी पूर्व निर्धारित योजनानुसार, नावों में बैठ कर उत्तर गिरि की ओर भागे और वहाँ सरस्वती नदी के उन्नत तटवर्ती प्रदेश में शरण ली। दक्षिण सप्तसिन्धु देश से उत्तर गिरि-प्रदेश में आने (आवर्त्त) के कारण उसका जो सर्वोच्च गिरि-प्रदेश उस समुद्री बाढ़ से ऊपर रह गया था, उसका नाम ब्रह्मावर्त्त पड़ा।

दक्षिणगिरि से आये हुए आर्य शरणार्थियों के आकस्मिक आगमन से उत्तर-गिरि के आदि निवासी इन असुरोपासक आर्यों और इन नये आचार-विचार वाले आर्य शरणार्थियों में सीमित क्षेत्र में केन्द्रित होने के कारण, कई सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक संघर्ष शुरू हो गये, जो ऋग्वेद के अनुसार चालीस वर्ष से अधिक समय तक देवासुर-संग्राम के रूप में जारी रहे। इन्द्र के नेतृत्व में सुसंगठित आर्यों द्वारा पराजित, अनेक आत्मसम्मानी असुरोपासकों के दल अपनी पितृभूमि सरस्वती नदी का देश त्याग कर पश्चिमोत्तर देशों की ओर भाग खड़े हुए। जो यहाँ रहे उन्हें विजयी आर्यों ने अपना दास बना लिया। लगभग एक सौ वर्ष प्रलय-जल के अवतरण तक अनेक भौगोलिक यातनाओं को सहते हुए देव और असुर ब्रह्मावर्त्त में निवास करते रहे। प्रलय-जल के उतरने पर मत्स्य भगवान् के आदेशानुसार आर्यों का दक्षिणी अभियान इस शीतप्रधान प्रदेश से ऊब कर अगत्स्य आदि नये नेताओं के संरक्षण में पुनः धीरे-धीरे दक्षिणगिरि प्रदेश की ओर लौटने लगे। जो देव और असुर आदिकाल से ब्रह्मावर्त्त की जल-वायु एवं उसकी जीवनचर्या से अभ्यस्त थे उन्होंने आर्यों के इस दक्षिणी अभियान का साथ नहीं दिया। वे अपने आदि देश में ही रह गये।

इस बीच हरिद्वार और विंध्याचल के बीच समुद्र सूख गया और आर्यावर्त्त का मैदान ऊपर निकल आया। आर्यों का यह दक्षिणी अभियान नयी भूमि और नये चरागाहों की खोज करता हुआ तराई पार कर आर्यावर्त्त के इस

नव-निर्मित मैदान में जा पहुँचा। उसने इसका नाम आर्यावर्त्त रखा। आर्यावर्त्त में बसने के उपरान्त अपने पूर्वजों की परम्परागत स्मृति एवं उनके द्वारा कथित कथानकों के आधार पर अपने इस नये देश आर्यावर्त्त में ही उन्होंने कई ऐसे राजाओं, स्थानों, नगरों और नदी-पर्वतों की कल्पना की, जिनका भौगोलिक अस्तित्व आर्यावर्त्त में नहीं था, वरन् उनके पूर्वजों के मूलस्थान सप्तसिन्धु और ब्रह्मावर्त्त में था। आज वे आर्यावर्त्त के ही इतिहास से आर्य जाति की प्राचीनता का आरम्भ करते हैं तथा पंचनद देश पंजाब—सप्तसिन्धु के और प्रयागराज और कुरुक्षेत्र में ब्रह्मावर्त की पुण्यतोया सरस्वती के भौगोलिक अस्तित्व की भी स्थापना करते हैं।

जो इतिहासकार आर्य जाति के आर्यावर्त्त में बसने के बाद उसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में अनुमान लगाते हैं, वे इस वास्तविक तथ्य को बिल्कुल नजर-अन्दाज कर देते हैं कि आर्य जाति उस समय जब पृथ्वी में आर्यावर्त्त का कोई अस्तित्व ही नहीं था और वह (आर्यावर्त्त) समुद्र-गर्भ में था, ब्रह्मावर्त्त में रहती थी। ब्रह्मावर्त्त सप्तसिन्धु का वह उत्तरगिरि प्रदेश था जो सप्तम मन्वन्तर में सप्तसिन्धु के प्रलय-जल से ढक जाने के बाद, प्रलय-जल से ऊपर रह गया था। यह सप्तसिन्धु देश हरिद्वार से ऊपर मानसरोवर तक मध्य हिमालय के इस गिरिप्रदेश में फैला हुआ था, जहाँ बसे हुए आर्य जाति को, आर्यावर्त्त में आने से पूर्व, छह मन्वन्तरों के हजारों वर्ष व्यतीत हो चुके थे।

प्रलय-जल के अवतरण पर जो देव, असुर और नाग परिवार अपनी परिस्थितियों के कारण, अपने आर्य साथियों के साथ नहीं जा सके और अपने देश ब्रह्मावर्त्त में ही रह गये, वे ही गढ़वाल के वर्तमान निवासियों के पूर्वज हैं। हम इससे पूर्व लिख चुके हैं कि देव, असुर और नागों के आचार-विचारों में परस्पर भिन्नता होते हुए भी सब एक ही पिता के पुत्र हैं और एक ही देश के निवासी और सजातीय थे। सौत और सौतेले भाइयों की परस्पर घोर शत्रुता आदिकाल से प्रसिद्ध है। ऋग्वेद में भी इसका उल्लेख है। महाभारत काल तक गढ़वाल में आर्य-द्विजों के साथ अनेक संघर्षों के बावजूद असुर और गानों का स्वतंत्र अस्तित्व पाया जाता है। यद्यपि समर्थ आर्य द्विजों ने अपने इन सौतेले भाइयों को मानवी अधिकारों से भी वंचित रखने का सदैव प्रयत्न किया है, जिसके फलस्वरूप महाभारत काल तक इन तीनों आर्य जातियों में सदैव देवासुर संग्राम की स्थिति बनी रही। कभी देवताओं की विजय हुई तो कभी असुरों की। परन्तु बाणासुर-कृष्ण के युद्ध में असुर और जनमेजय के नाग-यज्ञ में नागों का भी रहा-सहा स्वतंत्र राजनैतिक अस्तित्व समाप्त हो गया। संगठित आर्य द्विजों से बार-बार पराजित असुर और नागों ने अपने शक्तिशाली आर्य-

सामन्तों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति दयनीय होती चली गयी। आर्य प्रभुओं द्वारा उनको निकृष्ट दास एवं शूद्रों की नीच श्रेणी में स्थान मिला।

उत्तर वैदिक काल से महाभारत काल तक कर्मकांडी ब्राह्मणों ने अपने कट्टर धार्मिक विधि-विधानों, स्मृति-ग्रन्थों द्वारा हिन्दू समाज की व्यापकता को सीमित और संकुचित कर दिया। ज्यों-ज्यों वर्ण-व्यवस्था की कट्टरता में वृद्धि होती गयी, ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा जरा-जरा से विरोधी आचार-विचारों के कारण अनेक आर्य-द्विज धर्मच्युत करार दिये जाने लगे। आज भी हिन्दुओं में इस कट्टरता का यथासाध्य पालन होता है और सब इसको धर्माचरण कहते हैं। केवल यज्ञोपवीत धारण न करने के कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय भी व्रात्य घोषित किये गये (मनु १०।२०)। '**मनुस्मृति**' आदि स्मृति-ग्रन्थों में इस धार्मिक कट्टरता के कारण द्विजों के बहिष्कारों की अनेक घोषणाओं से आर्य सभ्यता से इस प्रकार समय-समय पर बहिष्कृत, धर्मच्युत एवं संस्कारच्युत आर्य द्विजों का महाभारत काल तक खस जाति के रूप में एक स्वतंत्र समुदाय बन गया। इनमें भी हिन्दू धर्म-व्यवस्था के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की कट्टरता सुरक्षित रखी गयी। धर्मच्युत ब्राह्मण, खस ब्राह्मण और धर्मच्युत क्षत्रिय, खस राजपूत करार दिये गये और आर्य-द्विजों ने अपने पारिवारिक सेवकों के रूप में उनका स्थान सुरक्षित कर दिया (मनु ४०।४६)। महाभारत काल के बाद आर्यों द्वारा पराजित एवं बहिष्कृत असुर और नाग भी इसी खस जाति में विलीन होकर खस जाति इस क्षेत्र में एक बहुसंख्यक जाति बन गयी। गढ़वाल में आर्य द्विजों के साथ खस जाति के रूप में, महाभारत काल से आज तक उनका सामाजिक स्थान अपरिवर्तित है।

विदेशी इतिहासकारों ने हिन्दुओं को परमुखापेक्षी एवं प्राचीन आत्मगौरव से वंचित करने के लिए अंग्रेज और मुसलमानों की तरह, यहाँ के आर्यों एवं खसों को आर्यावर्त्त से बाहर, विदेशों से आया हुआ कह कर, उनमें हीन भावना एवं अराष्ट्रीय मनोवृत्ति उत्पन्न करने का कुत्सित प्रयास किया है। कुछ विदेशी इतिहासकारों के कथनानुसार गढ़वाल के वर्तमान निवासियों के पूर्वज भी खस हैं, जो आर्यों से पूर्व विदेशों से यहाँ आये। अनेक भारतवासियों ने भी उनका समर्थन कर विदेशी रक्त से निस्संकोच अपनी उत्पत्ति स्वीकार की है। केवल विदेशों में आर्यावर्त्त से बाहर सुसंस्कृत मानवों का निवास था और आर्यावर्त्त में मनुष्य जाति का सर्वथा अभाव था, विदेशियों की वह घोषणा उनके धार्मिक एवं राजनैतिक स्वार्थ की स्पष्ट परिचायक है। आर्य एवं खस जाति अपने आदि देश से अपना सर्वस्व लेकर आर्यावर्त में आ पहुँची। उसने मूल स्थान में अपना कोई

नाम-निशान, भाषा, साहित्य, अपना एक भी स्मृति-चिह्न नहीं छोड़ा। उनका वहाँ कोई नामलेवा-पानीदेवा शेष नहीं रहा—यह कथन उपहासास्पद है। आर्यावर्त्त के आर्यों के पास इतनी समृद्ध एवं इतनी प्राचीन वैदिक विरासत होते हुए, उन्हें विदेशों के उन स्थानों से आया हुआ घोषित करते हैं, जहाँ उनकी प्राचीनता का एक भी चिह्न नहीं मिलता। गढ़वाल में वेदों से पूर्व आयी हुई खस जाति का नाम आज भी यहाँ ज्यों-का-त्यों है; परन्तु मध्य एशिया में, जहाँ इन इतिहासकारों के कथनानुसार, खसों का मूलस्थान था—खस जाति एवं उनका कोई उल्लेखनीय स्मृति-चिह्न सुरक्षित नहीं है। आर्यों की एवं खसों की अपने मूलस्थानों में इस आर्यावर्त से अधिक अपनी भाषा और साहित्य की पैतृक विरासत सुरक्षित रहनी चाहिए थी। आर्यावर्त्त में कुछ अंग्रेजी शब्दों के प्रचार-प्रसार से यदि हम अंग्रेजों को भारतवासियों की सन्तान नहीं कह सकते तो ठीक उसी तरह संस्कृत के दो-चार भाषा शब्दों के अस्तित्व से यूरोप अथवा मध्य एशिया को आर्यों का मूलस्थान घोषित करना बुद्धिमानी नहीं है। कई शताब्दियों तक भारतवर्ष में रहने वाले मुसलमान और अंग्रेजों की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विरासत भारतवर्ष से अधिक अरब और इंग्लैण्ड में सुरक्षित है और यह अरब और इंग्लैण्ड उनका आदि देश होना प्रमाणित करता है। ठीक उसी प्रकार आर्यावर्त्त से आर्यों की, अन्य सब देशों से अधिक जो वैदिक विरासत है, वह उनके आर्यावर्त्त का आदि निवासी होने का स्पष्ट प्रमाण है।

भारतीय आर्य ही आर्य जाति के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं, जिनके पास उनका वैदिक वाङ्मय के रूप में प्राचीन सांस्कृतिक एवं पैतृक विरासत सुरक्षित है। जो उनके अतीत गौरव की स्पष्ट साक्षी है; फिर भी पाश्चात्य इतिहासकार उन्हें योरोप, मध्य एशिया, ईरान आदि देशों से भारतवर्ष में आया हुआ बताते हैं। खस जाति का रूप-रंग, आचार-विचार भी आर्यों से मिलता-जुलता है। भारतवासियों की हीन भावना तथा विदेशियों के लिए उनमें वंशगत सजातीयता उत्पन्न करने के लिए उन्होंने आर्यों की तरह खस जाति को भी आर्यों की आदि शाखा के रूप में योरोप, एशिया और उत्तरी अफ्रीका से आया घोषित किया है।

सर अथल्स्टेन बेन्स यहाँ के खसों को वैदिक आर्यों से पूर्व आये हुए, आर्यों की आदि शाखा की सन्तान कहता है (**कास्ट एण्ड ट्राइब्स**, पृ० ४६-५०)। सर जार्ज ग्रियर्सन अपने भाषा सर्वेक्षण के पृष्ठ २३६ में खसों को जो हिमालय के मुख्य निवासी हैं, आर्य कहता है (**लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया**, पृष्ठ ६)। अटकिंसन यहाँ के खसों को मध्य एशिया से आने वाली एक शक्तिशाली आर्य-शाखा की सन्तान बताते हैं। वे वैदिक आर्यों से पूर्व या पश्चात् आने वाली उसी

आर्य-शाखा से सम्बन्धित हैं, यह सब अविदित है (**अटकिसन गजेटियर्स,'** खण्ड १२, पृ० ४४०) । जो कुछ भी हो विदेशी इतिहासकारों के मतों से भी खसियों की भाषा, आकृति एवं शारीरिक संगठन मैदानी क्षेत्र में रहने वाले किसी विशुद्ध आर्य से किसी प्रकार भिन्न नहीं हैं (**खस फेमिली लॉ**, पृ० ३२५) । वाटसन भी गढ़वाल-निवासियों की शक्ल-सूरत आर्यों की तरह गोरी और सुन्दर घोषित करते हैं । ओकले साहब भी खसों का शारीरिक गठन आर्यों की भाँति और उनकी भाषा को शुद्ध हिन्दी कहते हैं । '**कलकत्ता रिव्यू**' (१८५२) में यहाँ के वर्तमान निवासियों में अधिकांश को खसिया और एक हजार वर्ष पूर्व उनके राजा को खसों का राजा कहा गया है । डॉ० जोशी के कथनानुसार यहाँ के खस बाहर से आये हुए आदि आर्यों की आदि शाखा की संतान हैं और उनका शारीरिक संगठन आर्यों की ही भाँति है ।

इन इतिहासकारों के पास उनके ऐतिहासिक विवरणों में मेरी निम्नलिखित शंकाओं का कोई समाधान नहीं है :

१. खसों के आदि देश के सम्बन्ध में इतिहासकारों ने मध्य एशिया, योरोप और अफ्रीका का नाम लिया है । तीनों देश जो एक-दूसरे से सब प्रकार भिन्न हैं, खसों के आदि देश नहीं हो सकते । अतः उनकी घोषणाएँ अवास्तविक एवं अमान्य हैं ।

२. इन देशों में खस जाति की उत्पत्ति-सम्बन्धी ऐसी कौन विशेष सुविधा है, जो उत्तरखंड में नहीं है ?

३. क्या तीनों देशों के खसों ने संगठित होकर, एक साथ आकर उत्तराखंड के आदि निवासी डोमों और दस्युओं पर आक्रमण किया ?

४. क्या वे इतने महासागरों, महाद्वीपों को लाँघ कर भारतवर्ष के उत्तर में स्थित पर्वतीय प्रदेश में पहुँचे और कहीं भी किसी देश में नहीं रुके ? तथा रोके नहीं गये ?

५. क्या उन सब खस आक्रामकों के धर्म, वर्ण, बोली, भाषा एवं विचार-आचार समान थे ?

६. क्या उन देशों में भी, भारतवर्ष की भाँति वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी ?

७. क्या उन देशों में आज भी खस जाति रहती हैं अथवा उनका वहाँ कोई ऐतिहासिक प्रमाण शेष भी है ? यदि नहीं तो उनका उस देश में समूल विनाश होने का क्या कारण है ?

८. क्या हिमालय के इस पर्वत प्रदेश में उस समय काले वर्ण के डोम और दस्युओं के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमुख शक्तिशाली जाति नहीं थी ?

९. यदि खसों का उक्त अभियान इतना शक्तिशाली था, जिसने इतने

महासागरों, महाद्वीपों और देशों-प्रान्तों को निर्विघ्नतापूर्वक पार कर रास्ते में कहीं कोई उल्लेखनीय आकर्षण न पा कर केवल उत्तराखंड के आकर्षण से खिच कर वहाँ के एक मात्र आदि निवासी डोमों और दस्युओं को पराजित कर अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित किया तो उन दिग्विजयी खसों की, उत्तराखंड के डोमों और दस्युओं के देश में इतनी दयनीय सामाजिक स्थिति क्यों हो गयी ? उस दिग्विजयी एवं शक्तिशाली जाति का उत्तराखंड के अल्पसंख्यक एवं पराजित जातियों के समाज में इतना अनादृत एवं घृणित स्थान कैसे बन गया ?

खस कौन थे और कहाँ से आये ? इस सम्बन्ध में इतिहासकारों के इस प्रकार भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई खस को यक्ष का अपभ्रंश, कोई राजपूताने की बोली की समानता बतलाकर वहाँ की खोसा जाति की शाखा, कोई उन्हें काशगर प्रान्त के निवासी और कोई कत्यूरी राजाओं की संतान भी कहते हैं। किसी ने खास काश्मीर, किसी ने खाफिनी, खोआस, खोआसपेस आदि काबुल की नदियों के नाम से 'खस' शब्द की उत्पत्ति बतलायी है। कोई इनको मध्य एशिया से, वैदिक आर्यों से पूर्व और कोई बाद को आये हुई आर्य-शाखा की सन्तान कहता है। कोई काश्मीर से आसाम तक फैले हुये खसिवा पर्वत को खस देश और वहाँ के निवासियों को खसिया कहते हैं। कोई 'केदारे खसमण्डले' कहकर केदारक्षेत्र को ही खसों का आदि देश कहता है।[1]

'**महाभारत**' से पूर्व वैदिक साहित्य में खस जाति का उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु '**महाभारत**' में दो-तीन स्थानों पर उनका नाम आता है। '**हरिवंश**' और '**वायु पुराण**' में राजा सगर का खसों से युद्ध करने का उल्लेख है। '**विष्णु पुराण**' '**मार्कंडेय पुराण**' और '**कल्कि पुराण**' में भी खस जाति का उल्लेख है, बराहमिहर की '**बाराहसंहिता**' में खसों का कई स्थानों में वर्णन है।

डा० एल० डी० जोशी जिन्होंने कुमाऊँ के अधिकांश निवासियों को 'खस' कहा है, खस जाति के सम्बन्ध में '**खस फेमिली लौ**' नामक अपने शोध-ग्रन्थ में लिखते हैं :—खसों की परिवार-पद्धति उस आदि युग की है जो पूर्व और पश्चिम के आदि आर्य समाज में मिलती है। वह बाद को गंगा के मैदान से आये हुये ब्राह्मणवाद से प्रभावित हिन्दू-नीति शस्त्रों के धार्मिक विचारों से सर्वथा स्वतंत्र हैं।

---

१. बेन्स इथनोग्रेफी (कास्ट्स ऐंड ट्राइब्स, पृ० ४६.५०)
लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, जि० ६,४; पृ० २७६
हिमालयन गजेटियर्स, १२। पृ० ४४० और २७६
होली हिमालय, पृ० ८७
खस फेमिली लौ भूमिका पृ० ७८, तथा पृ० ८,२४,२६३,१०

हिन्दू-नीति-शस्त्रों के धार्मिक आदर्शों से उसका पृथक् रहने का कारण यह है कि यहाँ के आदि निवासी उन आर्यों की, जो गंगा के मैदान (आर्यावर्त्त) में बस गये थे, प्रभावशाली सांस्कृतिक उथल-पुथल से बिल्कुल पृथक् पड़ गये थे। हमारे पास यहाँ के आदि निवासियों को बाहर से आये हुये आर्यों की आदि शाखा मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं। हमें ऐसे भी प्रमाण प्राप्त हैं जो हमें हिन्दुओं के बहुत प्राचीन धर्मशास्त्रों में मिलते हैं।

जोशी जी के कथनानुसार जिस खस जाति के रीति-रिवाज, आर्य जाति के प्राचीन धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित हैं उनके सम्बन्ध में उनकी यह घोषणा कि वे बाहर से आयी हुई आर्य जाति की आदि शाखा के वंशज हैं, स्वयं विवादास्पद है।

गढ़वाल के अधिकांश निवासियों के आर्यावर्त्त के बहुसंख्यक आर्यों से अलग स्वतंत्र आचार-विचारों के कारण इन इतिहासकारों ने जहाँ उन्होंने आर्यों की आदि शाखा प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है, वहाँ उन्हें वैदिक आर्यों से पूर्व अथवा बाद को आने वाली आर्य जाति की शाखा घोषित किया है। डा०जोशी के कथनानुसार यद्यपि खसों की कौटुम्बिक व्यवस्थाएँ हिन्दुओं के बहुत प्राचीन धर्म-शास्त्र के विधि-विधानों में प्रतिप्रादित हैं तो भी उनकी 'सौतियाबाँट', 'जेठुन्डा,' 'घरजमाई', 'टके का विवाह', 'टेक्वा' आदि विशिष्ट प्रथाओं के कारण ये आर्यावर्त्त के वर्तमान हिन्दुओं के आचार-विचारों से मेल नहीं खाते। अतः उन्होंने उनके लिए हिन्दुओं से पृथक् **'खस फेमिली लॉ'** नामक एक स्वतंत्र आचार-संहिता की रचना की है। उनके कथानानुसार खस जाति के निम्न लिखित लक्षण हैं :

१. वे विधवा भावज से दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं।
२. उनमें 'टके का विवाह' प्रचलित है।
३. वे विवाहों में धार्मिक संस्कार अनिवार्य नहीं समझते।
४. उनके विवाह-सम्बन्ध पति-पत्नी की सहमति से टूट जाते हैं।
५. पुनर्विवाह को मान्यता प्राप्त है।
६. उनका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता।
७. वे खेती करते हैं और स्वयं खेती में हल चलाते हैं।

पीछे यथास्थान देव और असुरों के मातृ-प्रधान युग में—'सौतियाबाँट' की ऋग्वैदिक प्रथा को प्रमाणित किया जा चुका है। विधवा-भावज से दाम्पत्य सम्बन्ध की 'टेक्वा प्रथा' वैदिक नियोग की वेद प्रतिपादित परम्परा है (अथर्व० का १४ अ,२ मं० १८; मनु ९।५९।५८।१५९)। 'टके का व्याह' (ऋ० १०।२७। १२, मनु० ३।५४,६१,३।२९,३१) भी आर्य धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित है। आर्य जाति के लिए ८ प्रकार के विवाहों का विधान है। पति की मृत्यु के उपरान्त

ही नहीं, बल्कि जीवन काल में ही पति की स्वीकृति से अन्य पुरुष द्वारा पुत्रोत्पन्न करना मनु, वशिष्ठ, गौतम, नारद और विष्णु अनुचित नहीं समझते। पुत्रहीन माता पिता को आर्य धर्मानुसार घर जमाई रखने का अधिकार है। बड़े भाई को अन्य भाइयों के भाग से विशिष्ट भाग (जेठुण्डा) देना आर्य धर्म के अनुसार प्रतिपादित है। आपद्धर्म में किसी भी वर्ण का व्यवसाय ग्रहण करना, धर्मसंगत है। खेती वर्जित व्यवसाय नहीं है। स्वयं जनक द्वारा हल चलाने की, कथा को, अधर्माचरण नहीं कहा गया है। संस्कारच्युत व्यक्तियों के समुदाय को, द्विज सामंतो द्वारा यज्ञोपवीत संस्कार वर्जित रहा है। इस प्रकार डा० जोशी ने जिन आचार-विचारों के कारण खसियों को अहिन्दू एवं अवैदिकी आर्य, प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है वे सब आचार-विचार जब प्राचीन आर्य धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित हैं, तो उन्हें आर्य-जाति से पृथक् घोषित करना युक्तिसंगत नहीं है।

ब्रह्मावर्त्त से बाहर, आर्यावर्त्त में बस जाने के बाद, आर्यावर्त्त के आर्यों के सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन में जो-जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, उससे ब्रह्मावर्त्त का यह आदि आर्य-समुदाय प्रायः अछूता ही रहा है। उनके रीति-रस्म, आचार-विचार जहाँ कट्टर वैदिक रीति-रस्मों तथा-स्मृति-ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित आस्थाओं पर आधारित थे, वहाँ वे आर्यावर्त्त के नवीन ब्रह्मणवाद की सांस्कृतिक उथल-पुथल से प्रायः अप्रभावित भी रहे हैं। इसका कारण परम्परागत धार्मिक एवं सामाजिक आस्थाओं के प्रति ब्रह्मावर्त्त के निवासियों का आर्यावर्त्त के निवासियों से अधिक विश्वास एवं उनकी विषम पर्वतीय परिस्थितियों से उत्पन्न पारस्परिक जन सम्पर्क का अभाव था।

आर्यावर्त्त में बसने के बाद वहाँ के नवीन हिन्दू धर्मशास्त्रों से प्रभावित आर्य द्विजों के अनेक प्रतिष्ठित परिवार भी समय-ससय पर धार्मिक एवं राजनीतिक कारणों से गत कई शताब्दियों से गढ़वाल में आकर बसते रहे हैं। ऐसी अनेक जातियों तथा उनके आगमन की तिथियाँ निश्चित हैं, परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि गढ़वाल के अधिकांश निवासी, आर्यों की उसी आदि शाखा, देव, असुर और नागों की सन्तान हैं, जो जलप्लावन के अवतरण पर अपनी जन्मभूमि ब्रह्मावर्त्त को छोड़ कर आर्यावर्त्त में नहीं गये।

उनके धार्मिक और सांस्कृतिक आचार-विचार अधिकांश उनकी प्राचीन आस्थाओं पर ही आधारित रहे। आर्यावर्त्त से आये हुए इन नये आगुन्तकों के नवीन विचारों का यहाँ के आदि निवासियों के आचार-विचारों पर थोड़ा-बहुत प्रभाव सम्भव है। परन्तु बहुसंख्यक होने के कारण यहाँ की अधिकांश जनता उससे प्रायः अप्रभावित ही रही, वरन् उसके विपरीत उन्होंने ही नये अगन्तुकों को अपने पुराने साँचे में ढाल दिया, यहाँ के इन आदि निवासियों को इन स्वतंत्र

आचार-विचारों के कारण नवीन इतिहासकारों ने हिन्दुओं से पृथक् एक अहिन्दू एवं खस जाति घोषित कर दिया।

किसी व्यक्ति के नाक-मुख की आकृति से उसके मूल वंश का अनुमान असंगत है। अमीवा (मत्स्य) की मुखाकृति एवं उसकी शारीरिक गठन से वर्तमान मानव की वास्तविक आकृति का अनुमान उपहासास्पद है। सीमित काल के लिए यदि इसका औचित्य कुछ स्वीकार योग्य भी हो, परन्तु जो जाति लाखों बरसों की पुरानी हो उसके नाक-मुख की इस प्रकार की नाप-जोख से किसी निश्चित परिणाम की आशा तर्क-संगत नहीं। लाखों बरसों के परिवर्तन-क्रम से उसकी मूल आकृति में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ना स्वाभाविक है। इसीलिए नृवंश-शास्त्रियों द्वारा भारत में नाक और मस्तक के पर्यवेक्षण की प्रणाली से संतोषजनक परिणाम नहीं निकले हैं; फिर भी किसी जाति के मूल वंश एवं मूल स्थान की जाँच करने के लिए उसकी भाषा, रीति-रस्म एवं शारीरिक गठन का परिचय प्राप्त करना एवं उसका तुलनात्मक अध्ययन करना भी आवश्यक है। खस जाति यदि किसी अन्य देश से यहाँ आयी है तो उसके आचार-विचार, शक्ल-सूरत यहाँ के निवासियों से पृथक् होनी चाहिए, परन्तु डा० जोशी अपने शोधग्रन्थ (पृ० १८) में लिखते हैं कि खसियों का शारीरिक गठन स्पष्टतः आर्यों के ही समान हैं, उनमें और अन्य पर्वत निवासियों एवं उत्तर भारत के रहने वाले ऊँची जाति के लोगों में कोई अन्तर नहीं है। अटकिंसन, ओकले, मौटेनियर, वाटसन आदि भी खसियों की शक्ल-सूरत और आर्यों की शक्ल-सूरत में कोई अन्तर नहीं मानते। मध्य एशिया तथा अन्य देशों में—जहाँ से इतिहासकार उनके इस देश में आने की बात करते हैं, खसियों का नाम, निशान भाषा एवं सांस्कृतिक बिरासत अप्रमाणित है खसियों के आचार-विचार, रीति-रस्म भी आर्य धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित हैं। ऐसी दशा में खसियों को हिन्दुओं से पृथक् अवैदिक एवं अन्य देशों से आया हुआ घोषित करना युक्तियुक्त नहीं है।

हिन्दू धर्म भिन्न-भिन्न आचार-विचार वाली अनेक जाति एवं उपजातियों का संमिश्रण है। जिस प्रकार हिन्दू धर्मान्तिर्गत अन्य-जातियों का आदि स्रोत, उनकी अनेकता के बावजूद आर्य वंश है। उसी प्रकार खस जाति को भी उसकी विशेषताओं के बावजूद आर्य जाति से ही उत्पन्न होने का गौरव प्राप्त है। भिन्न-भिन्न सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक कारणों से गाँव, पट्टी एवं स्थानीय विश्वासों' के आधार पर गढ़वाल की अनेक जातियों का नामकरण हुआ है, उसी प्रकार खसों की उत्पति एवं उनका नामकरण निश्चित है। खस के नाम से देश-विदेश में कुछ मिलते-जुलते नामों को देखकर उनका उस विदेशी स्रोत से निसृत होने का अनुमान तर्कसंगत नहीं है। हिन्दू धर्मावलम्बी अनेक

जाति एवं सम्प्रदाय की पारस्परिक विभिन्न सांस्कृतिक विषमताओं के कारण उन्हें अहिन्दू, अनार्य एवं अवैदिक करार देना हिन्दू धर्म की विशालता के प्रति अज्ञान प्रकट करना है।

हिन्दू किसे कहते हैं। इस सम्बन्ध में डा० भगवानदास लिखते हैं :—एक अखबार में यह प्रश्न निकला था कि हिन्दू किसे कहते हैं ? हिन्दुत्व का विशेष व्यावर्त्तक लक्षण क्या है ? किस आचार-विचार वाले मनुष्य को हिन्दू कहना चाहिए और इस प्रश्न को बहुत से जाने-माने हिन्दुओं के पास भेजकर उत्तर मंगवाये और उनको छापा। कोई एक भी अव्यभिचारी विशेष व्यावर्तक व्यापक आचार या विचार नहीं स्थिर हुआ। जो अपने को 'हिन्दू' कहे वही 'हिन्दू'— इतना ही सिद्ध हुआ।

गढ़वाल के वर्तमान निवासियों के अधिकांश परिवार आर्यों की आदि शाखा के वंशज है, इतिहासकारों के इस कथन से मैं सहमत हूँ। परन्तु आर्यो की उस मूल शाखा का नाम खस अथवा खसिया था, इतिहासकारों की यह घोषणा अवास्तविक एवं निराधार है। जो इतिहासकार उन्हें आर्यों की मूल शाखा एवं वेदों से पूर्व विदेश से आये हुए मानते हैं और कहते हैं कि वे खसिये थे, उन्हें खसियों के मूल स्थान मध्य एशिया और आदि आर्यों के प्राचीन वाङ्मय में 'खसिया' एवं खस ब्राह्मण तथा खस राजपूत शब्द भी सिद्ध करना चाहिए। वैदिक आर्यों से पूर्व आर्यावर्त्त में आने वाली समृद्धिशाली खस जाति का वैदिक वाङ्मय में कोई नाम-निशान तक न हो। यह आश्चर्यजनक है। स्वयं डा० जोशी अपनी '**खस कुटुम्ब-पद्धति**' में '**महाभारत**' और पुराणों से पूर्व, खस जाति का अस्तित्व प्रमाणित नहीं कर सके हैं और जब उनके कथनानुसार यह जाति ऐसी शक्ति-सम्पन्न हो, जिसने उत्तराखंड के आदि निवासियों को पराजित कर उन पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित किया हो, उसका '**महाभारत**' से पूर्व वैदिक वाङ्मय में कहीं नाम तक न आया हो, यह आश्चर्यजनक नहीं तो क्या है ?

कुछ इतिहासकारों ने गढ़वाल को खस-देश, उसकी एक पट्टी को खस-पट्टी और उस विशेष प्रदेश में बसे हुए लोगों को खस-प्रजा कहा है। जो इतिहासकार खसों को यूरोप, मध्य एशिया और उत्तरी अफ्रिका से यहाँ आया हुआ कहते हैं उन्होंने यह प्रमाणित करने का कष्ट नहीं किया कि यदि खस विदेशों से यहाँ आये हैं तो उनके मूल देशों में किस भू-भाग और किस जाति एवं वहाँ के किस विशिष्ट प्रजावर्ग का नाम खस है। वे जब इतने समुद्रों को पार कर, इतने देश-विदेशों को लाँघ कर जो अन्य किसी भू-भाग में नहीं ठहरे और उन्होंने सीधे सुदूर उत्तराखंड के इस बीहड़ पर्वत-प्रदेश में ही आकार दम लिया, वे केवल इसी प्रदेश में सिमिट कर रह गये और तब उन्होंने इस देश को ही खस-देश तथा

इसके निवासियों को खस-प्रजा एवं खस-जाति के एक विशिष्ट नाम से सम्बोधित किया है, इसका क्या कारण है ?

खस जाति आर्य परिवार से पृथक् कोई स्वतंत्र शक्तिशाली एवं बहुसंख्यक जाति नहीं प्रमाणित होती है। वैदिक काल में हजारों वर्ष पश्चात् **'महाभारत'** में जो दो-एक स्थानों पर खस जाति का नाम आया है, वह कट्टर ब्राह्मणवाद से प्रभावित आर्य सामन्तों के अधीन एक विशेष पर्वत भू-भाग में जिसको 'राठ' कहते हैं, केन्द्रित थी। वह मनु के कथनानुसार ब्राह्मणवाद से प्रभावित आर्य सामन्तों द्वारा वहिष्कृत, संस्कारच्युत ब्राह्मण और क्षत्रियों का एक समुदाय था राठ के इस विशेष स्थान में उनका केन्द्रीकरण होने के कारण कालान्तर में उस जनपद का नाम खसमंडल और जनसमुदाय का नाम 'खस' हो गया। आर्य द्विजों द्वारा वहिष्कृत व्यक्तियों का समुदाय होने के कारण उनकी जाति उल्लेखनीय जाति के रूप में, इस प्रदेश में अब तक उनका अलग अस्तित्व सुरक्षित है। डा० जोशी भी इसे स्वीकार करते हैं। कहते हैं कि खसिये उत्तर के उस पर्वतीय प्रदेश में निवास करते थे, जो तिब्बत से मिला हुआ है (पृ० ५)।

उत्तराखंड के किसी भू-भाग अथवा किसी पट्टी विशेष का नाम खसमंडल या खसदेश हो सकता है परन्तु इस समस्त पर्वत प्रदेश का नाम कभी खसदेश अथवा खसमंडल रहा है, यह अविदित है। **'महाभारत'** (सभा० अध्याय ४८) के अनुसार मेरु और मन्दर पर्वत की मध्यवर्ती उपत्यका में कीचक-वेणु (रिंगाल) के वनों में खसजाति का निवास था। इसी क्षेत्रविशेष का नाम आज भी राठ है। यहाँ आज भी पूर्ववत् रिंगाल के वन हैं। पार्जीटर और टौलमी के कथनानुसार भी खस उत्तराखंड के सीमान्त के निवासी हैं।

महाभारत काल तक शक्तिशाली आर्य द्विजों द्वारा समय-समय पर वहिष्कृत, संस्कारच्युत द्विज-समुदाय का निवास स्थान जो तत्कालीन राजनियमों एवं स्मृति-ग्रन्थों के अनुसार सम्मानीय द्विज-जातियों से दूर राठ के एक क्षेत्रविशेष में केन्द्रित था, कालान्तर में खसों के एक स्वतन्त्र नाम से खसमंडल अथवा खसदेश कहलाने लगा था। वे शूद्र नहीं थे, वरन् सामाजिक कुकृत्यों के कारण—अपने सजातीय द्विजों से, वहिष्कृत किये गये थे। अतः समाज में उनका स्थान शूद्रों से ऊँचा था। वे द्विज सामन्तों एवं प्रतिष्ठित द्विज-परिवारों के अधीन, उनकी सेवा-सुश्रूषा, खेती-पाती कर जीवन-निर्वाह करते थे। वे तत्कालीन राजनियमों के अनुसार, जाति से वहिष्कृत व्यक्तियों के लिए निश्चित, सम्माननीय द्विजों के बीच अलग से पहचाने जाने के लिए, बल्कल (भंगेला) वस्त्र भी धारण करते थे। सामन्तों द्वारा केवल पारिवारिक दासों के रूप में ही नहीं, वरन् राज्य की रक्षा के लिए सैनिकों के रूप में भी उनका प्रयोग प्रचलित था। महाभारत

कालीन क्षेत्रीय सामन्तों ने इसी भाव से तंगण या टंगणी से खस-सेवकों द्वारा पांडवों के राजसूय यज्ञ में कई द्रोण स्वर्ण एवं मधु आदि भेंट-स्वरूप भेजा था। आज से कुछ वर्ष पूर्व खस-सेवकों द्वारा यहाँ के ब्राह्मण-क्षत्रियों के मित्रों सगे-सम्बन्धियों के घरों में—दूर-दूर तक अन्न के द्रोण एवं कंडी ले जाने की प्रथा उसी प्रकार प्रचलित थी। पांडवों के उत्सवों में, द्रोण-कंडी ले जाने वाले खस-सेवकों के आधार पर, उनके सामन्तों को भी, 'खस' घोषित कर देना युक्तिसंगत नहीं।

टंगणी बदरीनाथ के निकट पांडुकेश्वर में है। इसे पार्जिटर आदि इतिहासकार भी स्वीकार करते हैं यह पाँचों पांडवों का जन्मस्थान तथा पांडु, कुन्ती एवं माद्री का पर्याप्त काल तक निवास स्थान होने के कारण वहाँ के स्थानीय द्विज-सामन्तों का पांडवों के साथ स्नेह-सम्बन्ध स्वाभाविक था। अतः उन्होंने अपने खस-सेवकों एवं खस-सैनिकों द्वारा अपने मित्र पांडवों के उत्सवों-यज्ञों में कई द्रोण भेंट-सामग्री भेज कर जिस परम्परा का परिचय दिया है, उस परम्परा के अनुसार गढ़वाल में अपने सगे-सम्बन्धियों के उत्सवों में—खस सेवकों द्वारा द्रोण-कंडी के रूप में अपनी भेंट-सामग्री भेजने की प्रथा, आज से कुछ वर्ष पूर्व यहाँ सर्वत्र प्रचलित थी। बाद को महाभारत युद्ध में यहाँ के क्षेत्रीय सामन्तों द्वारा भेजे हुए खस-सैनिकों का दुर्योधन की ओर से सात्यकी के साथ तलवार, भाले और पत्थरों से युद्ध करने का भी वर्णन है, क्योंकि महाभारत काल में उत्तरकुरु प्रदेश, जिसमें उत्तराखंड के समस्त जिले सम्मिलित थे, कौरवों के राज्यान्तर्गत था।

वैदिक आचार-विचारों के साथ ब्रह्मावर्त्त के आदि आर्य-निवासियों के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक आस्थाओं—स्थापनाओं पर मनु द्वारा प्रचारित राजनियमों का सबसे अधिक प्रभाव रहा है। वेदों के कई हजार वर्ष पश्चात् महाभारत काल तक वैदिक आर्यों की वर्ण-व्यवस्था एवं कर्मकांड मनु-प्रतिपादित कट्टरताओं के कारण समाज से बहिष्कृत अनेक संस्कारच्युत आर्य-द्विजों का खस-सैनिकों के रूप में एक स्वतंत्र समुदाय बन गया था। मनु आर्य-धर्म का संस्थापक और इस देश के (जो प्रलयबाढ़ के उपरान्त ब्रह्मावर्त्त कहलाने लगा था) निवासी एवं शासक थे। उनकी स्थापनाओं, विधि-विधानों का ब्रह्मावर्त्त के निवासियों की संस्कृति पर स्थायी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इस देश की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक गतिविधियों पर, शासक एवं धर्म-संस्थापक होने के नाते उनका केवल धार्मिक ही नहीं, कठोर राजनैतिक नियंत्रण भी स्थापित था। मनु का आदेश तत्कालीन सामन्तों, पुरोहितों एवं प्रजावर्ग के लिए ईश्वर का आदेश था। वे दृढ़तापूर्वक उसका पालन करते थे। **'मनुस्मृति'** (१०।४३,४४) में खस जाति की उत्पत्ति की घोषणा उसकी राजकीय घोषणा

है, जिसकी मान्यता निर्विवाद थी। वहाँ कहा गया है कि पौंड्रक, औंड्र, द्रविड़, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खस पहले क्षत्रिय और वैश्य थे, परन्तु उपनयनादि कर्मों के लोप से और यजन-अध्यापन के निमित्त उचित आचार्य न मिलने से इस लोक में धीरे-धीरे शूद्रत्व को प्राप्त हुए। मनु ने व्रात्य क्षत्रियों से सवर्ण क्षत्रियों द्वारा खसों की उत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है (**मनुस्मृति** १०।२२)।

इतना ही नहीं, पुराणों के कथनानुसार जब शक, यवन, पारद, काम्बोज, पह्लव आदि पंचगणों ने राजा बाहु पर आक्रमण किया तो बाहु के पुत्र राजा सगर द्वारा पराजित वे सब वशिष्ठ की शरण में गये। वशिष्ठ ने उन्हें धर्मभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट, आर्य-संस्कृतिविहीन कहके निर्वासित कर दिया (**ब्रह्मपुराण**, इन्द्र विजय, पृष्ठ ४४)।

इस प्रकार अपने ब्राह्मण पुरोहितों की धार्मिक कट्टरता से प्रभावित द्विज सामन्तों द्वारा धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक कारणों से समय-समय पर अनेक आर्य-द्विज जरा-जरा-सी बात पर समाज से बहिष्कृत होते रहे हैं। **'मनुस्मृति'** का २० वाँ अध्याय आर्यधर्म संस्थापक मनु द्वारा प्रचलित ऐसे धर्मभ्रष्ट आर्य द्विजों के बहिष्कार एवं उसके प्रायश्चितस्वरूप निश्चित दंड-विधानों से ओतःप्रोत है। अन्य स्मृति-ग्रन्थों में भी इस प्रकार आर्य-द्विजों के सामाजिक बहिष्कार के लिए बात-बात पर अनेक कट्टर विधि-विधानों का उल्लेख है।

सामाजिक बहिष्कार की यह परम्परा महाभारत काल और पौराणिक काल में ही नहीं, वैदिक काल से प्रचलित थी। आर्य-समुदाय कर्मकाण्डी, अकर्मकाण्डी, याज्ञिक, अयाज्ञिक, धार्मिक, अधार्मिकों में विभाजित हो गया था और उनका एक अलग क्षेत्र और अलग समुदाय बन गया था, जो कालान्तर में एक अलग जाति ही नहीं बन गयी, वरन् जिनमें पारस्परिक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक संघर्षों का भी श्रीगणेश हो गया था। आर्य अपने देश को अभिमान-पूर्वक 'यज्ञदेश' कहते थे। इसीलिए वे अयाज्ञिकों को केवल अपने प्रभाव क्षेत्र से बहिष्कृत ही नहीं करते थे, वरन् उनसे घोर घृणा भी करते थे। उन्हें दास, दस्यव, अव्रता, अयाज्ञिक कह कर पुकारते थे (ऋ० ६।६०।६; ऋ० १।५१।६)। आर्य समाज से बहिष्कृत व्यक्ति को ऋग्वैदिक युग में भी दास बन कर शूद्रों की भाँति आर्य-द्विजों की सेवा-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करना अनिवार्य था (ऋ० २।१६।६)। **'ऐतरेय ब्राह्मण'** के अनुसार ऋग्वेद के प्रथम मंत्रद्रष्टा ऋषि विश्वामित्र ने अपने पचास अवज्ञाकारी पुत्रों को आर्य-द्विजों से बहिष्कृत करके दस्यु (दास) वृत्ति से जीवन-निर्वाह करने के लिए विवश कर दिया था। बहिष्कार की इस वैदिक परम्परानुसार महाभारत काल में भी अनेक आर्य परिवार, जो

निश्चित कर्मकाण्डों के अनुसार काम नहीं करते थे, बहिष्कृत किये जाते थे।

यह देश आर्यों का आदि देश था। अतः यहाँ उक्त वैदिक याज्ञिकों द्वारा अयाज्ञिकों के विरुद्ध निश्चित प्रतिबन्धों का दृढ़तापूर्वक पालन होता रहा है, जिसका प्रभाव आज भी २० वीं शताब्दी तक इस प्रदेश में—थोड़ा-बहुत सुरक्षित है।

वाल्टन **'गढ़वाल गजेटियर्स'** में लिखता है कि अट्किसन साहब के कथनानुसार खसिये यहाँ की एक परम शक्तिशाली जाति थी। वे स्वयं भी अपने को उच्चवर्ण के राजपूत कहते हैं, जो विशेष स्थान एवं जल-वायु में निवास करने से अपने धार्मिक आचार-विचारों का दृढ़तापूर्वक पालन न कर सकने के कारण पदच्युत किये गये थे। हिन्दू धर्मशास्त्रों से भी प्रमाणित है कि शक्तिशाली आर्य-द्विजों द्वारा बहिष्कृत व्यक्तियों के समुदाय को एक विशेष स्थान पर निवास करने के लिए विवश किया जाता था और उन्हें सदैव प्रायश्चित्त स्वरूप ऐसे चिह्न एवं वस्त्र धारण करने पड़ते थे, जिनसे वे समाज में स्पष्ट पहचाने जा सकें कि ये किसी असामाजिक कुकृत्य के कारण समाज द्वारा बहिष्कृत व्यक्ति हैं।

वाल्टन के कथन से भी खसों का क्षेत्र-विशेष एवं विशेष जल-वायु में रहने तथा धार्मिक संस्कार न कर सकने के कारण जातिच्युत होने की पुष्टि होती है, परन्तु परम सम्मानीय एवं समृद्धिशाली किसी जाति द्वारा धार्मिक संस्कार न करने के कारण स्वेच्छानुसार अपने उच्च स्थान से च्युत होने के सम्बन्ध में उनका कथन युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। वास्तव में खस, समय-समय पर तत्कालीन कट्टर द्विज-सामन्तों के पुरोहितों द्वारा द्विज-समाज से वहिष्कृत व्यक्ति एवं संस्कारच्युत परिवार का नाम था, जो कि कालान्तर में द्विज-सामन्तों द्वारा निश्चित राठ नाम के एक विशेष पर्वतीय क्षेत्र में (**मार्कण्डेय पुराण**) एक द्विज-सेवक समुदाय के रूप में परिणत हो गया। उनका यह कथन भी कि वे स्वयं उच्च वर्ण के थे, असत्य कथन नहीं क्योंकि जातिच्युत होने से पूर्व वे आर्य द्विजों के उच्च परिवारों के ही तो सम्माननीय सदस्य थे।

रतूड़ी जी भी **'गढ़वाल का इतिहास'** में इन्हीं स्मृति-ग्रन्थों के उद्धरण दे कर खस जाति को ब्राह्मण-क्षत्रियों की एक वहिष्कृत जाति घोषित करते हैं। उनका कथन है कि अपने अमर्यादित आचरणों के कारण समाज द्वारा बहिष्कृत ब्राह्मण और क्षत्रिय कालान्तर में खस ब्राह्मण और खस राजपूत बन गये हैं। गढ़वाल नरेश के विद्वान् वजीर होने के नाते इस क्षेत्र की जातीय परम्पराओं से वे पूर्ण परिचित थे। अतः अपने व्यक्तिगत अनुभवों एवं अध्ययन के आधार पर उनकी यह घोषणा अन्य इतिहासकारों से अधिक अधिकृत एवं मान्य है। १९०१ की जनगणना (खंड १६, पृ० २१६) में भी उन्हें ब्राह्मण-क्षत्रियों से वहिष्कृत

एक जाति कहा गया है।

खसों की वर्तमान सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति से मनु एवं रतूड़ी जी के कथन की वास्तविकता भी प्रमाणित होती हैं। खस जाति का सामाजिक स्तर इस प्रगतिशील युग में भी द्विज जातियों से निकृष्ट है। द्विजों का खस परिवारों के साथ भोज-भात, विवाह-संस्कार वर्जित है। रतूड़ी जी एवं जोशी जी के कथनानुसार वे जनेऊ नहीं पहनते। उनका गोत्र नहीं होता। वे चौके से भात निस्संकोच बाहर ले जा सकते हैं। यद्यपि आज प्राचीन रूढ़ियों की; सामाजिक भेद-भावों की दृढ़ दीवारें टूटती जा रही हैं, तो भी ऊँची जातियों से विवाह सम्बन्ध होते हुए भी समाज में उनकी स्थिति स्पष्ट है। खस जाति की यह स्थिति आर्य सामन्तों द्वारा उनके सामाजिक वहिष्कार की स्पष्ट द्योतक है। इसीलिए उनका सामाजिक स्थान द्विज जातियों (अर्थात् ब्राह्मण-राजपूतों) से कम परन्तु शूद्रों से ऊपर रहा है। शूद्रों का लाया हुआ जल द्विजों को अग्राह्य है, परन्तु ब्राह्मण-क्षत्रियों की सम्मानित जाति से वहिष्कृत होने के कारण, उनके समस्त गृह कार्यों में, पारिवारिक सेवकों के रूप में सख सेवकों का लाया हुआ जल एवं रोटियाँ द्विज जातियाँ निस्संकोच ग्रहण करती रही हैं। वे द्विज जातियों द्वारा टहलुए एवं पारिवारिक सेवकों के रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं तो भी आवश्यक प्रगति करने पर एवं सुसंस्कृत होने पर उन्हें अपने ही समान सामाजिक, धार्मिक अधिकार देने के लिए द्विज जातियों के द्वार सदैव उन्मुक्त रहे हैं; और इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वे किसी समय उनके ही सजातीय थे जो संस्कार-च्युत एवं अमर्यादित होने के कारण द्विज साथियों द्वारा वहिष्कृत किये गये थे। कर्ण पर्व में कर्ण ने भी खसों को असंस्कृत एवं आचारहीन बतलाया है। **'भागवत पुराण'** (२,४,१८) में भी उन्हें, द्विजों से वहिष्कृत एक सम्प्रदाय बतला कर उन्हें कृष्ण धर्म में दीक्षित करने का वर्णन है। **'वायु पुराण'** में लिखा है कि यदि वशिष्ट ऋषि रक्षा न करते तो खस, राजा सगर द्वारा नष्ट हो गये होते।

उत्तराखंड के समस्त प्रतिष्ठित द्विज-परिवारों के साथ प्रत्येक गाँम में खस-समुदाय का उनके पारिवारिक सेवकों के रूप में अस्तित्व प्रमाणित है। जब तक उनके आर्य-सामन्त किसी स्थान विशेष में ही निवास करते रहे, उनके खस-सेवक भी उसी क्षेत्र के पास खसमंडल तक ही केन्द्रित रहे परन्तु अपने द्विज-सामन्तों के विकेन्द्रीकरण पर उनके साथ उनके पारिवारिक सेवकों के रूप में उनका भी विकेन्द्रीकरण होता गया। वे उनके साथ सर्वत्र सब दिशाओं में फैल गये परन्तु जहाँ कहीं भी वे गये उनके द्विज-सामन्तों ने उन्हें यथासाध्य सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से, शक्तिशाली नहीं होने दिया। द्विज जातियाँ सदैव उनके प्रगति-पथ को चारों ओर से बन्द करके, उन्हें कठोर पराधीनता-पाश में जकड़ने का प्रयास

करती रही। खस-सेवकों का अपनी सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक स्वाधीनता का प्रत्येक प्रयास उनके द्विज-सामन्तों के लिए सदैव असह्य रहा है। फलतः समाज में खस जाति का स्थान उत्तरोत्तर निकृष्ट शूद्रवत् होता चला गया।

सन् १८६५ ई० में, जब अँग्रेजों द्वारा गढ़वाल की प्रथम जनगणना की गयी, उस समय जहाँ खस-ब्राह्मण, ब्राह्मण-वर्ग में सम्मिलित किये गये, वहाँ खस-राजपूतों का शुमार शूद्रों में किया गया। वस्तुतः उस युग में भी खस जाति आर्थिक स्थिति की दृष्टि से शूद्रवत् होती हुई भी, शूद्र नहीं समझी जाती थी। उसका सामाजिक स्थान द्विजों से नीचे और शूद्र जाति से ऊपर था। मनु के कथनानुसार वे ब्रात्य क्षत्रिय थे, परन्तु गढ़वाल में उनका स्थान वैश्यवत् था। आर्य-द्विजों के यज्ञोपवीत संस्कार होते थे। यज्ञोपवीत संस्कार न होने के कारण खसियों का स्थान, ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों से निम्न, परन्तु शूद्रों से ऊँचा था। मनु ने स्पष्टतः यज्ञोपवीत विहीन ब्राह्मणों और क्षत्रियों को ब्रात्य कहा है (मनु १०।२०)।

गढ़वाल में तृतीय वर्ण वैश्य जाति का अभाव रहा है। अतः वैश्य जाति की गणना में—खसों को गणना का प्रश्न ही नहीं था। इस प्रदेश में द्विजों के केवल दो ही वर्ण ब्राह्मण और क्षत्रिय थे। तीसरे वर्ण के स्थान पर शूद्र थे। अतः जन-गणना में—इसी तीसरे वर्ण के साथ अनुभवहीन लिपिकों द्वारा खसियों की गणना शूद्रों से की गयी। शूद्रों के साथ द्विज-जातियों का जहाँ रोटी-पानी वर्जित है, वहाँ खस जाति के साथ द्विजों की रोटी-पानी पर, कभी कोई सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं रहा है। अतः शूद्रों में खसजाति की गणना केवल खसों के आत्म-सम्मान की दृष्टि से ही नहीं, वरन् द्विज जातियों के साथ घनिष्ठ सामाजिक सम्पर्क की दृष्टि से भी न्यायोचित नहीं थी। इसलिए सामाजिक न्याय के आधार पर सन् १८८५ की दूसरी जनगणना में खसिये पुनः क्षत्रियों के साथ सम्मिलित कर लिये गये।

जो कुछ भी हो, तत्कालीन अधिकारियों द्वारा कभी क्षत्रियों में और कभी शूद्रों में खसियों की गणना होने का यह अर्थ भी स्पष्ट है कि उनकी उत्तरोत्तर दयनीय आर्थिक स्थिति होने के कारण उनका सामाजिक स्थान विवादास्पद हो गया था। अटकिन्सन के कथनानुसार भी 'खस' निम्न वर्ग का सूचक था और स्वयं खसिये भी अपने को 'खसिया' कहलाना पसन्द नहीं करते थे।

कुछ इतिहासकार उत्तराखंड में खसियों का प्रभावशाली राजनीतिक अस्तित्व भी प्रमाणित करते हैं। उनका कथन है कि खस एक बड़ी शक्तिशाली जाति थी, जिसने मध्य एशिया से आकर यहाँ के आदि निवासी डोमों को पराजित कर अपना राज्य स्थापित किया था।

"खस जाति ने एशिया, यूरोप और उत्तरी अफ्रीका में विशाल साम्राज्यों की

स्थापना की थी। उनकी गति-विधियों ने प्रशान्त महासागर से लेकर अन्धमहासागर तक बसी जातियों में खलबली मचा दी थी।" (**उत्तराखंड का इतिहास**, पृ० १०५)। इतिहासकारों का यह कथन खस लोक-परम्परा से सर्वथा प्रतिकूल होने के कारण बुद्धिगम्य नहीं है। यहाँ के ब्राह्मण और राजपूत जहाँ उत्तराखंड के बाहर के प्रतिष्ठित ब्राह्मण और राजपूत परिवारों से अपना सम्बन्ध प्रकट करने में अपना गौरव समझते हैं, वहाँ खसियों ने कभी यह प्रकट नहीं किया कि वे कहीं बाहर से यहाँ आये हैं (**खस कुटुम्ब-पद्धति**, पृ० ८)। डोम अथवा दस्यु ही नागों और खसियों से पूर्व यहाँ के आदि निवासी थे। यह कथन सर्वथा उपहासास्पद है। डोमों का वर्ण प्रायः काला है, नदियों के निकटवर्ती उपत्यकाओं में अल्पसंख्यक द्विज-सेवकों के रूप में उनका निवास सम्भव है परन्तु हिमांचल के पर्वत प्रदेश में—सर्वत्र बहु संख्यक काले रंग के लोगों के निवास की कल्पना तर्कसंगत नहीं है। खस जाति की सदियों तक अत्यन्त अनादृत और शूद्रवत् दयनीय सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं आर्थिक स्थिति स्वयं उनके अल्पसंख्यक, अशक्त एवं पद-दलित होने का प्रमाण है।

इतिहासकारों ने कहीं-कहीं खस-राजाओं का भी उल्लेख किया है, परन्तु खस स्वयं राजा थे, यह अविदित है। श्री बद्रीदत्त '**कुमाऊँ का इतिहास**' (पृ० १८४) में लिखते हैं कि खस जाति यहाँ पर '**महाभारत**' के पूर्व से है क्योंकि '**महाभारत**' में कहा है कि वे दुर्योधन की तरफ थे, पर खस जाति में किसी भी चक्रवर्ती सम्राट् होने के प्रमाण नहीं मिले हैं। वे गढ़ों और यहाँ के किलों में रहने वाले मांडलिक खस राजा थे, यह बात भी अप्रामाणिक है, क्योंकि गढ़ों और किलों में रहने वाले खस राजाओं की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति इतनी अनादृत नहीं हो सकती। '**महाभारत**' (वन पर्व १४०,२७,२९) से विदित होता है कि तंगण और खस स्वयं राजा नहीं थे, वरन् वे कनखल से आगे बदरी-केदार मार्ग में राजा सुबाहु के राज्य के निवासी थे। कत्यूरी राजाओं के अभिलेखों में भी खसों का उल्लेख हुआ है, परन्तु वहाँ भी वे राज्य-कर्मचारियों के रूप में प्रस्तुत किये हैं, राजा के रूप में नहीं। पांडवों के यज्ञों में भी 'द्रोण-कंडी' ले जाने वाले तंगण भी राजा नहीं थे, वरन् स्थानीय सामन्तों के खस-सेवक थे। गत कुछ वर्षों पूर्व तक गढ़वाल में द्रोण-कंडी ले जाने के लिए प्रायः खस सेवकों का ही प्रयोग जारी रहा है।

डा० डबराल (**उत्तराखंड का इतिहास**, पृ० ११५ **में**) लिखते हैं: "काँगड़ा, कुल्लू, सुराज, मंडी, सुकेत, चम्बा हिमांचल प्रदेश में बसे कनेत-कुनेत जो प्राचीन कुलिन्द-कुणिन्द जाति के वंशज हैं, आज खसिया और राव-दो वर्गों में बँटे हैं। हिमांचल और काँगड़ा के खस राजपूत ठाकुर और राठी नामक दो वर्गों में, उन्हीं क्षेत्रों के खस ब्राह्मण शासनी और धड़ेवार वर्गों में, उत्तराखंड के पठार

प्रदेश के खस, राठी और पवीला वर्गों में तथा नैपाल के खस, छेतरी, ठाकुर और पुरोहित (उपाध्याय) आदि वर्गों में बँटे हैं।"

डबराल जी ने भी (शायद विदेशी इतिहासकारों के आधार पर) जहाँ खसियों का एशिया, यूरोप और उत्तरी अफ्रिका से भारत में आने का उल्लेख किया हैं, वहाँ वे भी उन्हें खस ब्राह्मण और खस राजपूत आदि वर्गों में विभाजित मानते हैं तथा हिमांचल प्रदेश में बसे सखियों को वहाँ की प्राचीन जातियों के वंशज भी कहते है। वहाँ द्विजों का प्रतिष्ठित अस्तित्व सुरचित होते हुए उन प्राचीन जातियों के वंशज खसियों में क्यों परिणत हुए इसका उन्होंने उल्लेख नहीं किया। एशिया,यूरोप और अफ्रीका में अपने मूल स्थान में जिन खसियों का कोई जाति, वर्ग एवं नाम-निशान शेष नहीं रहा, वे भारतवर्ष के इतने अन्य प्रान्तों को पार कर, हिमालय के इन विशिष्ट पर्वतीय क्षेत्रों में हिन्दुओं की वर्णव्यवस्थानुसार खस ब्राह्मण और खस राजपूतों एवं राठी खस एवं पवीला वर्ग के रूप में सुरचित रह सके हैं, यह बात युक्तियुक्त नहीं।

गढ़वाल और कुमाऊँ की जनगणना में खस ब्राह्मण और खस राजपूतों का अलग-अलग उल्लेख हुआ है। खस ब्राह्मण और खस राजपूतों की समाज में अलग-से पहचाने-जाने के लिए स्थानीय लोक परम्परानुसार विशिष्ट चिह्न धारण करना निश्चित था (खस कु० पद्धति, पृ० ४७)। खस राजपूत यज्ञोपवीत धारण करते थे और खस ब्राह्मण पीतल की कंठी धारण करते थे। डा० एल० डी० जोशी और अटकिन्सन के कथनानुसार यद्यपि खस ब्राह्मणों का ब्राह्मणों के साथ उल्लेख हुआ है तो भी कुमाऊँ की कुल जनसंख्या में उनके मतानुसार नब्बे प्रतिशत खस ब्राह्मणों का अस्तित्व प्रमाणित है। जिनमें से अधिकांश खेती करते हैं और स्वयं हल चलाते हैं। डा० एल० डी० जोशी ने शूद्र वर्ग के अतिरिक्त जो लोग स्वयं हल चलाते हैं, उन सबको निस्संकोच खसिया घोषित किया है (**खस कुटुम्ब पद्धति, पृ० ५०**)। इससे यह भी प्रमाणित है कि खसों को, वे खस ब्राह्मण हों अथवा खस राजपूत, उन्हें पारिवारिक सेवकों के रूप में द्विजों की सेवा करके अपना भरण-पोषण करना पड़ता था, जो समाज से वहिष्कृत व्यक्तियों के लिए तत्कालीन राजनियमानुसार अनिवार्य था।

यदि खस जाति मध्य एशिया, पश्चिमोत्तर प्रदेशों, यूरोप अथवा अफ्रीका से आई हुई कोई शक्तिशाली जाति होती तो वह आर्य, एवं अन्य आक्रामक तुर्क-मुगलों की भाँति, कई देशों-प्रान्तों को सीधे लाँघ कर केवल गढ़वाल और कुमाऊँ में ही सुरचित नहीं रहती, वरन् अपने यात्रा मार्ग में, भारतवर्ष और भारतवर्ष से बाहर सर्वत्र अपनी समृद्धिशाली जाति के महत्वपूर्ण अवशेष सुरक्षित रखती

हुई, फैल गयी होती। केवल खस शब्द से कुछ मिलते हुए नामों से, किसी देश में उनका मूल ऐतिहासिक स्थान घोषित कर देना पर्याप्त नहीं है।

जो इतिहासकार कुमाऊँ में खसों को हिन्दुओं से बिल्कुल अलग एक विशिष्ट जाति मानते हैं और उसे 'सुन पाई, बेच खाई' के आधार पर बाहर से यहाँ आई हुई प्रमाणित करते हैं, उन्होंने उस खस जाति के मूल स्थान में हिन्दुओं के वर्ण-व्यवस्थानुसार ब्राह्मण और क्षत्रियों का अस्तित्व होने का प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है। अफ्रीका, यूरोप आदि विदेशों में तथा मध्य एशिया की खस जाति में भी क्या हिन्दुओं की तरह वर्णव्यवस्था प्रचलित थी? वे केवल स्वयं हल चलाने एवं खेती करने के कारण यहाँ की सारी जातियों को निस्संकोच खसिया घोषित कर सकते हैं? परन्तु जब बाहर से आने वाली खस जाति एक ही जाति थी, उसमें स्वयं हल चलाने न चलाने के सम्बन्ध में कोई सामाजिक प्रतिबंध नहीं था, तो उस जाति का खस ब्राह्मणों और खस राजपूतों में विभाजित होने का क्या कारण था? इन इतिहासकारों ने इस सम्बन्ध में अपना कोई स्पष्टीकरण प्रस्तुत नहीं किया।

आर्य वर्णव्यवस्थानुसार पृथक्-पृथक् चार वर्णों में विभाजित थे। इतिहासकारों ने खस जाति में—खस ब्राह्मण और खस राजपूतों का अस्तित्व स्वीकार किया है परन्तु खस वैश्य और खस शूद्रों का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है कि यहाँ खस नामक मूलतः कोई जाति नहीं थी केवल ब्राह्मण-राजपूतों को ही द्विज (वैदिक शब्द बिट्ट) कहते थे। तीसरा वर्ण वैश्य यहाँ नहीं था। डा० जोशी भी इस बात को स्वीकार करते हैं (पृ० १०,११) बिट्टों के अतिरिक्त शेष सब शूद्र थे। ब्राह्मण जाति में जो व्यक्ति वहिष्कृत हुआ वह खस ब्राह्मण और राजपूतों में जो संस्कारच्युत हुआ वह खस राजपूत कहलाया।

समाज से वहिष्कृत खस घोषित होने पर भी वर्ण-व्यवस्थानुसार समाज में उनका 'वर्ण' सुरक्षित रहा है। बहिष्कृत खस व्यक्ति के वर्ण की पहचान के लिए खस ब्राह्मण के गले में पीतल की कंठी होती थी (**खस फेमिली लॉ**, पृ० ४७), और खस राजपूत जनेऊ-विहीन रहकर, वल्कल वस्त्र धारण करता था। शूद्र तो समाज का सबसे निम्नस्तरीय वर्ण था, उनके संस्कारच्युत होकर समाज से वहिष्कृत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। शूद्रों को भी अपने से ऊँचे वर्णों की सेवा करनी अनिवार्य थी। इसके लिए समाज में उनकी 'वृत्तियाँ' सुरक्षित थीं। अलग-अलग शिल्पकारों को व्यवस्थित आर्थिक जीवन व्यतीत करने के लिए अलग-अलग शिल्पकलाएँ निश्चित थीं। वे भी समाज के सेवक थे परन्तु खसों की भाँति बिट्टों के पारिवारिक जीवन में—रोटी-पानी लाने-ले जाने का उन्हें अधिकार नहीं था। इसके लिए उनके पारिवारिक उत्सवों में केवल खस सेवकों

का ही प्रयोग होता था। मनु (१०।४६) अपने वर्ण से बहिष्कृत होने पर भी, उसकी समाज में पुरानी जाति का नाम सुरक्षित रहा है। कुछ जातियों के नाम—उनके पेशे के आधार पर प्रसिद्ध हुए, परन्तु कुछ राजपूत जातियों में भी ब्राह्मण जातियों के नाम (बड़थ्वाल, थपलियाल, पसवोला, पोखरियाल आदि) मिलते हैं। मालूम होता है कि अपने अमर्यादित आचरणों के कारण जो खस ब्राह्मण दूसरी बार समाज द्वारा बहिष्कृत हुए वे राजपूतों में सम्मिलित किये गये और ब्राह्मणवर्ण के समय उनकी जो जाति प्रचलित थी, वह पूर्ववत् जारी रही।

खस ब्राह्मण और खस राजपूतों की नामावली एवं सांस्कृतिक परम्परा में भी अन्तर है। खस ब्राह्मण दान-दक्षिणा लेते हैं एवं थोड़ा-बहुत संस्कृत मंत्रों से भी परिचित होते हैं। उनके नाम भी ब्राह्मणों के नामों की भाँति हैं। वे खेती कर स्वयं हल चला कर द्विजों के पारिवारिक सेवकों के रूप में अपना भरण-पोषण करते रहे हैं। अटकिंसन ने कुमाऊँ में ऐसे २५० वर्गों का उल्लेख किया है (जोशी, पृ० ८)। राजनियमों में ब्राह्मणों के लिए अन्य वर्णों से अधिक कठोर प्रतिबन्ध स्थापित थे। उन्हें धर्म गुरु होने के नाते अपने धर्म की रक्षा के लिए समाज में विशेष सावधान रहना अनिवार्य था। सीढ़ियों में ऊँचाई पर चढ़ना सबके लिए कष्टप्रद होता है, परन्तु सीढ़ियों से नीचे उतरना स्वभावतः सरल है। अतः जरा-जरा से अपराधों पर दंडित होने के कारण समाज से बहिष्कृत होने वालों में ब्राह्मणों की संख्या अधिक रही है। जोशी जी के कथनानुसार कुमाऊँ में ९० प्रतिशत खस ब्राह्मण हैं (जोशी, पृष्ठ ८)।

खस राजपूतों की सांस्कृतिक परम्परा क्षत्रियों से मिलती-जुलती रही है। उनके नामों, जातीय त्योहारों, उत्सवों में भी अधिकांश क्षत्रिय परम्परा सुरक्षित है। इससे भी प्रमाणित होता है कि यह दोनों मूलतः उस जाति के वर्ग हैं, जिसमें वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी। जिसके कारण वे ब्राह्मण, क्षत्रियों के पृथक्-पृथक् वर्णों द्वारा सम्बोधित होते रहे हैं और यह स्पष्ट है कि अन्य देशों से आने वाली खस जाति में भारतवर्ष में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था की कल्पना असंगत है।

हम इससे पूर्व समाज से बहिष्कृत व्यक्तियों को धर्मशास्त्रों द्वारा 'खस' घोषित करने का उल्लेख कर चुके हैं। खस घोषित एवं समाज से बहिष्कृत होने के पश्चात् शास्त्रकारों द्वारा उनकी तमाम गतिविधियों पर जो कठोर सामाजिक नियंत्रण स्थापित था उसका उल्लेख भी यहाँ पर अप्रासंगिक नहीं होगा। वे कहाँ निवास करें, कैसे वस्त्र पहनें, किस प्रकार जीवन-यापन करें—इन सब बातों पर कई शास्त्रीय प्रतिबन्ध निश्चित थे। धर्म-व्यवस्थापक मनु 'मनुस्मृति'

(१०।५०) में कहता है 'द्विजों से उत्पन्न ये संस्कारच्युत बहिष्कृत जातियाँ गाँव या नगर के समीप, किसी प्रसिद्ध वृत्त के नीचे अथवा श्मशान या किसी पर्वत अथवा उपवन के पास अपने कर्मों के द्वारा जीविका कमाते हुए निवास करें।'

ब्रह्मघाती बारह वर्ष तक बन में कुटी बना कर रहें (मनु० २०।११) और हाथ में नरमुंड लेकर भीख माँग कर जीवन यापन करें (मनु० १०।७२); अथवा सिर के बाल मुंड़ा कर गाँव के बाहर गौशाला में, कुटी में या पेड़ के नीचे पर्याप्त समय तक प्रायश्चित-स्वरूप घर से दूर निर्जन बनों में फटे-पुराने वस्त्र पहनकर, गधे का चमड़ा पहन कर (११।१२२), भिचाटन करके (११२-१२३), गौशाला में निवास करना चाहिए (११।१९४)। जटा धारण कर गाँवों से दूर किसी पेड़ के नीचे निवास कर (११।१२५), मौंजी, मेखला और दंड धारण करें, धरती पर सोयें अथवा कुटी के पास इधर-उधर घूमे (११।१२४)। द्विज जातियों द्वारा अपने वर्ण से भिन्न स्त्रियों से उत्पन्न सन्तति को निन्दित कर्मों द्विजों की सेवा-टहल कर जीवन-निर्वाह करने का आदेश है (मनु०, १०।४६)

अपने समीप निम्नवर्ण की स्त्री में द्विजातियों से उत्पन्न पुत्र माता की जाति से उत्तम और पिता की जाति से निकृष्ट होगा (१०।६)। द्विजाति सवर्ण स्त्रियों में जिन पुत्रों को उत्पन्न करते हैं, यदि उनका यज्ञोपवीत न हो तो वे व्रात्य कहलाते हैं (१०।२०)। द्विजातियों के अनुलोमज तथा प्रतिलोमज क्रम से उत्पन्न पुत्रों का सामाजिक स्थान भी, शूद्रों से ऊपर खसों के समान हैं। (मनु १०-४१)। शुक्रनीति में लिखा है :

वैश्य और शूद्र में ब्राह्मण और चत्रिय से उत्पन्न सन्तान शूद्रवत् होती है तथा अधम पुरुष से उत्तम वर्ण की स्त्री से उत्पन्न सन्तान शूद्र से भी अधिक अधम मानी गयी है। ये लोग शूद्रों की भाँति मंत्रों से ही अपने कर्म करें। शंकर सन्तान उत्पन्न करने वाले चारों वर्ण यवन-सन्तान के समान माने गये हैं। ये पश्चिम-उत्तर के कोने में रहते थे।

इस प्रकार उत्तराखंड में, देवासुर-संग्रामों में पराजित असुर-नागों, एवं संस्कारच्युत ब्राह्मण-चत्रियों, तथा उनके द्वारा उत्पन्न अनुलोमज-प्रतिलोमज सन्तति के मिश्रण से खस-समुदाय की उत्पत्ति हुई। उन पर द्विज-सामन्तों द्वारा प्रायश्चित स्वरूप जो प्रतिबन्ध स्थापित थे, उनके अनुसार द्विज जातियों के बीच उनका निवास वर्जित था। वे द्विज परिवारों से पृथक् गाँवों से दूर द्विज-सामन्तों द्वारा निश्चित चेत्र विशेष में रह कर द्विजजाति की सेवा-टहल कर, पेड़-पौधों की छाल के वस्त्रों (बल्कल-भँगेले) से शरीर ढँक कर प्रायश्चित करते थे। जब जोशीमठ और चान्दपुर गढ़ उत्तराखंड के द्विज-सामन्तों के मुख्यालय थे, उस युग में आर्य परिवारों से वहिष्कृत यह खस-समुदाय मूलतः गढ़वाल के एक विशिष्ट

क्षेत्र में—जिसको 'राठ' कहते हैं, निवास करता था। वे भाँग की छाल का बल्कल (भँगेला) वस्त्र धारण करते थे। ताकि दूर से पहचाने जा सकें कि ये बहिष्कृत खस-समुदाय के लोग हैं। भीतर से भले ही कोई कभी रुई का वस्त्र धारण करते रहे हों परन्तु बाहर से वे भँगेला ही पहने होते थे और रात को भी उसी को ओढ़ कर तथा बिछा कर कालयापन करते थे। द्विजों से बहिष्कृत हुए शूद्रवत् समझे जाकर भी वे, शूद्र नहीं थे। स्मृतिकारों ने द्विज-जातियों से बहिष्कृत व्यक्तियों तथा उनसे अनुलोमज-प्रतिलोमज सन्तति का स्थान शूद्रों से ऊँचा रखा है (मनु० १०।६, १३)। इसलिए आज से कुछ वर्ष पूर्व तक द्विज-जातियों के व्याह-उत्सवों में रोटी-पानी द्रोण-कंडी लाने-ले-जाने तथा अन्य सेवा-टहल करने के लिए वे 'राठ' क्षेत्र से बुलाये जाते थे। द्विजों के परिवारिक सेवकों के रूप में उनका निस्संकोच प्रयोग प्रचलित था।

'राठ' में खस-जाति के अतिरिक्त कहीं-कहीं कालान्तर में कुछ प्रतिष्ठित द्विज परिवार भी बस गये हैं, परन्तु उन्होंने अपनी सांस्कृतिक प्रतिष्ठा को खसों की संस्कृति से प्रायः पृथक् रखा है। उनके आचार-विचार, विवाह-उत्सव, खसों के आचार-विचारों से भिन्न रहे हैं। वे भँगेला नहीं, वरन् रुई के वस्त्र धारण करते थे तथा अपने पड़ोसी खस-समुदाय की भाँति किसी के व्याह-उत्सव में सेवा-टहल करना, द्रोण-कंडी ले जाना तथा डंडी-डोले उठाना अनुचित समझते थे। इतना ही नहीं, उनके अपने उत्सवों में भी उक्त खसिये ही उनकी भी सेवा-टहल करने, द्रोण-कंडी एवं डंडी-डोले ले जाने का काम करते थे। इन तथ्यों के आधार पर हमारा यह अनुमान भी असंगत नहीं है कि खसियों द्वारा अनिवार्यतः बल्कल वस्त्र धारण करने एवं द्विजों की सेवा-टहल करने की परम्परा का वास्तविक उद्देश्य उनके संस्कारच्युत होने का प्रायश्चित करना ही रहा होगा। जिसके मूल उद्देश्य को वे आज बिल्कुल विस्मृत कर चुके हैं। **'मनुस्मृति'** के अ० १० के कई श्लोकों में इन प्रायश्चितों का स्पष्टतः विधान है।

स्मृति-ग्रन्थों के रचनाकाल से आज तक खस जाति की सामाजिक स्थिति अपरिवर्तित रही है, वह घोषणा युक्तिसंगत नहीं। संसार की किसी भी जाति की मौलिकता ठीक उसी मूल रूप में सुरक्षित नहीं है। खस जाति का उत्थान-पतन भी स्वाभाविक है। हम पहले ही कह चुके हैं कि उन्नति की सीढ़ियों पर ऊपर की ओर चढ़ना स्वभावतः कष्टप्रद होता है; परन्तु उतरना सरल। सीढ़ियों पर चढ़ने के लिए परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु नीचे गिरने के लिए किसी को कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता है। आज खसों के आचार-विचारों की शुद्धता एवं उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होने के पश्चात् उनके पुनः ब्राह्मण-राजपूत जातियों में सम्मिलित होने के दृष्टान्त भी मिलते हैं। आज से पूर्व भी

ऐसे कई खस परिवार यहाँ के द्विज परिवारों में विलीन होते रहे होंगे। इस प्रकार आज वे समस्त खस परिवार द्विज जातियों की आचार-संहिता के अन्तर्गत आ जाते हैं। दूसरी ओर यहाँ की इन्हीं दो द्विज जातियों में जबकि उनके पास यह कठोर सामन्ती शक्ति शेष नहीं रह गयी है, इस वहिष्कार का क्रम थोड़ा-बहुत जारी हैं। यहाँ की प्रतिष्ठित जातियाँ असल-कम के साथ विवाह-सम्बन्ध करने तथा अन्य कुल मर्यादाओं के उल्लंघन करने पर आज भी बहिष्कारवृत्ति का प्रयोग करने से बाज नहीं आतीं। स्वराज्य के बाद भारतीय संविधान ने प्रत्येक नागरिक को—चैतू और बैशाखू को—समान अधिकार दे कर, कौन जाति छोटी है और कौन बड़ी, सदियों के इस विवाद को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया है। आज किसी भी व्यक्ति को, वह समाज में कितना भी प्रतिष्ठित क्यों न हो, किसी व्यक्ति के सामाजिक बहिष्कार करने की स्वतंत्रता नहीं रह गयी है। इस प्रकार भारत की अन्य अनेक पददलित जातियों के साथ आर्य-परिवारों से बहिष्कृत यहाँ की खस जाति भी अपने पूर्व-प्रतिष्ठित पद पर, अपने सजातीय द्विजों के साथ समान स्तर पर आ खड़ी है। भारतीय संविधान ने सदियों के बिछुड़े हुए अपने समस्त बहिष्कृत आर्य बन्धुओं को आज पुनः एक कर दिया है। इस प्रकार इतिहासकारों ने अब तक इस देश के अधिकांश निवासियों को, उनके आचार-विचार, रीति-रस्मों के आधार पर प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रों से प्रभावित, आर्यावर्त्त के वर्तमान आर्य-समुदाय से पूर्व की एक अत्यन्त प्राचीन जाति स्वीकार किया है। मैं इस सम्बन्ध में उनकी घोषणा से शत-प्रतिशत सहमत हूँ। यहाँ के अधिकांश निवासी प्राचीन आर्यों की आदि शाखा के वंशज हैं।

●●